उपहार

श्री जिनवाणीभक्त श्रीमंत सेठ कुन्दनलाल हजारीलाल जी
हैदरगढ़ (बासौदा) वालों की ओर से

धर्मदिवाकर पूज्य ब्र० श्री गुलाबचन्द जी महाराज व
त्यागमूर्ति श्री विमलादेवी जी द्वारा
सत्संग योजना के हर्षोपलक्ष में की गई
तिलक-प्रतिष्ठा के समय

❋ भेंट ❋

श्रीमान ....

.... वालों को।

वैशाख वदी ३ सं० २०१५  दिनाङ्क ६-४-५८ ई०





तारणसमाज भूषण, धर्मदिवाकर १०३ श्री पूज्य

ब्रह्मचारी श्री गुलाबचन्द जी महाराज

(इस ग्रन्थ के संकलनकर्ता एवं सम्पादक)

मेरे दो शब्द

यह तारण वाणी जिसमें संत श्री तारण स्वामी रचित चौदह ग्रंथों के कुछ वह अंश जोकि तारण स्वामी के आध्यात्मिक विचारों को स्फुट करते हैं व उसके समर्थन करने वाले कुन्दकुन्दादि आचार्यों के प्रमाणों का संकलन किया गया है। यह संकलन उस समय किया गया था जब कि मैंने तपोभूमि १००८ श्री निश्रेया-सेमरखेड़ी जी क्षेत्र पर वि० सं० २०१२ में चार माह का मौन पूर्वक एकांतवास किया था।

उस समय विचार आया कि कुछ ऐसे प्रमाण समाज के हाथों में पहुँचा दूँ जिनके द्वारा तारण समाज को यह बल मिले कि हमें जिस तारणपंथ धर्म के पथ पर श्री गुरुमहाराज ने लगाया है वह कितना परिमार्जित जैनधर्म का वास्तविक रूप है और आगम प्रमाण, अनुमान प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से अबाधित है। और जिस पर चल कर केवल एक तारण समाज ही नहीं, मानव मात्र अपने कल्याण-पथ का पथिक बन सकता है।

पाठक महानुभावों से मेरा अनुरोध है कि इसे निष्पक्ष भाव से हंसवृत्ति द्वारा अध्ययन करें और जहां कहीं जो त्रुटि रह गई हो उसे लक्ष्य में न लें।

—ब्र० गुलाबचन्द्र।

भूमिका

जिसने अपने जीवनकाल में उस तत्व को पहिचाना जिसे परमतत्व कहा गया है, उसका गंभीर चिंतन और मनन किया और दूसरों को उस का दिग्दर्शन कराया ऐसे परम गुरुवर्य्य श्रीमत् तारण स्वामी जी ने अपने अनुभवों को जनता के सामने रखा, जब कि परम कल्याणकारी 'आत्म धर्म' आडम्बरपूर्ण क्रियाकांडों से आच्छादित हो चुका था, सत्य का आभास मिलना भी कठिन हो रहा था, ऐसे समय में अनेकानेक विरोधों का सामना करते हुये प्राणों की बाजी लगाकर भी 'सत्य' को ही सत्य कहने का साहस स्वामीजी ने किया, धर्म का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रखा, निःस्सार क्रिया-काण्डों व धर्म के नामपर जड़वाद को प्रोत्साहन देनेवाली धार्मिक मान्यताओं का निर्भीक विरोध किया व उनके विपरीत आन्दोलन भी। फलतः अनेकों कष्ट और कठिनाइयां उन्हें उठानी पड़ीं, पर वह अपने अभीष्ट की ओर अबाध गति से चलते ही रहे। लोगों ने उनकी बात को सुना समझा, सत्य पाया और एक विशाल जनसमुदाय उनका अनुयायी हुआ।

प्रस्तुत 'तारण वाणी' ग्रन्थ में उन ही गुरुमहाराज की वाणी का संकलन है, जिसका संपादन धर्मदिवाकर तारण समाज भूषण, पूज्य श्री ब्रह्मचारी गुलाबचन्द जी महाराज ने परमपूज्य गुरुवर्य्य श्री तारण स्वामी जी की तपोभूमि पुण्यक्षेत्र श्री सेमरखेड़ी व समाधिस्थल तीर्थक्षेत्र श्री निसईजी में वि० सं० २०१२ में एकान्तवास व मौन व्रत साधन करते हुये किया था और उनके इस तपोत्कर्ष के अवसर पर इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार जिनवाणी भक्त श्रीमत सेठ कुन्दनलाल जी हैदरगढ़ वालों की धर्मपत्नी सौ० सेठानी श्रीमती शक्करबाई ने लिया था। अत्यंत हर्ष है कि उनका वह शुभ संकल्प शीघ्र ही पूरा हो रहा है और यह ग्रंथ प्रकाशित होकर पाठकों को 'तारण वाणी' का रसास्वादन करा सकेगा।

पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी ने श्रीमद् परमपूज्य श्री तारणस्वामी कृत ग्रन्थों के संकलन ग्रन्थ श्री "अध्यात्मवाणी" का सार और स्वामी जी के आध्यात्मिक सिद्धांतों की प्रमाणिकता को पुष्ट करनेवाले महान आध्यात्मिक श्री कुन्दकुन्द आचार्य, योगीन्द्र, देव उमास्वामि प्रभृति आचार्यों के वचनामृतों का यथास्थान संग्रह करके ग्रन्थ को अत्यंत उपयोगी और महत्वपूर्ण बना दिया है।

तारण समाज जिसकी धार्मिक मान्यता में मूर्ति-पूजा को स्थान नहीं है और जो केवल अध्यात्म धर्म का उपासक है उस के अतिरिक्त अन्यान्य अध्यात्मधारा का रसास्वादन करा सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

बांदा-२४-११-१९५७ ई०

विमलादेवी
साहित्यरत्न, शास्त्री।



जिनवाणीभक्त श्रीमन्त मंठ कुन्दनलाल जी

[जिन्होंने सपत्नीक आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा ली है]

जिनवाणीभक्त, श्रीमन्त सेठ साहब का

संक्षिप्त जीवन-परिचय

मानोरा जिला विदिशा निवासी श्री उत्तमचन्द जी, तस्य पुत्र श्री सेठ जमनादास जी, तिनके पुत्र श्री लखमीचन्द जी के दो पुत्र श्री कुन्दनलाल जी और हजारीलाल जी। श्री कुन्दनलाल जी की धर्मपत्नी श्री शक्करबाई व श्री हजारीलाल जी की धर्मपत्नी श्री इन्द्राणीबाई। इस तरह इन चार और केवल चार ही आत्माओं का परिवार जिसने अपनी यशपूर्ण प्रतिष्ठा, धार्मिक प्रणाली, धार्मिक प्रभावनाओं और तारण साहित्य तथा दान-सम्मान द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि उनका पूरा जीवन और पूरे जीवन की सब कमाई धर्मकार्यों में ही लगी, लग रही है और लगाने का ही एक मात्र संकल्प है; भावनायें हैं और उनकी अपनी स्वाभाविक वृत्ति है।

आप दोनों भाइयों और आपकी धर्मपत्नियों की एक नहीं अनेक ऐसी घटनायें हैं जो स्पष्ट कर चुकी हैं कि ये चारों ही आत्मायें साक्षात् पुण्यस्वरूप हैं और पुण्य-गति पाने की अधिकारिणी हैं।

१—आपने अपने जीवनकाल में ५ तिलक प्रतिष्ठायें कराईं। (१) मानौरा में, (३) १००८ श्री सेमरखेड़ी जी क्षेत्र पर (१) १००८ श्री निसई जी क्षेत्र में, जिसमें धर्मदिवाकर तारण समाजभूषण १०३ श्री पूज्य ब्रह्मचारी श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज ने 'गृह त्याग ब्रह्मचर्य दीक्षा' ग्रहण की थी।

२—श्री सेमरखेड़ी जी क्षेत्र में-हजारी निवास व कुन्दन धर्मशाला का, तथा श्री सूखा निसई जी क्षेत्र में-श्री तारण द्वार और श्री निसई जी क्षेत्र में कुन्दन कुटीर का निर्माण कराया व दीक्षा स्थान पर पक्का चबूतरा बनवाया। कुन्दन कुटीर के उद्घाटन में लगभग पांच हजार रु० खर्च किये व संस्था को दान दिया।

३—श्री तारण तरण अध्यात्मवाणी जी और इस तारणवाणी ग्रंथ का प्रकाशन आपने कराया, जिन दोनों में लगभग पांच हजार रु० खर्च हुआ सो तो ठीक ही है, किन्तु यह दोनों ही प्रकाशन तारण पंथ धर्म की स्थाई प्रभावना वाले रहेंगे यह एक बहुत बड़ी बात हुई।

४—इस तरह उपरोक्त कार्यों के साथ ही साथ समय समय पर बड़ी बड़ी पात्रभावनाएं अनेक प्रसंगों पर की, अनेक संस्थाओं को यथावसर अच्छा दान दिया और अब निकट भविष्य में केवल

दो माह पीछे ही एक महीना की वह आदर्श सत्संग योजना की और उसके हर्षोपलक्ष में वर्तमान निवास स्थान हैदरगढ़ बासौदा जिला विदिशा में स्थानीय तिलक प्रतिष्ठा कराने की तैयारी कर रहे हैं, जिसमें लगभग १००००) रु० खर्च होंगे तथा साथ ही साथ श्री कुन्दनलाल जी और आपकी धर्मपत्नी श्री शक्करबाई जी ब्रह्मचर्य व्रत लेकर एक प्रकार से वानप्रस्थ आश्रम जिसे जैन शास्त्रों में उदासीन श्रावक कहा जाता है उस तरह की प्रतिज्ञा ग्रहण करेंगे, जबकि श्री हजारीलाल जी और आपकी धर्मपत्नी श्री इन्द्राणीबाई आज से ३ वर्ष पूर्व दोनों प्राणी एक ही साथ स्वर्गवासी होकर सती जैसा प्रभाव या चमत्कार दिखाकर एक अनुपम आदर्श छोड़ गये हैं, कि जिनकी रसोई के मिष्ठान्न ने अक्षय रिद्धि का रूप ले लिया था।

इस प्रकार आपके जीवन से सम्बन्धित एक नहीं अनेक घटनाएं उल्लेखनीय हैं और अनुकरणीय हैं, जिन्हें सुनकर मनुष्य के भीतर यह श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती कि— धर्म की कमाई धर्म में ही लगती है। पाप में अथवा व्यर्थ में नहीं जाती तथा यदि पल्ले में पुण्य का उदय है तो सर्प का दंश केवल डांस के डंक सदृश ही रह जाता है और धर्मकार्य में कितना भी खर्च करते चले जाओ फिर भी वह लक्ष्मी कमती नहीं प्रत्युत अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है।

इस तरह राम-लक्ष्मण जैसी जोड़ी आप दोनों भाइयों की जीवनी यदि पूरी कथानक के साथ लिखी जाये तो एक पुस्तिका का रूप ले लेगी, उसका लिखा जाना हमें और हमारी भावी सन्तान को शिक्षाप्रद होगा ऐसी मेरी निष्पक्ष धारणा है, जो यदि समय मिला तो उसे संकलन करके समाज के सम्मुख प्रस्तुत करूँगा। इति शुभम्।

गुणानुरागी—

ताराचन्द समैया, ललितपुर।

तारणवाणी—

सम्यक् विचार

प्रथम धारा (पण्डित पूजा)



सम्यक् विचार



प्रथम धारा (पण्डित पूजा)

ओम्

ओंकारस्य ऊर्ध्वस्य, ऊर्ध्व सद्भाव शाश्वतं ।
विन्दस्थानेन निष्टंते, ज्ञानेन शाश्वतं ध्रुवं ॥१॥

ओम् रहा है और रहेगा, सतत उच्च सद्भावागार ।
परमब्रह्म, आनन्द ओम् है, ओम् अमूर्त शून्य—आकार ॥
ओम् पंच परमेष्ठी मंडित, ओम् ऊर्ध्व गति का धारी ।
केवल-ज्ञान-निकुंज ओम् है, ओम् अमर ध्रुव अधिकारी ॥

ओम् सनातनकाल से ऊर्ध्वगति का धारी रहा है, और रहेगा। ऊर्ध्व स्वामी तो यह है ही, किन्तु साथ ही साथ सद्भावों का धारी और शाश्वत भी है ।

इसमें शून्य को एक प्रमुख स्थान दिया गया है, और शून्य में इसका निवास भी है, जिसका तात्पर्य यह है कि यह मुक्त है, स्वाधीन है ।

इसका वास व्यवहार दृष्टि से तो मोक्ष-स्थान में कहा जाता है जहाँ पहुँचने पर इसकी संसार-यात्रा समाप्त हो जाती है और फिर वहाँ से लौटकर नहीं आता, किन्तु वस्तुस्वरूप अथवा निश्चय दृष्टि से उसका अपना निवास तो अपने आपमें ही रहता है। भले ही वह आज हमारे इस शरीर में है और कल (अगले जन्म में) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता पाकर मोक्ष-धाम में जा विराजे।

यही तो वह सिद्धांत है कि—"आत्मपरमात्मतुल्यं च विकल्प चित्त न क्रीयते" तथा ज्ञानों में सबसे श्रेष्ठ जो केवलज्ञान है उस ज्ञान से यह ओम् पद मंडित है और ध्रुव तारा के समान चमक कर संसार को अनादिकाल से सन्मार्ग बता रहा है और बताता भी रहेगा। हाँ, उसके बताए हुये मार्ग पर चलना न चलना हमारी इच्छा पर निर्भर है। चलेंगे तो संसार पार हो जायेंगे अन्यथा अनादिकाल से संसार में भटक रहे हैं और अनन्तकाल तक भटकते रहेंगे।

सम्यक् विचार

"महावीर की विचारधारा व्यक्तिमूलक थी। भारतीय संस्कृति में भी विचारों की एकता की अपेक्षा उनके समन्वय का अधिक महत्व रहा है, विचारों के समन्वय को ही स्याद्वाद कहते हैं। सत्य को समग्ररूप से जानने के लिए जब हम उसे कई दृष्टियों से देखते हैं तो ज्ञान में नम्रता आती है और मन से दूसरे के विचारों के प्रति आस्था जगती है। संक्षेप में उनके कथन के अनुसार समाज-रचना का आधारभूत तत्त्व योग्यता है, जन्म नहीं; व्यक्ति का आदर्श अकिंचनता है, संचय नहीं; और लोकसेवा की कसौटी विचारों का समन्वय है, एकता नहीं।"

"भारतीय संस्कृति उस महानदी के समान है जिसमें नाना विचार-प्रवाह मिलते हैं और जिससे निकलते भी हैं, पर जो लोक में हमेशा बहती रहती है, उसके तट पर कई तीर्थ बने और मिटे। तीर्थङ्कर महावीर ने भी लगभग ढाई हजार वर्ष पहले एक सर्वोदय तीर्थ की रचना की थी, भले ही वह आज समय के प्रवाह में बिखरी प्रतीत हो, पर उसके निर्माण की कला अमिट है, और कोई चाहे तो नये तीर्थ के निर्माण में उसका उपयोग कर सकता है। उनकी यह कला थी कि लोक की उपासना के लिए लोक की वासना छोड़ दो, साधना द्वारा अपने आपको इतना तरल बनाओ कि लोक में घुलमिल सको, युग की आस्तिकता के अनुसार समन्वय-दृष्टि में ऐसे आदर्श चुनो और उन्हें जीवन में ढालो कि तुम्हारा जीवन भावी समाज की जीवनपद्धति का आधार बन जाए।

निश्चयनय जानंते, शुद्ध तत्व विधीयते ।
समात्मा गुणं शुद्धं, नमस्कारं शाश्वतं ध्रुवं ॥२॥

जिन्हें वस्तु के सत् चित् ज्ञायक, या निश्चयनय का है ज्ञान ।
वही अनुभवी पारखि करते, निज स्वरूप की सत् पहिचान ॥
अन्तस्तल-आसीन आत्मा, ही है अपना देव ललाम ।
आत्मद्रव्य का अनुभव करना, ही है सच्चा अचल प्रणाम ॥

जो पुरुष निश्चय नय और केवल निश्चय नय को ही वस्तु को परखने की कसौटी मानते हैं, केवल वही इस संसार में सत् और असत् की वास्तविक परीक्षा कर सकते हैं, और केवल वही शुद्धात्मा के गुणों को परख सकने में समर्थ हो पाते हैं। उन जैसे समर्थवान पुरुषों को ही सम्यग्दृष्टि पुरुष कहा जाता है ।

अपने अंतस्तल में जो आत्मदेव विराजमान है वही निश्चयनय से वह देव है जिसे जिनवाणी हितोपदेशी, वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षप्रदायक के नाम से संबोधन करती है। ऐसे शुद्धात्मा रूपी जगत-प्रभू को मैं ध्रुव एवं शाश्वत मानकर दृढ़ निश्चयपूर्वक (अचल भाव से) नमस्कार करता हूँ।



ॐ नमः विंदते योगी, सिद्धं भवत् शाश्वतं ।
पंडितो सोपि जानंते, देवपूजा विधीयते ॥३॥

योगीजन नित ओम् नमः का, शुद्ध ध्यान ही धरते हैं ।
'सोऽहं' पद पर चढ़कर ही वे, प्राप्त सिद्ध-पद करते हैं ॥
'ओम् नमः' जपते जपते जो, निज स्वरूप में रम जाता ।
वही देवपूजा करता है, पंडित वह ही कहलाता ॥

जो वास्तविक योगी-मुनि होते हैं वे नित प्रति "ॐ नमः" का ही पारायण किया करते हैं और इसी मंत्र के पारायण-पोत पर चढ़कर वे भवसागर से पार होकर सिद्ध और शाश्वत पद प्राप्त कर लेते हैं ।

जो 'ओम् नमः' का मनन करते ही निजस्वरूप में लवलीन हो जाता है वही उसकी सच्ची देवपूजा करता है और वही सच्चा पंडित है, ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है।

ह्रींकारं ज्ञान उत्पन्नं, ओंकारं च वंदते ।
अरहं सर्वज्ञ उक्तं च, अचक्षु दर्शन दृष्टते ॥४॥

जगतपूज्य अरहन्त जिनेश्वर, जिसका देते नव उपदेश ।
साम्य दृष्टि सर्वज्ञ सुनाते, जिसका घर घर में सन्देश ॥
जो अचक्षु-दर्शन-चख गोचर, जो चित चमत्कार सम्पन्न ।
ओंकार की शुद्ध वंदना, करती वही ज्ञान उत्पन्न ॥

जिसका अरहंत प्रभु उपदेश देते हैं और जिस सन्देश को वे ही सर्वज्ञ भगवान प्रत्येक प्राणी तक पहुँचाते हैं, उस ओम् महापद की या अपनी शुद्धात्मा की वह वन्दना उसके अपने अन्तरंग में उस विशुद्ध ज्ञान की सृष्टि सृजन कर देती है जो कल्पनातीत होता है। और केवल उसकी अपनी आत्मा ही जिसका रसास्वादन करती है तथा उसके चमत्कार को उसके ज्ञान-नेत्र ही देखते हैं।



मति श्रुतश्च संपूर्णं, ज्ञानं पंचमयं ध्रुवं ।
पंडितो सोपि जानंते, ज्ञानं शास्त्र स पूजते ॥५॥

मति,श्रुत, अवधि, मनःपर्यय से, ज्ञान करें जिसमें कल्लोल ।
पंच ज्ञान केवल भी जिसमें, छोड़ रहा नित ज्योति अलोल ॥
ऐसे आत्म-शास्त्र को ही नित, जो पूजे विवेक-शिरमौर ।
वही सत्य पंडित प्रज्ञाधर, वही ज्ञान-धन का है ठौर ॥

जिसमें मति, श्रुत, अवधि,मन:पर्यय और यहां तक कि केवलज्ञान भी अपने प्रकाश-पुंज बिखरा रहा है, अथवा जो पांचों ज्ञान का एक मात्र निधान है ऐसे आत्मा रूपी शास्त्र की ही जो विज्ञजन पूजा करते हैं, वे ही वास्तव में पंडित हैं और प्रज्ञा उन्हीं में ठौर पाकर अपने जीवन को कृतकृत्य मानती है।

ॐ ह्रीं श्रियंकारं, दर्शनं च ज्ञानं ध्रुवं ।
देवं गुरुं श्रुतं चरणं, धर्मं सद्भावशाश्वतं ॥६॥

ह्रीं श्रीं के रूप मनोहर, करते जिसमें विमल प्रकाश ।
अमर ज्ञान दर्शन का है जो, एक मात्रतम दिव्य निवास ॥
वही परम उत्कृष्ट ओम् ही, है त्रिभुवन मंडल में सार ।
वही देव, गुरु, शास्त्र, आचरण, वही धर्म सद्भावागार ॥

जिसमें 'ॐ ह्रीं श्रीं' इस मंत्र का पूर्णरूपेण निवास है, दर्शन, ज्ञान और आचरण का जो मन्दिर है, वास्तव में ऐसा वह ओम् ही सच्चा देव है, ओम् ही सच्चा गुरु है, ओम् ही सच्चा क्रियायुक्त आचरण है और ऐसा वह ओम् ही तीन लोक को पार करने वाला सच्चा धर्म है जिसका कि घट घट में सद्भाव है ।

वीर्यं अँकूरणं शुद्धं, त्रैलोकं लोकितं ध्रुवं ।
रत्नत्रयं मयं शुद्धं, पंडितो गुण पूजते ॥७॥

केवलज्ञान-मुकुर में जिसको, तीनों लोक दिखाते हैं ।
जिसके स्वाभाविक बल जल का, निधिदल थाह न पाते हैं ॥
रत्नत्रय की सुरसरिता से, शुद्ध हुआ जो द्रव्य महान् ।
उसी आत्म रूपी सद्गुरु की, करते हैं पूजन विद्वान ॥

जिसको अपने केवलज्ञान मुकुर में संसार के सब पदार्थ युगपत दृष्टिगोचर होते हैं; जिसकी शक्ति कल्पना से परे है, अनंत है, असीम है, तथा रत्नत्रय की पवित्र निर्झरिणी जिसके चरण अहर्निश पखारती रहती है; विद्वान् केवल ऐसे आत्मा रूपी सद्गुरु की ही अर्चना करते हैं और ओम् या आत्मा रूपी सद्गुरु को पूजने वाला पंडित ही वास्तविक प्रज्ञाधारी पंडित कहा जाता है-माना जाता है ।

देवं गुरुं श्रुतं वंदे, धर्मशुद्धं च विंदते।
तिअर्थ अर्थलोकं च, स्नानं च शुद्धं जलं ॥८॥

आतम ही है देव निरंजन, आतम ही सद्गुरु भाई।
आतम शास्त्र, धर्म आतम ही, तीर्थ आत्म ही सुखदाई ॥
आत्म-मनन ही है रत्नत्रय-पूरित अवगाहन सुखधाम।
ऐसे देव, शास्त्र, सद्गुरुवर, धर्मतीर्थ को सतत प्रणाम ॥

आत्मा ही सच्चा देव है; आत्मा ही सचा गुरु है; आत्मा ही सच्चा शास्त्र है; आत्मा ही सच्चा धर्म है और आत्मा ही सच्चा तीर्थ है। और यदि वास्तव में पूछा जाय तो रत्नत्रय से पूरित इस आत्मा का मनन ही एक मात्र सच्चा स्नान है।

ऐसे आत्मा रूपी देव, गुरु, शास्त्र, धर्म और तीर्थ को मैं नित्य मन वचन काय से प्रणाम करता हूँ।

चेतना लक्षणो धर्मो, चेतियंति सदा बुधै।
ध्यानस्य जलं शुद्धं, ज्ञानं स्नान पंडितः ॥९॥

चिदानन्द ध्रुव शुद्ध आत्मा, की चेतनता है पहिचान।
बुद्धिमान जन नित्य निरन्तर, धरते हैं उसही का ध्यान ॥
नदी सरोवर में करते हैं, अवगाहन जड़ अज्ञानी।
आत्म-ज्ञान-जल से प्रक्षालन, करते सत्पंडित ज्ञानी ॥

आत्मा का लक्षण चेतना से संयुक्त है और इसी चेतना के नाते, बुद्धि के धनी बुद्धिमान जन उसका अहर्निश मनन करते हैं।

नदी, सरोवर और कुण्डों में तो (धर्मभाव से) केवल स्थूल-बुद्धि के मानव स्नान करते हैं, किन्तु जो प्रज्ञाधारी पंडित होते हैं, वे आत्म-मनन के जलाशय में ही स्नान करके अपने को पूर्ण पवित्र और कृत्यकृत्य मानते हैं।

शुद्धतत्वं च वेदंते, त्रिभुवनम् ज्ञानेश्वरं ।
ज्ञानं मयं जलं शुद्धं, स्नानं ज्ञानं पंडितः ॥१०॥

हस्तमलकवत् जिसको तीनों भुवन चराचर प्राणी हैं ।
उसी ब्रह्म को ध्याते हैं बस, जो बुधजन विज्ञानी हैं ॥
शुद्ध आत्म है स्वच्छ सरोवर, कल कल करता जिसमें ज्ञान ।
इसी ज्ञानरूपी जल में नित, पंडित जन करते (हैं) स्नान ॥

जो अपने असीम ज्ञान से समस्त चराचर प्राणियों के घट घट की और तीनों लोक की समस्त बातों को हाथ में रखे हुये आँवले के समान देखता और जानता है, वही ज्ञान का ईश्वर ओम् या शुद्धात्मा विद्वानों के पूजन का एक मात्र आधार होता है ।

विद्वज्जन लोक की देखादेखी नदी, तालाबों में स्नान करके अपने को धार्मिक या पवित्र नहीं मानते, किन्तु ज्ञानपूर्ण जलाशय एक मात्र शुद्धात्मा में ही स्नान कर उनकी अपनी आत्मा विशुद्धता को प्राप्त होती है, ऐसा उनका अपना विश्वास रहता है ।

सम्यक्तस्य जलं शुद्धं, संपूर्णं सर पूरितं ।
स्नानं पिवत गणधरनं, ज्ञानं सरनंतं ध्रुवं ॥११॥

सम्यग्दर्शन रूपी जिसमें, भरा हुआ है नीर अगम्य ।
ऐसा है वह परम ब्रह्म का, भव्यो ! सरवर अविचल रम्य ॥
महा मुनीश्वर श्री गणधर जी, जिनकी शरण अनेकों ज्ञान ।
इस सर में ही अवगाहन कर, करते इसका ही जलपान ॥

जिनकी शरण में अनेकों ज्ञान ठौर पा रहे थे, वे गणधर प्रभु भी नदी सरोवर के जल से ही अपने को पवित्र हुआ नहीं मानते थे, किन्तु वे भी उसी जलाशय का उपभोग करते थे, जिसमें रत्नत्रय रूपी अगम्य नीर भरा हुआ है और जो मुमुक्षुओं के संसार में 'शुद्धात्मा' के नाम से प्रसिद्ध है तथा जो अपने ही पास है ।

शुद्धात्मा चेतनाभावं, शुद्ध दृष्टि समं ध्रुवं ।
शुद्धभाव स्थिरीभूत्वा, ज्ञानं स्नान पंडितः ॥१२॥

शुद्ध आत्मा है हे भव्यो ! सत् चैतन्य भाव का पुंज ।
सम्यग्दर्शन से आभूषित, मोक्ष प्रदाता, ज्ञान-निकुंज ॥
निश्चल मन से इसी तत्व को, शुद्ध गुणों का करना ध्यान ।
पंडित वृन्दों का बस यह ही, प्रक्षालन है सत्य महान् ॥

शुद्धात्मा, चेतना से संयुक्त प्रकाश का एक विशाल और अलौकिक पुंज है, सम्यक्त्व इसका प्रधान आभूषण है और अनश्वरता इसका वह गुण है जिसके कारण संसार में यह अपना सर्वोच्च स्थान रखता है व इसके समान यह गुण दूसरे किसी में नहीं पाया जाता। इस शुद्धात्मा में स्थिर होकर इसके ज्ञान-गुणों का चिंतवन करना ही पंडितों का एकमात्र वास्तविक प्रक्षालन है ।

प्रक्षालितं त्रति मिथ्यात्वं, शल्यं त्रियं निकंदनं ।
कुज्ञान राग दोषं च, प्रक्षालितं अशुभभावना ॥१३॥

धुल जाते इस ज्ञान-नीर से, तीनों ही मिथ्यात्व समूल ।
तीनों शल्यों को बिनिष्ट कर, ज्ञान बना देता यह धूल ॥
अशुभ भावनाएं भी सारी, इस जल से धुल जाती हैं ।
राग द्वेष, कुज्ञान-कालिमा, पास न रहने पाती हैं ॥

शुद्धात्मा के इस सरोवर में स्नान करने से तीनों मिथ्यात्व समूल नष्ट हो जाते हैं; हृदय में दिन रात चुभने वाली तीनों शल्यें इसके जलस्पर्श से तत्काल निकल जाती हैं और कुज्ञान राग द्वेष और अशुभ भावनायें तो फिर इसमें स्नान करने वाले विद्वान के साथ रहने ही नहीं पातीं; शरीर मल के समान वे भी उसकी आत्मा से एक साथ ही खिर जाती हैं, पृथक् हो जाती हैं ।

कषायं चत्रु अनंतानं, पुण्य पाप प्रक्षालितं ।
प्रक्षालितं कर्म दुष्टं च, ज्ञानं स्नान पंडितः ॥१४॥

पुण्य पाप दोनों रिपुओं को, क्षय कर देता है यह नीर ।
मलिन कषायें छिप जाती हैं, देख रश्मि से इसके तीर ॥
कर्म-नृपति की सेना को भी, कर देता यह जल-भट चूर्ण ।
ऐसा है यह ज्ञान-उदक का, अवगाहन मंगल-परिपूर्ण ॥

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार अनन्तानुबन्धी कषायें भी फिर उसके साथ नहीं रह पातीं हैं जो इस आत्म-सरोवर में स्नान करता है, पुण्य पाप भी दोनों इसके जल से प्रक्षालित हो जाते हैं और अष्टकर्म की सेना तो इसके ज्ञान-नीर को देखते ही पलायमान होने लगती है । ऐसे इस आत्म-सरोवर में विद्वज्जन स्नान करते हैं । वास्तव में वे ही सच्चे पण्डितजन हैं ।

प्रक्षालितं मनश्चपलं, त्रिविधि कर्म प्रक्षालिते ।
पंडितो वस्त्र संयुक्तं, आभरनं भूषण क्रियते ॥१५॥

चंचल मन भी ज्ञान-नीर से, प्रक्षालित हो जाता है ।
द्रव्य, भाव, नोकर्म-यूथ भी, वहां न फिर दिख पाता है ॥
सम्यक् विधि से परम ब्रह्म को, जब उज्वल कर देता नीर ।
तब ज्ञानी जन धारण करते, हैं अपने आभूषण चीर ॥

जो मर्कट के समान चंचल है ऐसा वह मन भी इस आत्म-सरोवर के जल में स्नान करने से एकदम शांत हो जाता है। तीन प्रकार के कर्म—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इस जल से शनैः शनैः धुलते जाते हैं, और वह स्नान करने वाला पंडित निर्विकार स्थिति में पहुँच जाता है और उसके ज्ञान-दर्शनादि रूप जो अन्तरंग वस्त्राभूषण हैं उनसे वह शोभायमान हो जाता है, जिसके सामने बाह्य बहुमूल्य वस्त्राभूषणों की कोई कीमत नहीं ।

वस्त्रं च धर्म सद्भावं, आभरणं रत्नत्रयं ।
मुद्रका सम मुद्रस्य, मुकुटं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥१६॥

शुद्ध आत्म-सद्भाव-धर्म ही, है पंडित का उज्वल चीर ।
झिलमिल करता रत्नत्रय ही, है उसका भूषण गंभीर ॥
समताभावमयी मुद्रा ही, है उसकी मुद्रिका अनूप ।
अविनाशी, शिव, सत्यज्ञान है, उसका ध्रुव किरीट चिद्रूप ॥

आत्म-सरोवर में रमण करने वाले विद्वान स्नान करने के बाद जिन आभरणों से अपनी देह सजाते हैं उनमें वस्त्र और आभूषण ये दो ही मुख्य सामग्री होती हैं। वस्त्र तो होता है उनका सद्भावरूपी धर्म, और आभूषणों में मुद्रिका होती है उनकी समता तथा मुकुट होता है उनका आत्मज्ञान। जो आत्म-ज्ञान सत्यं शिवं सुन्दरम् से युक्त होने से इन्द्र तथा चक्रवर्ती के मुकुटों को भी फीका कर देता है।

दृष्टतं शुद्ध दृष्टीं च, मिथ्यादृष्टि च त्यक्तयं ।
असत्यं अनृतं न दृष्टन्ते, अचेत दृष्टिं न दीयते ॥१७॥

जो ज्ञानी-जन करते रहते, ज्ञान-नीर से अवगाहन ।
परमब्रह्म उनका दर्पण-वत, होजाता निर्मल पावन ॥
मिथ्यादर्शन को क्षय कर वे, शुद्ध दृष्टि हो जाते हैं ।
असत, अचेतन, अनृतदृष्टि से, फिर न दुःख वे पाते हैं ॥

जो ज्ञानीजन इस आत्म-सरोवर के नीर में अवगाहन करते रहते हैं, उनका अन्तरंग दर्पण के समान पवित्र हो जाता है। मिथ्यादर्शन को क्षय करके फिर वे शुद्ध दृष्टि हो जाते हैं और उनकी दृष्टि फिर असत्य, अनृत या अचेत की मान्यता की ओर भूलकर भी नहीं जाती। और उनकी शुद्ध दृष्टि में एकमात्र शुद्धात्मा ही झलकती है तथा उसी का वे मनन, ध्यान व चिंतवन करते हैं।

दृष्टतं शुद्ध समयं च, सम्यक्त्वं शुद्धं ध्रुवं ।
ज्ञानं मयं च संपूर्ण, ममलदृष्टि सदा बुधैः ॥१८॥

ज्ञान–नीर के अवगाहन से, असत् भाव मिट जाता है ।
परम शुद्ध सम्यक्त्व मात्र ही, फिर हिय में दिख पाता है ॥
शुद्ध बुद्ध ही दिखते हैं फिर, आंखों में प्रत्येक घड़ी ।
दिखता है बस यही ज्ञान की, अन्तर में मच रही झड़ी ॥

ज्ञान नीर में स्नान करने से मिथ्यात्वभाव समूल नष्ट हो जाता है और फिर जहाँ तहाँ ज्ञानी को सम्यक्त्व की ही झांकियां दिखलाई पड़ती हैं। उसकी दृष्टि जहां जाती है वहां उसे फिर शुद्धात्मा की ही छवि के दर्शन होते हैं, जिस झांकी की झलक के सामने अब उसे कृत्रिम झांकियों के प्रति प्रेम अथवा मान्यता नहीं रह जाती और उसे आठों पहर ऐसा मालूम पड़ता है मानों अन्तर में ज्ञान की झड़ी लगरही है।

लोकमूढं न दृष्टंते, देव पाखंड न दृष्टते ।
अनायतन मद अष्टं च, शंकादि अष्ट न दृष्टते ॥१९॥

ज्ञान–नीर से मिट जाता है, तीन मूढ़ताओं का ताप ।
अष्ट मदों का मन–मन्दिर में, फिर न शेष रहता सन्ताप ॥
छह अनायतन डरते हैं फिर, नहीं हृदय में आते हैं ।
अष्ट दोष भी तस्कर नाईं, देख इसे छिप जाते हैं ॥

ज्ञानरूपी जल में स्नान करने से देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखण्डमूढ़ता, इन तीनों का नाश हो जाता है। अज्ञानपूर्वक किये हुये ६ कर्मों में सुधार की लहर पैदा हो जाती है, आठों मद विला जाते हैं और शंकादिक अष्ट दोषों के भी पंख लग जाते हैं। तात्पर्य यह कि आत्म–सरोवर में स्नान करने से हृदय में प्रगाढ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जाती है ।

दृष्टतं शुद्ध पदं सार्धं, दर्शन मल विमुक्तयं ।
ज्ञानं मयं सुद्ध सम्यक्त्वं, पंडितो दृष्टि सदा बुधैः ॥२०॥

सप्त तत्व का जो निदान है, अगम, अगोचर, मनभावन ।
उसी 'ओम्' से मंडित दिखता, बुधजन को चेतन पावन ॥
आत्म-देश में जहां कहीं भी, जाते उसके मन-लोचन ।
उन्हें, वहीं दिखता है निर्मल, सम्यग्दर्शन दुख-मोचन ॥

जो मनुष्य ज्ञान-नीर में निमग्न रहा करता है, स्नान करता रहता है उसकी दृष्टि जहाँ तहाँ शुद्धात्मा या ओम् के ही दर्शन करती रहती है। आत्मा के प्रदेशों में उसे सम्यक्त्व-सम्यक्त्वकी ही लहरें दिखाई देती हैं और वे लहरें पवित्र पवित्रतम जैसे जल की चमकती हुई; उनमें रंचमात्र भी कोई विकार नहीं। उन पवित्रतम लहरों में उसे अपनी आत्मा का दर्शन ठीक परमात्मा के जैसा होता है, जिससे उसकी यह तलाश समाप्त हो जाती है कि भगवान का दर्शन कहां मिलेगा ! ठीक ही है, जिसे अपने आपमें ही मिल गया, उसे फिर बाहर में तलाश क्यों ?

वेदका अग्रस्थिरश्चैव, वेदतं निरग्रंथं ध्रुवं ।
त्रैलोक्यं समयं शुद्धं, वेद वेदंति पंडितः ॥२१॥

जो पंडित कहलाता है या, होता जो वेदान्त-प्रवीण ।
अग्र ज्ञान को कर उसमें वह, सतत रहा करता तल्लीन ॥
तीन लोक का ज्ञायक है जो, ग्रन्थहीन, ध्रुव अविनाशी ।
उसी आत्म का अनुभव करता, नितप्रति ज्ञान-नगर-वासी ॥

ज्ञान नगर निवासी पंडित अपने हृदय मन्दिर की वेदी में विराजमान निग्रन्थ, ध्रुव, वीतराग स्वभावी अपनी आत्मा को जो कि पंचज्ञान का निधान है उसे ही वीतराग सर्वज्ञ की समकक्ष अपनी निश्चय दृष्टि में अवलोकन करता है, वेद का जो अग्र-सार उसे भी वह उसी में पाता है, अतः एकमात्र उसकी तन्मयता ही उसे प्रिय लगती है।

उच्चारण ऊर्धं शुद्धं च, शुद्ध तत्वं च भावना ।
पंडितो पूज आराध्यं, जिन समयं च पूजतं ॥२२॥

ऊर्ध्व-प्रणायक प्रणव मंत्र का, करना मुख से उच्चारण ।
अपने विमल हृदय-मन्दिर में, करना शुद्ध भाव धारण ॥
यही एक पंडित-पूजा है, पूज्यनीय शिव सुखदाई ।
आत्मा का पूजन ही, है जिन-पूजन हे भाई ॥

अपने मुख से बार बार 'ओम्' का उच्चारण करना और सदैव शुद्धात्मा की भावनाओं में लीन होना यही वास्तव में एकमात्र पंडितपूजा (पंडितों के करने योग्य पूजा) होती है, और इसी तरह की ज्ञान-पूजा ही वास्तव में वह पूजा होती है जिसको शास्त्रों में देवपूजा या जिनपूजा कही गई है। हे पंडित जनो ! ऐसी ही ज्ञान-पूजा या आत्म-पूजा करो, ऐसी ही भक्ति और आराधना करो, यह पूजा चारों संघ को उपयोगी है ।

पूजतं च जिनं उक्तं, पंडितो पूजतो सदा ।
पूजतं शुद्ध साधं च, मुक्ति गमनं च कारणं ॥२३॥

आत्मद्रव्य की पूजा करता, बन जो जिन-वच-अनुगामी ।
वही एक जग में करता है, पंडितपूजा शिवगामी ॥
शुद्ध आत्मा ही भव-जल से, तरने का बस है साधन ।
मुक्ति चाहते हो यदि तुम तो, करो इसी का आराधन ॥

श्री जिनेन्द्र के वचनों का अनुयायी बनकर जो आत्म-द्रव्य की, आत्म-गुणों की पूजा करता है, वही वास्तव मे एकमात्र पंडित-पूजा है, जबकि दूसरी पूजायें पुण्य तथा पाप बंध करके संसार में ही भटकाया करती हैं। जब कि यह आत्म-पूजा या आत्म-अर्चना ज्ञानी को, विवेकवान पूजक को नियम से भवसागर से पार उतारकर मुक्ति-नगर में पहुँचा देती है ।

अदेवं अज्ञान मूढं च, अगुरुं अपूज्य पूजनं ।
मिथ्यात्वं सकल जानंते, पूजा संसार भाजनं ॥२४॥

'देव' किन्तु देवत्वहीन जो, वे 'अदेव' कहलाते हैं ।
वही 'अगुरु' जड़, जो गुरु बनकर, झूठा जाल बिछाते हैं ॥
ऐसे इन 'अदेव' 'अगुरों' की, पूजा है मिथ्यात्व महान् ।
जो इनकी पूजा करते वे, भव भव में फिरते अज्ञान ॥

ज्ञान-चेतना रहित और देवत्वपने से सर्वथा हीन ऐसे स्वनिर्मित अदेवों को देव मानकर पूजना तथा गुरु के समान वेष बना लेने पर भी गुरु के गुणों से कोसों दूर रहते हैं ऐसे कुगुरु या अगुरुओं को गुरु के समान मानना, पूजना केवल मिथ्यात्व ही होता है । ऐसे अदेवों और अगुरुओं की पूजा पूजक का मंगल तो नहीं करती, हाँ उन्हें संसार सागर में बार बार भटकाया ही करती है, अनन्तकाल पर्यन्त दुःखों का ही भोग कराती है ।

तेनाह पूज शुद्धं च, शुद्ध तत्व प्रकाशकं ।
पंडितो वंदना पूजा, मुक्तिगमनं न संशयः ॥२५॥

सप्त तत्व के पुंजों का नित, करता है जो प्रतिपादन ।
वही ब्रह्म है पूज्य, विज्ञगण ! करो उसी का आराधन ॥
अगुरु, अदेवादिक की पूजा, आवागमन बढ़ाती है ।
आत्म-अर्चना, आत्म-वंदना, मुक्ति-नगर पहुँचाती है ॥

जो सप्त तत्वों के पुंजों का नित्यप्रति प्रतिपादन करता है, उन्हें प्रकाश में लाता है, हे विज्ञजन ! तुम उसी शुद्धात्मा का आराधन करो । अगुरु, अदेवों की पूजा केवल संसार को ही बढ़ाती है, किन्तु आत्म-अर्चना और आत्म-वन्दना इस संसार सागर को सुखाकर मोक्ष नगर के मार्ग को स्पष्ट कर देती है ।

प्रति इन्द्र प्रति पूर्णस्य, शुद्धात्मा शुद्ध भावना।
शुद्धार्थं शुद्ध समयं च, प्रति इन्द्रं शुद्ध दृष्टितं ॥२६॥

इन्द्र कौन ? निज चेतन ही तो, सत्य इन्द्र भव्यो स्वयमेव ।
वही एक है शुद्ध भावना, वही परम देवों का देव ॥
वही ब्रह्म, शुचि शुद्ध अर्थ है, वही समय निर्मल, पावन ।
उसी शुद्ध चिद्रूप देव का, करो चिंतवन मनभावन ॥

भगवान की पूजा इन्द्रों ने की थी अथवा नहीं की थी यह तो भगवान ही जानें, किन्तु तुम्हारी शुद्धात्मा का स्वरूप भी परमब्रह्म परमेश्वर के समान है व ज्ञानधन की ठौर है, ऐसे चिद्रूप देव शुद्धात्मा का जिसका कि दूसरा नाम इन्द्र है उस अपने इन्द्रस्वरूप आत्मा की तुम स्वयं इन्द्र के समान अत्यन्त उल्लास के साथ पूजन करो, क्योंकि यही पूजा तुम्हारा मंगल करने की क्षमता रखती है, दूसरी नहीं।

दाताऽरु दान शुद्धं च, पूजा आचरण संयुतं।
शुद्धसम्यक्त्वहृदयं यस्य, स्थिरं शुद्ध भावना ॥२७॥

जिस जन के हृदयस्थल में है, सम्यग्दर्शन रत्न महान ।
अपने ही में आप लीन जो, जिसे न सपने में पर ध्यान ॥
आत्म द्रव्य का पूजन करता, कर जो नव आदर सत्कार ।
परमब्रह्म को वही ज्ञान का, देता महा दानदातार ॥

जिसके हृदय में सम्यक्त्व रत्न जगमगा रहा है और जो अपने आप में लीन रहने में ही सारे सुखों का अनुभव करता है वह जब आत्म द्रव्य का पूजन करता है तो उसकी यह पूजा एक पवित्रतम दान का रूप धारण कर लेती है और विद्वान इस पूजा को एक ज्ञानी के द्वारा आत्मा को ज्ञान का दान दिया जाना ही कह कर के पुकारते हैं। इस ज्ञान दान में चारों ही दान का समावेश मंथन करने पर तुम्हें मालूम होगा। क्योंकि आत्म-पूजन से आत्मा में ज्ञान की वृद्धि; निर्भयता की जाग्रति, अपने आप में स्थिरता, तथा आनन्दामृत का भोजन पान, इस तरह के यह चारों दान व्यवहार दान की अपेक्षा बहुमूल्य व मंगलदायक होंगे।

शुद्ध दृष्टी च दृष्टंते, मार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ।
शुद्धतत्वं च आराध्यं, बंदना पूजा विधीयते ॥२८॥

चिदानंद के ज्ञान-गुणों के, अनुभव में होना तल्लीन ।
यही एक वन्दन है सच्चा, नहीं वन्दना और प्रवीण ॥
शुद्ध आत्म का निर्मल मन से, करना सच्चा आराधन ।
यही एक बस पूजा सच्ची, यही सत्य बस अभिवादन ॥

चिदानंद शुद्धात्मा के ज्ञान गुणों में तल्लीनता होना यही एक सच्चा वन्दना है और यही एक सच्ची पूजा । क्योंकि शुद्धात्मा का सच्चे मन से आराधन करना पंडितों ने इसे ही वास्तव में वन्दना या पूजा कही है, अथवा जिनवाणी में ऐसी वन्दना या पूजा कही है अथवा जिनवाणी में ऐसी वन्दना पूजा करने वाले को ही पंडित कहा है ।

"पंडितों द्वारा की जाने वाली पंडित पूजा" केवल इसी आधार से इसका नाम 'पंडित पूजा' श्री तारन स्वामी ने रखा है ।

संघस्य चत्रु संघस्य, भावना शुद्धात्मनां ।
समयसारस्य शुद्धस्य, जिनोक्तं मार्धं ध्रुवं ॥२९॥

मुनी, आर्यिका श्रावक दम्पति, भी क्यों करें इतर चर्चा ?
निजानन्द-रत होकर वे भी, करें आत्म की ही अर्चा ॥
शुद्ध आत्मा ही बस जग में, सारभूत है हे भाई !
जिन प्रभु कहते, आत्मध्यान ही, एक मात्र है सुखदाई ॥

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका, याने चतुर्विध संघ का यही कर्तव्य है कि ये इसी शुद्धात्मा की भावनाओं को भा कर उसके ही गुणों की आराधना करें । ऐसा करने में ही सबका कल्याण होगा ।

श्री जिनेन्द्र का कथन है कि—संसार में आत्मा ही केवल एक सारभूत है और प्राणीमात्र का कल्याण करने वाली एकमात्र आत्मा की आराधना व पूजा करना है ।

सार्धं च सप्ततत्वानं, दर्वकाया पदार्थकं ।
चेतनाशुद्ध ध्रुवं निश्चय, उक्तं च केवलं जिनं ॥३०॥

सप्त तत्व को देखो चाहे, छह द्रव्यों का छानों कुंज ।
नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय का, चाहे सतत बिखेरो पुंज ॥
इन सब में पर जीव-तत्व ही, सार पाओगे विज्ञानी ।
आत्मतत्व ही सारभूत है, कहती यह ही जिनवाणी ॥

चाहे तुम सात तत्त्वों के पुञ्ज को देखो, और चाहे छह द्रव्यों की राशि को बिखोरो अथवा पंचास्तिकाय और नौ पदार्थों को। इन सबमें तुम्हें सारभूत पदार्थ केवल एक आत्मा ही मिलेगा। श्री जिनवाणी का भी यही कथन है कि हे भव्यो ! जो चेतना लक्षण से मंडित ध्रुव और शाश्वत आत्मा है, वास्तव में वही इस जगत में केवल एक सारभूत है, तीर्थस्वरूप कल्याणदायिनी है।

मिथ्या तिक्त त्रतियं च, कुज्ञान त्रति तिक्तयं ।
शुद्धभाव शुद्ध समयं च, सार्धं भव्य लोकयः ॥३१॥

दर्शन मोह तीन हैं भव्यो, छोड़ो उनसे अपना नेह ।
कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, कुज्ञानों, से भी हीन करो हिय-गेह ॥
निर्मल भावों से तुम निशिदिन, धरो आत्म का निश्चल ध्यान ।
आत्म-ध्यान ही भव-सागर के, तरने को है पोत महान ॥

तीन प्रकार के मिथ्यात्वों को छोड़कर जो तीन प्रकार के कुज्ञान हैं, हे भव्यो ! तुम उनसे भी अपना नाता तोड़ दो। तुम्हारा कल्याण इसी में है कि तुम निर्मल भावों से केवल अपनी शुद्धात्मा का ही ध्यान करो। क्योंकि तुम्हारी आत्म-नौका ही तुम्हें पार लगायेगी, किसी दूसरे चेतन व अचेतन पदार्थ में यह शक्ति नहीं जो तुम्हें संसार समुद्र से पार कर दे।

एतत् सम्यक्त्वपूज्यस्य, पूजा पूज्य समाचरेत् ।
मुक्तिश्रियं पथं शुद्धं, व्यवहारनिश्चयशाश्वतं ॥३२॥

निर्मल कर मन वचन काय की, तीर्थ-स्वरूपिणि वैतरणी ।
करो आत्म की पूजा विज्ञो, यही एक भव-जल-तरणी ॥
शुद्ध आतमा का पूजन ही, पूजनीय है सुखदाई ।
युगल नयों से सिद्ध यही है, यही एक शिव-पथ भाई ॥

अपने मन, वचन, काय की=त्रियोग-त्रिवेणी पवित्र कर, हे विज्ञो ! तुम्हें उचित है कि तुम अपने शुद्धात्मा की ही निशिदिन पूजा करो, क्योंकि व्यवहार और निश्चय दोनों ही नय इस बात को एक स्वर से पुकार पुकार कर कहते हैं कि यदि संसार में मोक्ष ले जाना कोई पंथ है तो वह केवल अपनी ही आत्मा का पूजन, अपनी ही आत्मा का मनन और अपनी ही आत्मा का मननपूर्वक अर्चन करना है ।

श्री तारन स्वामी कहते हैं कि हे भव्यो ! उपरोक्त सम्यक्त पूजा करो और तदनुसार ही आचरण करो। यही व्यवहार तथा निश्चय इन दोनों नयों से मुक्ति-पंथ का शुद्ध शाश्वत मार्ग है। ध्यान रहे, तद-नुसार आचरण के बिना मात्र पूजा केवल पूजा का आडम्बर है ।





सम्यक्त्व-माहात्म्य

● सम्यक्त्वहीन जीव यदि पुण्य सहित भी हो तो भी ज्ञानीजन उसे पापी कहते हैं। क्योंकि पुण्य-पाप रहित स्वरूप की प्रतीति न होने से पुण्य के फल की मिठास में पुण्य का व्यय करके, स्वरूप की प्रतीति रहित होने से पाप में जायगा।

● सम्यक्त्व सहित नरकवास भी भला है और सम्यक्त्वहीन होकर देवलोक का निवास भी शोभास्पद नहीं होता।

● संसार रूपी अपार समुद्र से रत्नत्रय रूपी जहाज को पार करने के लिये सम्यग्दर्शन चतुर खेवटिया (नाविक) के समान है।

● जिस जीव के सम्यग्दर्शन है वह अनंत सुख पाता है और जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है वह यदि पुण्य करे तो भी अनंत दुःखों को भोगता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की अनेकविध महिमा है, इसलिये जो अनंत सुख चाहते हैं उन समस्त जीवों को उसे प्राप्त करने का सर्व प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

तारण-वाणी



द्वितीय धारा (मालारोहण)



ॐकार वेदंति शुद्धात्म तत्वं, प्रणमामि नित्यं तत्वार्थ सार्धं ।
ज्ञानं मयं सम्यक्दर्शनोत्थं, सम्यक्त्वचरणं चैतन्यरूपं ॥१॥

ओङ्कार रूपी वेदान्त ही है, रे तत्व निर्मल शुद्धात्मा का ।
ओङ्कार रत्नत्रय की मंजूषा, ओङ्कार ही द्वार परमात्मा का ॥
ओङ्कार ही सार तत्वार्थ का है, ओङ्कार चैतन्य प्रतिमाभिराम ।
ओङ्कार में विश्व, ओङ्कार जग में, ओङ्कार को नित्य मेरा प्रणाम ॥

विश्व के श्रेष्ठतम अनुभव एक स्वर से कह रहे हैं कि यदि शुद्धात्मा का अनुभव किया जाये तो उसमें एक ही सारभूत पदार्थ दृष्टिगोचर होगा और वह पदार्थ होगा ॐ या ओंकार का रहस्यसे पूर्ण पद।

ओंकार—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का निधान है; मोक्ष का एक मार्ग है और चेतन के वास्तविक रूप की यदि कोई प्रतिमूर्ति है तो वह भी ओंकार ही है।

संसार के समस्त पदार्थ व तत्त्वों में अग्रगण्य उस ओंकार पद को मैं मस्तक झुकाकर अभिवादन करता हूँ।

मालारोहण ग्रन्थ की इस प्रथम गाथा में जिस ओंकार का अभिवादन श्री तारण स्वामी ने किया है उस ही ओंकार के गुणों का वर्णन इस ग्रन्थ की ३२ गाथाओं में करके शिष्य समूह को यह उपदेश दिया है कि भो भव्य जीवो ! तुम भी ओंकार के उन गुणों को जो कि सिद्धों में प्रत्यक्ष और तुम्हारी आत्मा में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं प्रगट करो, आरोहण करो अर्थात् ओंकारस्वरूप अपनी आत्मा के गुणरूपी माला को कंठ में पहिनो, धारण करो, जिस आत्म-गुणमाला को पहिन कर अनन्त जीवों ने सिद्धपद प्राप्त किया है।

नमामि भक्तं श्रीवीरनाथं, नंतं चतुष्टं तं व्यक्त रूवं ।
मालागुणं बोच्छं तत्वप्रबोधं, नमाम्यहं केवलि नंत सिद्धं ॥२॥

जोऽनंत चतुष्टय के निकेतन, जिनके न ढिंग अष्ट कर्मारि बसते ।
ऐसे जिनेश्वर श्री वीर प्रभु को, मेरा युगल पाणि से हो नमस्ते ॥
मैं केवली, सिद्ध, परमेष्ठियों को, भी भक्ति से आज मस्तक नवाता ।
जो सप्त तत्वों की है प्रकाशक, उस मालिका के गुण आज गाता ॥

अनंत दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनंत वीर्य के धारी तथा शुद्धात्मा के सर्वोत्तम प्रतीक, भगवान महावीर को भी मैं नमस्कार करता हूँ, तथा कर्मों की बेड़ियों को काटकर आज तक जितने भी जीव स्वाधीन होकर मुक्ति नगर को पहुँच चुके हैं उनके चरणों में भी नत मस्तक होकर हे श्रावको ! मैं तुम्हारे सामने कल्याण के लिये उस माला की या शुद्धात्मा की चर्चा करता हूँ, जो मर्मज्ञ संसार के बीच अध्यात्म या समकित माल के नाम से प्रसिद्ध है।



कायाप्रमाणं त्वं ब्रह्मरूपं, निरंजनं चेतनलक्षणत्वं ।
भावे अनेत्वं जे ज्ञानरूपं, ते शुद्ध दृष्टी सम्यक्त्व वीर्यं ॥३॥

इस ब्रह्मरूपी निज आत्मा का, काया बराबर स्वच्छंद तन है ।
मल से विनिर्मुक्त है यह घनानंद, चैतन्य-संयुक्त तारनतरन है ॥
जो इस निरंजन शुद्धात्मा के, शंकादि तजकर बनते पुजारी ।
वे ही सफल हैं निज आत्मबल में, वे ही सुजन हैं सम्यक्त्वधारी ॥

आत्मा जिस शरीर में निवास करती है उसी प्रमाण अपना रूप धारण कर लेती है, किन्तु नश्वर के साथ अनश्वर का यह मेल अनेक भेदों से भरा हुआ है । काया जहाँ अंधकार से परिपूर्ण है वहाँ आत्मा निरंजन-प्रकाशमय है, अंधकार का उस पर कोई पर्दा नहीं, जहाँ काया अचेतन है, वहाँ आत्मा में चेतना का अविनाभावी संबंध है।

जो ज्ञानी पुरुष इस आत्मा के शंकादि छोड़कर निश्चल पुजारी बन जाते हैं, वे ही वास्तव में अपने आत्मबल में सफल होते हैं और वे ही इस संसार में 'सम्यग्दृष्टि' नाम की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

संसार दुक्खं जे नर विरक्तं, ते समय शुद्धं जिन उक्त दृष्टं ।
मिथ्यात्व मद मोह रागादि खंडं, ते शुद्ध दृष्टी तत्वार्थ सार्धं ॥४॥

श्री जैन वाणी में मुख कमल से, कहते गिरा सिद्ध परमात्मा हैं ।
संसार-दुःखों से जो परे हैं, भव्यो वही जीव शुद्धात्मा हैं ॥
मिथ्यात्व, मद, मोह, रागादिकों-से, जिनने किये हैं रिपु नाश भारी ।
वे ही सुजन हैं तत्वार्थ ज्ञाता, वे ही पुरुष हैं सम्यक्त्वधारी ॥

जिन्हें आत्मा की पहिचान हो जाती है, उनके पास दुःख नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती, अतः इस संसार में शुद्धात्मा या महात्मा केवल वही पुरुष हैं जो संसार के दुःखों से परे हो चुके हैं— जो यह नहीं जानते कि आत्मा को कलुषित करने वाला दुःख आखिर किस पदार्थ का नाम है, ऐसे महात्मा न तो फिर संसार के मिथ्या विश्वासों में फँसते हैं और न राग द्वेष या ममता मोह के जाल में ही। संसार में जो आठ प्रकार के मद कहे जाते हैं, उनको तो वे खंड खंड ही कर डालते हैं। विश्व की कल्याण करने वाली, करुणामयी जिनवाणी ऐसे ही महात्माओं को शुद्ध सम्यग्दृष्टी के नाम से पुकारती है, संबोधन करती है।

शल्यं त्रियं चित्त निरोधनेत्वं, जिन उक्त वाणी हृदि चेतनेत्वं ।
मिथ्याति देवं गुरु धर्मदूरं, शुद्धं स्वरूपं तत्वार्थ सार्धं ॥५॥

श्री वीर प्रभु के अमृत-वचन का, जिनके हृदय में जलता दिया है ।
मिथ्यादि त्रय शल्य का रोग जिनने, सम्यक्त्व-उपचार से क्षय किया है ॥
मिथ्यात्व-मय देव गुरु धर्म से जो, रहते सदा हैं परे आत्म-ध्यानी ।
वे ही पुरुष हैं शुद्धात्म-प्रतिमूर्ति, सम्यक्त्वधारी तत्वार्थ-ज्ञानी ॥

मिथ्या, माया, निदान इन तीन शल्यों से जिनके हृदय रहित हो जाते हैं, भगवान के वचन जिनके मन-मन्दिर में नितप्रति गूँजते हैं और जो खोटे मार्ग पर ले जाने वाले देव, गुरु और धर्म से दूर और कोसों दूर रहा करते हैं, वे ही पुरुष वास्तव में शुद्धात्मा के प्रतीक होते हैं और उनमें ही वास्तव में तत्त्वार्थ का यथार्थ सार भरा हुआ होता है।

जे मुक्ति सुक्खं नर कोपि साधं, सम्यक्त्व शुद्धं ते नर धरेत्वं ।
रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा स्वभावं ध्रुव शुद्ध दृष्टं ॥६॥

मैं सिद्ध हूँ, मुक्तिरमणी विहारी, है मोक्ष मेरी यही चारु काया ।
मद मोह मल पुण्य रागादिकों की, पड़ती न मुझ पर कभी भूल छाया ।
सम्यक्त्व से पूर्ण जिनके हृदय हैं, जो चाहते मोक्ष किम रोज पावें ।
वे स्वावलम्बी इसी भांति अपने, हृदयस्थ परमात्मा को रिझावें ॥

संसार बन्धनों को काटकर, जो मुक्ति के अनन्त सुख को पाने के अभिलाषी हैं, जिनके हृदय-सरोवर में सम्यक्त्व पल पल शीतल हिलोरें लिया करता है, उन्हें अपनी आत्मा को पहिचानने में तनिक भी समय नहीं लगता। वे जानते हैं कि मैं ध्रुव हूँ, शाश्वत हूँ और शुद्ध दृष्टा अनन्त ज्ञान का धारी हूँ, वह अलौकिक आत्मा हूँ जो तीन लोक को प्रकाशित करती है। और हूँ प्रकाश का वह पुंज जो सदैव अबाध गति से एक समान चमकता रहता है। राग, द्वेष, पुण्य पाप इन विकारों की कोई छाया उनकी आत्मा पर नहीं पड़ती।

ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव अपनी आत्मा का चिंतवन ठीक इसी तरह से करते रहते हैं। उनका ऐसा आत्मचिंतन ही उनकी आत्मा को परमात्मा बना देता है।

श्री केवलंज्ञान विलोकतत्वं, शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्वं ।
सम्यक्त्व ज्ञानं चर नंत सौख्यं, तत्वार्थ साधं त्वं दर्शनेत्वं ॥७॥

ज्ञानारसी में जिस तत्त्व का रे! दिखता सतत है प्रतिबिम्ब प्यारा ।
जिसके बदन से प्रतिपल बिखरता, रहता प्रभा-पुंज शुचि शुद्ध न्यारा ॥
सम्यक्त्व की पूर्ण प्रतिमूर्ति है जो, है जो अनूपम आनन्द-राशी ।
तत्त्वार्थ के सार उस आत्मा को, देखो, विलोको, मोक्षाभिलाषी ॥

केवलज्ञान में जिस तत्त्व की स्पष्ट छाया दृष्टिगोचर होती है; जिसके कण-कण से प्रकाश के सैकड़ों पुंज एक साथ प्रस्फुटित होते रहते हैं तथा जो सम्यक्त्व की पूर्ण प्रतिमूर्ति है ऐसा शुद्धात्म तत्त्व ही वास्तव में सदैव मनन करने योग्य है।

सम्यक्त्व शुद्धं हृदयं समस्तं, तस्य गुणमाला गुथतस्य वीर्यं ।
देवाधिदेवं गुरु ग्रन्थ मुक्तं, धर्मं अहिंसा क्षमा उत्तमध्यं ॥८॥

सम्यक्त्व की चारु चन्द्रावली से, सबके हृदय–हार हैं जगमगाते ।
पुण्यात्मा, वीरवर जीव ही पर, उसके गुणों को कर व्यक्त पाते ॥
जिनराज ही देव हैं ज्ञानियों के, गुरु ग्रंथ–निर्मुक्त, कल्याणकारी ।
है धर्म परमोच्च उत्तम अहिंसा, जिसमें विहँसती क्षमा शक्तिधारी ॥

सम्यग्दृष्टि पुरुष का हृदय सम्यक्त्व से छलछलाता रहता है। ठीक यही हाल हम सब का भी है, क्योंकि निश्चय नय से हम भी तो सब शुद्ध आत्माएँ ही हैं, पर यह सम्यक्त्व सबके पास होते हुये भी सब अपने आपमें विशुद्ध दृष्टि से देखने में, पूर्ण होते हुए भी केवल कुछ ही आत्माएँ ऐसी होती हैं जो अपने इस सम्यक्त्व को अपनी पूर्णता को ऊपर लाने में समर्थ हो पाती हैं और इस तरह अपने आत्म-बल का दिग्दर्शन कराती हैं। अष्ट कर्मों पर जय पाने वाले अरहंत महाप्रभु और बाईस परीषह सहन करने वाले निर्ग्रंथ साधु इस पौरुष के ज्वलन्त उदाहरण हैं। संसार की सारी शक्तियों के स्वामी होते हुए भी अहिंसा उनका धर्म है और क्षमा है उनका आभूषण।

तत्वार्थ सार्धं त्वं दर्शनेत्वं, मलं विमुक्तं सम्यक्त्व शुद्धं ।
ज्ञानं गुणं चरणस्य सुद्धस्य वीर्यं, नमामि नित्यं शुद्धात्म तत्वं ॥९॥

तत्वार्थ के सार को तुम विलोको, जो शुद्ध सम्यक्त्व का बन्धु! प्याला ।
परिपूर्ण जो शुद्धतम ज्ञान से है, जो है अतुल शक्ति चारित्र वाला ।
यह सार प्यारा शुद्धात्मा है, चिर सुखसदन का अनुपम सु साधन ।
ऐसे अमोलक विज्ञानघन को, मैं नित्य करता सहस्राभिवादन ॥

जीव, अजीवादि सातों तत्त्वों के निष्कर्ष पर यदि हम विचार करें तो पता लगेगा कि जीव तत्त्व ही इन सब में अपनी प्रधानता रखता है। जीव तत्त्व, कर्मों से विमुक्त और अतुल ज्ञान गुण तथा शक्ति का भण्डार है। सम्यक्त्व के इस पुंज को मैं नमस्कार करता हूँ जो कि अपने ही प्रकाश से अपने आपके आनन्द में तन्मय है।

जे सप्त तत्वं षट दर्ब युक्तं, पदार्थ काया गुण चेतनेत्वं ।
विश्वं प्रकाशं तत्वान वेदं, श्रुतदेव देवं शुद्धात्म तत्वं ॥१०॥

जो सप्त तत्त्वों को व्यक्त करता, षट द्रव्य जिसको हस्तामलक हैं ।
पंचास्तिकाया औ नौ पदारथ, जिसमें निरन्तर देते झलक हैं ॥
चैतन्यता से है जो विभूषित, त्रिभुवन-तली को जो जगमगाता ।
श्रुत-ज्ञान रूपी उस आत्म में ही, रत रह, करो आत्म-कल्याण भ्राता ॥

जो सप्त तत्त्वों को व्यक्त करता है षट् द्रव्यों से जो युक्त है, पंचास्तिकाय और नौ पदार्थ जिसमें निरन्तर अपनी झलक दिखाते रहते हैं, ऐसे विश्व को प्रकाशित करने वाले उस विज्ञान रूपी देवाधिदेव शुद्धात्म तत्त्व का तुम निरंतर ही आराधन करो, मनन व चिन्तवन करो ।

देवं गुरुं शास्त्र गुणान नेत्वं, सिद्धं गुणं सोलाकारणेत्वं ।
धर्मं गुणं दर्शन ज्ञान चरणं, मालाय गुथतं गुणमत्स्वरूपं ॥११॥

सत् देव सत् शास्त्र सत् साधुजन में, श्रद्धा करो नित्य सम्यक्त्वधारी ।
मुक्तिस्थ सिद्धों का नित मनन कर, ध्यावो परम भावनायें सुखारी ॥
शुचि, शुद्ध रत्नत्रय-मालिका से, अपने अमोलक हृदय को सजाओ ।
शिव पंथ जिन धर्म को ही समझकर, उसके निरन्तर, सतत गीत गाओ ॥

हे भव्यो ! परम हितोपदेशी, वीतराग, सर्वज्ञ देव में, निर्ग्रंथ गुरु में, तथा कल्याणकारी शास्त्रों में अपनी निष्ठा स्थिर करो, सिद्धों के गुणों का चिंतवन करो तथा अपनी अध्यात्म-मालिका में सम्यक्त्व रत्न को पिरोकर-जोड़कर, उसकी सौरभ चन्द्रमा की कलाओं के समान दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ाओ कि जिस बढ़ते हुये प्रकाश में दश धर्म, सम्यक्त्व के आठ अंग तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप रत्नत्रय आदि अनेक गुण प्रगट हो जावें, जो गुण कहीं बाहर नहीं, तुम्हारे में ही विद्यमान हैं ।

पड़माय ग्यारा तत्वान पेषं, वृत्तानि शीलं तप दान त्रित्तं ।
सम्यक्त्व शुद्धं न्यानं चरित्रं, सुदर्शनं शुद्ध मलं विमुक्तं ॥१२॥

एकादश स्थान में आचरण कर, कर्मारि पर जय करो प्राप्त भारी ।
पंचाणुव्रत पाल भव भव सुधारो, एकाग्र हो तप तपो तापहारी ॥
दो दान सत्पात्र-दल को चतुर्भाँति, निज आत्म की ज्योति को जगमगाओ ।
पावन करो शील-सुर-वारि से गेह, सम्यक्त्व-निधि प्राप्त कर मोक्ष पाओ ॥

भव्यो ! तुम्हारा क्रमशः आत्मिक विकास हो, केवल इसके लिये ही ग्यारह प्रतिमाओं (ग्यारह प्रतिज्ञाओं) की सृष्टि हुई है । अतः तुम अपनी शक्ति के अनुसार क्रमशः एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते चले जाओ । पंचाणुव्रतों का यथाशक्ति पालन करो और शील, तप व दान में अधिक से अधिक अपनी शक्ति को लगाकर प्रयास यह करो कि तुम्हारा सम्यक्त्व पूर्ण निर्मलता को प्राप्त हो जावे । 'सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होने पर ही पहली दर्शनप्रतिमा कही गई है' तथा उसकी क्रमबद्ध निर्मलता ही प्रतिमाओं की विशेषता है ।

मूलं गुणं पालंत जीव शुद्धं, शुद्धं मयं निर्मल धारणेत्वं ।
ज्ञानं मयं शुद्ध धरंति चित्तं, ते शुद्ध दृष्टी शुद्धात्मतत्वं ॥१३॥

वसु मूलगुण को पालन किये से, रे ! जीव होता है शुद्ध, सुन्दर ।
पुण्यार्थियों को इससे उचित है, धारण करें वे यह व्रत-पुरन्दर ॥
जो ज्ञानसागर इस आचरण से, यह देव-दुर्लभ जीवन सजाते ।
वे वीर नर ही हैं शुद्ध दृष्टी, शुद्धात्म के तत्व वे ही कहाते ॥

सम्यक्त्व के अष्टमूल गुणों को पालन करने से अपना यह देह दुर्लभ जीवन शोभायमान हो जाता है, आत्मा के प्रदेशों से बंधे हुये कर्म कटने लगते हैं और उनकी अपनी आत्मा दिन प्रतिदिन शुद्धता की ओर अग्रसर होती चली जाती है, ऐसा इस सम्यक्त्व का माहात्म्य जानकर जो भव्यजीव अष्टमूल गुणों का पालन करते हैं मानों वे ही पुरुष शुद्ध सम्यक्त्व के पात्र हैं अथवा पात्र होने के वे ही जीव अधिकारी हैं ।

शंकाद्य दोषं मद मान मुक्तं, मूढं त्रियं मिथ्या माया न दृष्टं ।
अनाय षट्कर्म मल पंचवीसं, त्यक्तस्य ज्ञानी मल कर्ममुक्तं ॥१४॥

शंकादि वसु दोष, मानादि मद को, जिसके हृदय में कुछ थल नहीं है ।
त्रय मूढ़ता, षट आनायतन की, जिस पर न पड़ती छाया कहीं है ॥
उपरोक्त पच्चीस मल-बैरियों पर, जिसने विजय प्राप्त की भव्य भारी ।
वह कर्म के पाश से छूटता है, बनता वही मुक्ति-रमणी-विहारी ॥

जिसके अपने जीवन में सम्यग्दर्शन के शंकादि ८ दोष, जाति कुल आदि के ८ मद, तीन मूढ़ता तथा अज्ञान पूर्वक किए हुए ६ कर्म, ऐसे ये पच्चीस दोष नहीं हैं, वह ज्ञानी पुरुष शीघ्र ही कर्मों की पाश से छूटकर मोक्ष का सीधा मार्ग पकड़ लेता है और एक दिन समस्त कर्मों से मुक्त होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, आत्मा को परमात्मा बना लेता है ।

शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्मतत्त्वं, समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं ।
रत्नत्रयालंकृत सत्स्वरूपं, तत्वार्थसार्धं बहुभक्तियुक्तं ॥१५॥

शुद्धात्मा-तत्व का भव्य जीवो, है शुद्ध, सित, सौम्य, निर्मल प्रकाश ।
संकल्प आदिक का क्षोभ उसमें, करता नहीं रंच भी है निवास ॥
शुद्धात्मा का शुद्ध स्वरूप, है रत्नत्रय से सज्जित सुखारी ।
तत्वार्थ का सार भी बस यही है, भव्यो बनो आत्म के तुम पुजारी ॥

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष नित्यप्रति शुद्धात्मा के गुणों का चिन्तवन करते रहते हैं तथा उसी तरह के अपने धर्म-आत्म धर्म में लीन बने रहते हैं, संसार के दुखों का उन्हें आभास भी नहीं होता ।

ऐसे विशिष्ट महात्मा पुरुष जीवादि तत्त्वों के ज्ञान में पारंगत होकर अपनी आत्मा में लीन रहने लग जाते हैं, और समय पाकर समस्त संकल्प विकल्पों से छूटकर कर्मों की बेड़ियों को विध्वंस करके उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे मुक्तावस्था या परमपद कहते हैं ।

जे धर्म लीना गुण चेतनेत्वं, ते दुःख हीना जिनशुद्धदृष्टी ।
संप्रोय तत्वं सोई ज्ञान रूपं, ब्रजंति मोक्षं क्षणमेक एत्वं ॥१६॥

शुद्धात्मा के चैतन्य गुण में, जो नर निरन्तर लवलीन रहते ।
वे विज्ञ ही हैं, जिन शुद्ध दृष्टी, संसार दुख-धार में वे न बहते ॥
जीवादि तत्वों का ज्ञान करके, होते स्वरूपस्थ वे आत्म-ध्यानी ।
कर्मारि-दल का विध्वंस करके, वरते वही वे शिवा-सी भवानी ॥

जो भव्यजीव अपने आपके आत्म-धर्म में लीन रहते हुए आत्म गुणों का चिंतवन करते हैं वे पुरुष संसार के समस्त दुखों से रहित होकर अन्तरात्मा से परमात्मपद पाने के अधिकारी हो जाते हैं। उनकी शुद्धात्मा से जो प्रकाश प्रगट होता है वह प्रकाश ही उन्हें निर्मल तथा शांत बना देता है। यह प्रकाश तीन रत्नों की जगमगाहट से परिपूर्ण रहता है, अतः ऐसे प्रकाश वाले उस अलौकिक शुद्धात्म तत्व की अर्चना में तुम अपने हृदय की पूर्ण निर्मलता का उपयोग करो, वह तुम्हारी निर्मलता एक क्षण में तुम्हें मुक्ति का दर्शन करा देगी और समय पाकर मुक्तिस्थान में पहुँचा देगी।

जे शुद्ध दृष्टी सम्यक्त्व शुद्धं, माला गुणं कंठ हृदय अरुलितं ।
तत्वार्थ सार्धं च करोति नेत्वं, संसार मुक्तं शिव सौख्य वीर्यं ॥१७॥

जो शुद्ध दृष्टी शुद्धात्म-प्रेमी, नित पालते हैं सम्यक्त्व पावन ।
अपने हृदयस्थल पर धारते हैं, जो यह गुणों की माला सुहावन ॥
वे भव्य जन ही पाते निरन्तर, तत्वार्थ के सार का चारु प्याला ।
संसार-सागर से पार होकर, पाते वही जीव चिर सौख्य-शाला ॥

जो शुद्ध दृष्टी शुद्धात्म पुरुष सम्यक्त्व का नित प्रति पूर्ण रूप से पालन करते हैं तथा जो अपने कंठ में अध्यात्म मालिका धारण करते हैं वे ही तत्वार्थ की उस माधुरी का पान करने में समर्थ हो पाते हैं और वे ही जीव संसार सागर से पार होकर मुक्तिशाला में जाकर विराजमान होते हैं।

ज्ञानं गुणं माल सुनिर्मलेत्वं, संक्षेप गुथितं तुव गुण अनन्तं ।
रत्नत्रयालंकृत सस्वरूपं, तत्वार्थ साधं कथितं जिनेंद्रै: ॥१८॥

शुद्धात्मा की गुणमालिका में, वाणी अगोचर है पुष्प भाई ।
संक्षेप में ही, पर पुष्प चुन चुन, यह दिव्य माला मैंने बनाई ॥
आगम, पुराणों से तुम सुनोगे, बस एक ही वाक्य परमात्मा का ।
रत्नत्रयाच्छन्न है भव्य जीवो, शशि सा सुलक्षण परमात्मा का ॥

वैसे तो अध्यात्म गुणों की इस मालिका में अर्थात् शुद्धात्मा में अनेकों सुरभियुक्त प्रसून गूंथे हुए हैं, किन्तु उसमें से कुछ ही प्रसूनों (फूलों) को उठाकर उनके गुणों की चर्चा मैंने तुमसे की है । आगम पुराण और संसार के सारे ज्ञान व विज्ञानों से तुम्हें एक ही कथन सुनने को मिलेगा और वह यह कि शुद्धात्मा या अध्यात्म मालिका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की निधान है, उस निधान की-तत्त्वार्थ की तुम श्रद्धा करो, एकमात्र यही जिनेन्द्रदेव का कथन है ।

श्रेनीय पृच्छंति श्री वीरनाथं, मालाश्रियं मागंत नेहचक्रं ।
धरणेन्द्र इन्द्र गन्धर्व जक्षं, नरनाह चक्रं विद्या धरेत्वं ॥१९॥

श्री वीर प्रभु से श्रेणिक नृपति ने, पूछा सभा में मस्तक नवाकर ।
इस मालिका को त्रिभुवन तली पर, किसने विलोका कहो तो गुणागर ?
क्या इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व ने भी, देखी कभी नाथ यह दिव्यमाला ?
या यक्ष, चक्रेश, विद्याधरों ने, पाया कभी नाथ यह मुक्ति-प्याला ?

भगवान महावीर से श्रेणिक नृपति ने उनके समोशरण में एक प्रश्न पूछा—भगवन् ! त्रिभुवन में इस अध्यात्म माला के दर्शन पाने में कौन समर्थ हुआ ? इस अलौकिक गुणों की लक्ष्मी ने किसके गले में जयमाला डाली ?

क्या इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व सरीखी विभूतियों ने कभी इस माला को देखा या कभी यक्ष, चक्रेश या विद्याधरों ने इस माला को आरोहण किया ? हे सम्यक्त्वधाम ! यह आप बतावें ।

किं दिस रतनं बहुवे अनन्तं, किं धन अनंतं बहुभेय युक्तं ।
किं त्यक्त राज्यं बनवासलेत्वं, किं तत्व वेत्वं बहुवे अनंतं ॥२०॥

जिसके भवन में हीरे जवाहिर, या द्रव्य की लग रहीं राशि भारी ।
ऐसे कुबेरों ने भी प्रभो क्या, देखी कभी माल यह सौख्यकारी ॥
या राज्य को त्याग जोगी बने जो, उनने विलोकी यह माल स्वामी ।
या सप्त तत्वों के पंडितों ने, देखी गुणावलि यह मोक्षगामी ?

हे भगवन ! जिसके भवन में हीरे, जवाहर या रत्नों की राशियों के ढेर लगे थे ऐसे कुबेर ने भी क्या कभी इस मालिका के दर्शन किये ? या जो राज्य पाट को त्याग कर योगी बन गये उन्होंने कभी इस मालिका से अपना हृदय सुशोभित किया या कभी इस मालिका को अपने वक्षस्थल पर वे देख पाये जो जंगलों अथवा पर्वतों में जाकर घोर तप करते हैं और जिनका शरीर तपस्या के मारे सूख कर कांटा हो गया है ?

श्री वीरनाथं उक्तं च शुद्धं, श्रुणु श्रेण राजा माला गुणार्थं ।
किं रत्न किं अर्थ किं राजनाथं, किं तत्व वेत्वं नवि माल दृष्टं ॥२१॥

बोले जिनेश्वर श्री मुख-कमल से, 'श्रेणिक सुनो मालिका की कहानी ।
इस आत्म-गुण की सुमनावली के, दर्शन सहज में न हों प्राप्त ज्ञानी ॥
ना तो कभी रत्नधन-धारियों ने, श्रेणिक सुनो मालिका यह निहारी ।
ना मालिका को उनने विलोका, जो मात्र थे तत्व के ज्ञानधारी ॥

समदर्शी भगवान महावीर बोले—'श्रेणिक ! मैं इस अध्यात्म माला की कहानी तुमसे कहता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो ! सारभूत बात यह है कि यह अध्यात्म मालिका उन साधारण मालाओं सी माला नहीं, श्रेणिक ! जिसके दर्शन सबको ही सहज में प्राप्त हो जावें । न तो हीरे जवाहरात के धनी इसे पा सके, न वे ही इस माला को पहिन सके जो मात्र तत्त्वज्ञाता थे या जो राज्यपाट छोड़कर केवल वेषधारी बनकर जंगलों या पर्वतों में घोर तपस्या को चले गये और तप करते हुये शरीर को सुखा डाला ।

किं रत्न कार्यं बहुविहि अनंतं, किं अर्थ अर्थं नहि कोपि कार्यं ।
किं राज चक्रं किं काम रूपं, किं तत्व वेत्वं बिन शुद्ध दृष्टि ॥२२॥

"इस माल के दर्शनों में न तो भूप, रत्नादि पत्थर ही काम आवें।
ना सार्वभौमों के राज्य या धन, ही इस गुणावलि को देख पावें ॥
ना तो इसे देख तत्वज्ञ पायें, ना कामदेवों-से दृग-सुखारी !
दर्शन वही कर सके मालिका का, थे जो सुनो शुद्धतम दृष्टि धारी ॥"

पुनश्च—हे श्रेणिक ! इस माला को प्राप्त करने में न तो रत्नादि पत्थर ही काम आते हैं और न चक्रवर्तियों के राज्य पाट या वैभव ही। तथा कामदेव का तीनों भुवन को मोह लेने वाला रूप भी इस माला को प्राप्त न कर सका। तात्पर्य यह है कि—बिना शुद्ध दृष्टि के ये सब ही इस अध्यात्म माला को पाने में असफल रहे अर्थात् न पा सके।

जे इन्द्र धरणेन्द्र गंधर्व यक्षं, नाना प्रकारं बहुविहि अनंतं ।
तेऽनंत प्रकारं बहु भेय कृत्वं, माला न दृष्टं कथितं जिनेन्द्रैः ॥२३॥

"श्रेणिक ! सुनो वास्तविक गूढ़ यह है, जो पूर्णतम है सम्यक्त्व धारी।
केवल वही पुण्यशाली सुजन ही, नृप ! धर सके मालिका यह सुखारी ॥
जो इंद्र, धरणेन्द्र, गंधर्व, यक्षादि, नाना तरह के तुमने बताये।
वे स्वप्न में भी कभी भूल राजन् ! यह दिव्य माला नहीं देख पाये ॥"

हे श्रेणिक ! इन्द्र इत्यादि संसारी भावनाओं की कामना वाले इस माला के दर्शनों से वंचित रहे, भले ही उन्होंने अनेक भेद प्रभेद पूर्वक आचरण किये, किन्तु अध्यात्म माला और उसके पाने के रहस्य को समझे बिना कोई भी उसे न पा सके। दूसरे शब्दों में तात्पर्य यह कि इस माला का संबंध रत्नादि पत्थरों से, चक्रवर्तियों के राज्य-वैभव से, इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व, यक्षादि की विभूति से या कामदेव के अद्वितीय रूप से न होकर आत्मा के विशिष्ट गुणों से है; इसलिये यह सब इसे प्राप्त न कर सके। श्रेणिक ! यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। इसके रहस्य को समझने में भी तुम भूल न करना।

जे शुद्ध दृष्टी सम्यक्त्व युक्तं, जिन उक्त सत्यं सु तत्वार्थ सार्धं ।
आशा भय लोभ स्नेह त्यक्तं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥२४॥

जो स्याद्वादज्ञ, सम्यक्त्व-सम्पन्न, शुचि, शुद्धदृष्टी, निज आत्मध्यानी ।
तत्वार्थ के सार को जानते नित्य, ध्याते पतित-पावनी जैन वाणी ॥
आशा, भय, स्नेह औ लोभ से जो, बिलकुल अछूते हैं स्वात्मचारी ।
वे ही हृदय कंठ में नित पहिनते, है आत्म-गुणमाल यह सौख्यकारी ॥

हे श्रेणिक ! इस अध्यात्ममाला को केवल वे ही व्यक्ति प्राप्त कर सके जो दर्शन, ज्ञान और आचरण से संयुक्त "शुद्ध दृष्टी" थे, सम्यक्त्व से परिपूर्ण थे । इस मालिका के साथ जो रहस्य है वह यह है कि केवल सम्यक्त्व से परिपूर्ण शुद्ध दृष्टि पुरुष ही इसे प्राप्त करने में समर्थ हो सके हैं ।

जिन्हें करुणामयी जिनवाणी के वचनों पर अटूट श्रद्धा होती है, तत्त्वार्थ के सार आत्मा के जो पूर्णरूपेण ज्ञाता होते हैं तथा आशा, भय, लोभ और स्नेह से जिनका हृदय दूर बहुत दूर हो जाता है ऐसे नररत्नों के हृदय ही इस मालिका से सुशोभित होते हैं, हुए हैं, और होवेंगे ।

जिनस्य उक्तं जे शुद्ध दृष्टी, सम्यक्त्वधारी बहुगुणसमृद्धिम् ।
ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं, मुक्ती प्रवेशं कथितं जिनेन्द्रैः ॥२५॥

"जिन-उक्त-तत्वों को जानते हैं, जो पूर्ण विधि से सम्यक्त्व धारी ।
आत्म-समाधि सा मिल चुका है, जिनको समुज्ज्वल-तम रत्न भारी ॥
उनके हृदय-कंठ पर ही निरंतर, किल्लोल करतीं ये माल ज्ञानी !
वे ही पुरुष मुक्ति में राज्य करते, कहती जगतपूज्य जिनराज-ज्ञानी ॥"

श्री जिनवाणी ने जिन सिद्धांतों का अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, जो उनको भली भांति अपने जीवन में उतारते हैं; वे सम्यक्त्वनिधि को पाकर त्रैलोक्य के धनी बन जाते हैं । हे श्रेणिक ! सुनो ! ऐसे पुरुष ही इस मालिका को अपने वक्षस्थल पर धारण करने में समर्थ होते हैं और ऐसे ही पुरुष कर्मों के पाश से छूटकर मुक्तिस्थान में पहुँचकर चिरकाल पर्यंत निवास करते हैं ।

सम्यक्त्व शुद्धं मिथ्या विरक्तं, लाजं भयं गारव जेवि त्यक्तं ।
ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं, मुक्तस्य गामी जिनदेव कथितं ॥२६॥

"मिथ्यात्व को सर्वथा त्याग कर जो, नर हो चुके हैं सम्यक्त्व धारी ।
जिनके हृदय लाज, भय से रहित हैं, जिनने किये नष्ट मद अष्ट भारी ॥
उनकी हृदय-सेज ही भव्य जीवो ! इस मालिका की क्रीड़ास्थली है ।
जिनदेव कहते उनके रग का, !! बस खुली शिवनगर की गली है ॥"

जिनके हृदय में शुद्ध सम्यक्त्व का सरोवर लहरें लिया करता है—संसार की विडंबनाओं से जो पूर्ण मुक्ति पा चुके हैं, तथा लौकिक लाज, भय और मदों से अपना पल्ला छुड़ा चुके हैं, हे श्रेणिक ! सुनो ! पुरुषों में ऐसे ही उत्तम पुरुष इतनी क्षमता रखते हैं कि इस अध्यात्म-माला को अपने वक्षस्थल पर सजा सकें और केवल वही पुरुष ही संसार सागर को पार कर मुक्ति नगर पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं ।

जे दर्शनं ज्ञान चारित्र शुद्धं, मिथ्यात्व रागादि असत्य त्यक्तं ।
ते माल दृष्टं हृदयकंठ रुलितं, सम्यक्त्व शुद्धं कर्म विमुक्तं ॥२७॥

शुचि, शुद्ध दर्शन, ज्ञानाचरण से, जिनके हृदय में मची है दिवाली ।
मिथ्यात्व, मद, झूठ, रागादि के हेतु, जिनके न उर में कहीं ठौर खाली ॥
उनके हृदय कंठ पर ही निरंतर, ये माल मनहर लटकती रही है ।
वे ही सुजन हैं जिन शुद्ध दृष्टी, रिपु-कर्म से मुक्ति पाते वही हैं ॥

दर्शन, ज्ञान, आचरण और वह भी सम्यक् की संज्ञा को प्राप्त हुआ ऐसे रत्नत्रय के संयोग से जिनका हृदय दीपावली के समान जगमगाया करता है, मिथ्यात्व भाव या खोटे-राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले पदार्थों का मोह जिनमें रंचमात्र भी निवास नहीं करता, तथा राग द्वेष परिणतियों और असत्य को जो बिलकुल ही तिलांजलि दे चुके हैं, हे श्रेणिक ! ऐसे ही महात्माओं को यह सौभाग्य प्राप्त होता है कि वे उस अध्यात्म-माला के प्रसाद से अपने को कृत-कृत्य कर सकें ।

पदस्थ पिण्डस्थ रूपस्थ चित्तं, रूपा अतीतं जे ध्यान युक्तं।
आर्त रौद्रं मद मान त्यक्तं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥२८॥

पादस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, निमूर्त, इन ध्यान-कुंजों के जो विहारी।
मद-मान-से शत्रुओं के गढ़ों पर, जिनने विजय प्राप्त की भव्य भारी॥
जिनके न तो रौद्र ही पास जाता, जिनको न ध्यानार्त की गंध आती।
ऐसे सुजन-पुंगवों के हृदय ही, यह आत्मगुण-मालिका है सजाती॥

पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये धर्मध्यान के चार भेद ही जिनके दैनिक जीवन के अंग हो जाते हैं, आर्त और रौद्र ध्यान जिनके पास फटकने भी नहीं पाता तथा अष्ट मदों को जलाकर जो भस्म कर चुके हैं, हे श्रेणिक ! ऐसे ही आत्मबल में श्रेष्ठ पुरुष इस माला को अपने हृदय पर पहिरने के अधिकारी हुआ करते हैं।

आज्ञा सुवेदं उपशम धरेत्वं, क्षायिकं शुद्धं जिन उक्त सार्धं।
मिथ्या त्रिभेदं मल राग खंडं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥२९॥

जो श्रेष्ठतम नर वेदक व उपशम, सम्यक्त्व के हैं शुचि शुद्ध धारी।
मिथ्यात्व से हीन, है प्राप्त जिनको, सम्यक्त्व क्षायिक-सा रत्न भारी॥
मद-राग से जो रहित सर्वथा हैं, जो जानते जिन-कथित तत्व पावन।
वे ही हृदस्थल पर देखते हैं, नित राजती, मालिका यह सुहावन॥

आज्ञा, वेदक, उपशम और क्षायिक सम्यक्त्व के जो पूर्णरूपेण धारी हो जाते हैं, तीन प्रकार के मिथ्यात्वों को जो खंड खंड करके एक ओर डाल देते हैं तथा कर्मों के पहाड़ को रजकणों में मिला देने का पुरुषार्थ जिनमें जाग्रत हो जाता है, हे श्रेणिक सुनो ! यह अध्यात्ममाला उनके ही कंठ में निवास करती है।

अंधश्रद्धा से नहीं, विवेकपूर्वक जिन-वचनों पर विश्वास करने को आज्ञा सम्यक्त्व जानना।

जे चेतना लक्षणो चेतनेत्वं, अचेतं विनासी असत्यं च त्यक्तं ।
जिन उक्त सत्यं सु तत्वं प्रकाशं, ते माल दृष्टं हृदयकंठ रुलितं ॥३०॥

चैतन्य-लक्षण-मय आत्मा के, हैं जो निराकुल, निश्चल पुजारी ।
अनृत, अचेतन, विनाशीक, पर में, जिनको नहीं रंच ममता दुखारी ॥
जिनके हृदय में जिन उक्त तत्वों, की नित्य जलती संतप्त ज्वाला ।
उनके हृदय-कंठ को ही जगाती, श्रेणिक सुनो ! यह अध्यात्म-माला ॥

हे श्रेणिक ! और सुनो कि यह माला किसके गले में जयमाल डालती है, उसके जो चैतन्य लक्षण मय आत्मा का बिलकुल और निश्चल पुजारी होता है तथा अचेतन, बिनाशीक और मिथ्या पदार्थों में जिसे रंचमात्र भी श्रद्धा नहीं होती और भगवान के वचनों से जिसका हृदय तीनों काल प्रकाशित रहता है और तत्वों का प्रकाश जिसके हृदय में नित नये ज्योति के पुंज बिखराया करता है।

जे शुद्ध बुद्धस्य गुण सस्य रूपं, रागादि दोषं मल पुंज त्यक्तं ।
धर्मं प्रकाशं मुक्ति प्रवेशं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥३१॥

जिन शुद्ध जीवों को दिख चुकी है, निज आत्मकी माधुरी मूर्ति बाँकी ।
जिनके दृगों के निकट झूलती है, प्रतिपल सुमुखि मुक्ति की दिव्य झाँकी ॥
जो रागद्वेषादि मल से परे हैं, जो धर्म की कान्ति को जगमगाते ।
इस मालिका को वही शुद्ध दृष्टी, अपने हृदय पर फबी देख पाते ॥

जिन्हें अपनी आत्मा की विशुद्ध झाँकी दिख चुकी है—जो शुद्ध बुद्ध परमात्मा और अपनी आत्मा में अब कोई भेद नहीं पाते हैं—राग द्वेष और संसार के अन्य सभी दोष जिनसे कोसों दूर भाग चुके हैं तथा जिनकी यह स्थिति हो गई है कि धर्म में आचरण कर वे अब धर्म के स्थंभ बन गये हैं—धर्म उनसे अब प्रकाशमान होने लगा है। हे राजा श्रेणिक ! ऐसे ही नरश्रेष्ठ इस अध्यात्म गुण की मालिका से अपना यह देव-दुर्लभ जीवन सजाते हैं और उन्हीं के कंठ में रहकर यह समकित माल तीनों काल किल्लोल किया करती है।

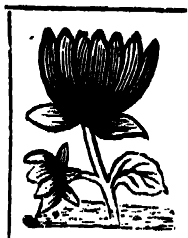
जे सिद्ध नंतं मुक्ति प्रवेशं, शुद्धं स्वरूपं गुण माल ग्रहितं।
जे केवि भव्यात्म सम्यक्त्व शुद्धं, ते जात मोक्षं कथितं जिनेंद्रैः ॥३२॥

अब तक गये विश्व से जीव जितने, चोला पहिन मुक्ति का शिद्ध शाला।
अपने हृदय पर सजा ले गये हैं, वे सब यही आत्म-गुण-पुष्पमाला॥
इस ही तरह शुद्ध सम्यक्त्व धरकर, जो माल धरते यह सौख्यकारी।
कहते जिनेश्वर वे मुक्त होकर, बनते परमब्रह्म आनन्दधारी॥

हे राजा श्रेणिक सुनो! मैं तुम्हें सार की बात बताता हूँ। अब तक जितने भी जीव सिद्धि का चोला पहिन कर मुक्तिशाला को पहुँचे हैं सबके वक्षस्थल इसी मालिका से सुशोभित हुए थे और सदैव ही रहेंगे। तथा आगे जो जीव इस समकित माल को पहिनेंगे वे नररत्न भी मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करेंगे।

यह मालिका क्या है, केवल अपने शुद्ध स्वरूप के गुणों का सम्यक् संकलन।

वैभव या नश्वर लौकिक वस्तुओं से इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु उत्तरोत्तर साधनाओं के निकट यह स्वयं अपने आप ही चली आती है। जो भव्य जन शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त कर आगे भी इसी तरह साधना करते जायेंगे, जिनवाणी का कथन है कि वे भी निश्चय से इसी समकित माल को धारण कर मुक्ति का वह साम्राज्य पाते जायेंगे जो कल्पना से परे है।



अथ कमल बत्तीसी

सम्यक्ज्ञान ही मुक्ति का मार्ग है

आत्मा के स्वभाव को समझने का मार्ग सीधा और सरल है। यदि यथार्थ मार्ग को जानकर उस पर धीरे धीरे चलने लगे तो भी पंथ कटने लगे, परन्तु यदि मार्ग को जाने बिना ही आंखों पर पट्टी बांधकर तेली के बैल की तरह चाहे जितना चलता रहे तो भी वह घूम घामकर वहीं का वहीं बना रहेगा। इसी प्रकार स्वभाव का सरल मार्ग है। उसे जाने बिना ज्ञान नेत्रों को बन्द करके चाहे जितना उलटा सीधा करता रहे और यह माने कि मैंने बहुत कुछ किया है; परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई तूने कुछ नहीं किया, तू संसार का संसार में ही स्थित है, तू किंचित् मात्र भी आगे नहीं बढ़ सका। तूने अपने निर्विकार ज्ञानस्वरूप को नहीं जाना, इसलिये तू अपनी गाड़ी को दौड़ाकर अधिक से अधिक अशुभ से खींच-कर शुभ में ले जाता है और उसी को धर्म मान लेता है, परन्तु इससे तो तू घूम घामकर वहीं का वहीं विकार में ही आ जमता है। विकार-चक्र में चक्कर लगा कर यदि विकार से छूटकर ज्ञान में नहीं आया तो तूने क्या किया? कुछ भी नहीं। —'सम्यग्दर्शन'

श्री तारणस्वामी—

तारण-वाणी



तृतीय धारा (कमलबत्तीसी)



तत्वं च परम तत्वं परमप्पा, परम भाव दरसीए।
परम जिनं परमिस्टी, नमामिहं परम देवदेवस्य ॥१॥

तत्वों में जो तत्व परम हैं, भाव परम दरशाते।
परम जितेन्द्रिय परमेष्ठी जो, परमेश्वर कहलाते ॥
सब देवों में देव परम जो, वीतराग, सुख-साधन।
ऐसे श्री अरहन्त प्रभू को, करता मैं अभिवादन ॥

जो तत्वों में परम तत्व परमात्म स्वरूप जो आत्माएँ श्रेष्ठतम भावों को प्राप्त कर चुकी हैं, ऐसी उन आत्माओं को जो पंच परमेष्ठी पद धारी देवों के द्वारा भी वंदनीय हैं उन्हें मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ। यह आदि मंगल श्री तारन स्वामी ने किया है, यह नमस्कार व्यक्तिवाचक नहीं, गुणवाचक है। 'जैनधर्म में व्यक्ति की नहीं, गुणों की ही मान्यता की गई है।' बस यहीं से अध्यात्मवाद और इसके विपरीत मान्यताओं में जड़वाद का सिद्धान्त बन जाता है।

जिन वयनं सद्दहनं, कमलसिरि कमल भाव उववन्नं ।
आर्जव भाव संजुत्तं, ईर्जं स्वभाव मुक्ति गमनं च ॥२॥

पतितोद्धारक जिनवाणी के, होते जो श्रद्धानी ।
आत्म-कमल से प्रगटैं, उनके, ही भव-भाव भवानी ॥
आत्मबोध का होजाना ही, आकुलता जाना है ।
आकुलता का जाना ही बस, शिव सुख को पाना है ॥

जो पतितोद्धारक जिनवाणी में अटूट श्रद्धा रखते हैं उनके हृदय से, कमल के समान निराकुल और पवित्र भावों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि जहां आत्मबोध हो जाता है, वहां आकुलता समूल नष्ट हो जाती है और जहां आकुलता नहीं वहाँ मुक्ति का द्वार तो फिर खुला ही है, ऐसा समझो।



अन्मोयं न्यान सहावं, रयनं रयन स्वरूपममल न्यानस्य ।
ममलं ममल सहावं, न्यानं अन्मोय सिद्धि संपत्ति ॥३॥

ज्ञान--स्वभाव है, स्वत्व सनातन, आत्मतत्व का प्यारा ।
रत्नत्रय से है प्रदीप्त वह, रत्न प्रखरतम न्यारा ॥
कर्मों से निर्मुक्त सदा वह, शुचि स्वभाव का धारी ।
जो उसमें नित रत रहते वे, पाते शिव सुखकारी ॥

ज्ञान, आत्मा का एक जन्मसिद्ध और सनातन गुण है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नों से वह सदैव ही प्रदीप्त रहता है।

कर्मों के बंधनों से यह नितान्त निर्मुक्त है, अतः ऐसे निर्मल स्वभाव के धारी आत्मतत्त्व का जो ज्ञानी चिंतवन करते हैं, वे निश्चय ही उस सिद्धि-सम्पत्ति के अधिकारी बनते हैं। तात्पर्य यह कि–आत्मा का अपना जो ज्ञान स्वभाव, उससे प्रीति करना ही एकमात्र मोक्षप्राप्ति का उपाय है, साधन है।

जिनयति मिथ्या भावं, अनृत असत्य पर्जाव गलियं च।
गलियं कुन्यान सुभावं, विलयं कम्मान तिविह जोएन ॥४॥

आत्म-मनन से मिथ्यादर्शन; ईंधन-सा जल जाता।
अनृत, अचेतन, असत् पदों में, मोह न फिर रह पाता॥
'सोऽहं' की ध्वनि क्षय कर देती, कुज्ञानों की टोली।
आत्म-चिन्तवन रचदेता है, अष्ट मर्लों की होली॥

आत्ममनन से मिथ्यादर्शन, ईंधन के समान जलकर भस्म हो जाता है, जिसका फल यह होता है कि अनृत, अचेतन और असत् पदार्थों में फिर मोह रहता ही नहीं।

कुज्ञानों का समूह आत्म-मनन की ध्वनि को सुनकर पलायमान हो जाता है और अष्ट कर्मों की तो यह आत्म-मनन मानों होली ही रचकर भस्मीभूत कर देता है।

नन्द आनन्दं रूवं, चेयन आनन्द पर्जाव गलियं च।
न्यानेन न्यान अन्मोयं, अन्मोयं न्यान कम्म षिपनं च ॥५॥

परम ब्रह्म में जब रत होता, मन-मधुकर-मतवाला।
सत् चित्, आनन्द से भर उठता, तब अंतर का प्याला॥
ज्ञानी चेतन, ज्ञान-कुण्ड में, खाता फिर फिर गोते।
मलिन भाव और सबल कर्म तब, पल पल में क्षय होते॥

जिस समय यह मन परम ब्रह्म स्वरूप शुद्धात्मा के चिंतवन में लीन होता है, उस समय सत् चित और आनन्द से अंतरंग हृदय भर जाता है। होता यह है कि चेतन के ज्ञान कुण्ड में बार बार गोता लगाने से, हमारी मलिन आत्मा के समस्त मलिन भाव और कर्म क्रमशः क्षीण होने लगते हैं, जो कर्मावरण क्षीण होने से हमें हमारा वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी का दूसरा नाम सम्यक्त्व का उदय है अथवा आत्म-साक्षात्कार हो जाना है।

कम्म सहावं षिपनं, उत्पन्न षिपिय दिष्टि सद्भावं ।
चेयन रूव संजुत्तं, गलियं विलयंति कम्म बंधानं ॥६॥

कर्मों का नश्वर स्वभाव है, जब वे खिर जाते हैं ।
क्षायिक-सम्यग्दर्शन-सा तब, रत्न मनुज पाते हैं ॥
क्षायिक सम्यग्दृष्टी नित प्रति, आत्म-ध्यान धरता है ।
जन्म जन्म के कर्मों को वह, क्षण में क्षय करता है ॥

कर्मों का स्वभाव नश्वर है—क्षयशील है और जब वे खिरने लग जाते हैं, तब ज्ञानी के हाथों में मानों एक अनुपम रत्न की प्राप्ति हो जाती है जिसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने स्वभाव के अनुरूप ही आत्म-अर्चना में मग्न रहता है, जिससे जन्म जन्म के संचित कर्मों को वह अल्पकाल में ही नष्ट कर देता है और केवलज्ञान लक्ष्मी का अधिपति बनकर पंचमगति पा लेता है।



मन सुभाव संषिपनं, संसारे सरनि भाव षिपनं च ।
न्यान बलेन विसुद्धं, अन्मोयं ममल मुक्ति गमनं च ॥७॥

इस चंचल मन का स्वभाव है, नाशवान प्रिय भाई ।
नश्वर है मिथ्यादर्शन की, भी प्रकृति दुखदाई ॥
आत्मज्ञान ही सरल शुद्ध, भावों को उपजाता है ।
सरल शुद्ध भावों के बल से, ही नर शिव पाता है ॥

मन का स्वभाव भी नश्वर है, और मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति भी शाश्वत नहीं है, क्षीण होने वाली है। आत्मज्ञान से मन की प्रकृति और मिथ्यादर्शन की प्रकृति ये दोनों नष्ट हो जाती हैं और उनकी जगह सरल और शुद्ध भाव ग्रहण कर लेते हैं और इन सरल शुद्ध भावों के बल पर ही मनुष्य मुक्तिलोक की अपार सम्पदा का अधिकारी बन जाता है। अतः शुद्ध भावों की जाग्रति एवं रक्षा और दिन प्रति दिन वृद्धि करनी चाहिये, बस यही मनुष्यजीवन की सार्थकता है, सारभूत पुरुषार्थ है, मोक्ष का उपाय है।

वैरागं तिविहि उवनं, जनरंजन रागभाव गलियं च ।
कलरंजन दोष विमुक्कं, मनरंजन गारवेन तिक्तं च ॥८॥

भव, तन, भोगों से निस्पृह, बन जाता आत्म-पुजारी ।
जन-रंजन गारव न उसे रह, देता दुख दुखकारी ॥
तन-रंजन के य से वह, छुटकारा पा जाता है ।
मन-रंजन गारव भी उसके, पास न फिर आता है ॥

आत्मा का मनन करने वाला, जनरंजन, तन रंजन, और मन रंजन इन तीनों भावों से छुटकारा पा जाता है। आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी को न तो फिर लोक को रंजायमान अर्थात् प्रसन्न करने की प्रवृत्ति रहती है, और न तन को व मन को भी। इन तीनों की ओर से वह पूर्ण उदासीन ही बन जाता है। उसके चित्त में तो केवल वैराग्य ही किल्लोलें करता है।

दर्सन मोहंध विमुक्कं, रागं दोषं च विषय गलियं च ।
ममल सुभाउ उवन्नं, नन्त चतुस्टये दिस्टि संदर्स ॥९॥

दर्शन-मोह से हो जाता है, मुक्त आत्म का ध्यानी ।
रागद्वेष से उसकी ममता, हट जाती दुखदानी ॥
घट में उसके आत्म-भाव का, हो जाता उजियाला ।
नंत चतुष्टय की जिसमें नित, जगती रहती ज्वाला ॥

आत्म-ध्यानी पुरुष दर्शनमोह से मुक्त हो जाता है; राग द्वेष से उसकी ममता घट जाती है और उसके घट में आत्मभाव का सुन्दर उजियाला हो जाता है। वह उजियाला जिसमें अनन्त चतुष्टय की प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती रहती है।

तिअर्थं सुद्ध दिष्टं, पंचार्थं पंच न्यान परमेस्टी ।
पंचाचार सु चरनं, सम्मत्तं सुद्ध न्यान आचरनं ॥१०॥

सम्यग्दृष्टी नितप्रति निर्मल, रत्नत्रय को ध्याता ।
पंच ज्ञान, पंचार्थ, पंच प्रभु, का होता वह ज्ञाता ॥
पंचाचारों का नितप्रति ही, वह पालन करता है ।
सब मिथ्या व्यवहार त्याग वह, आत्म-ध्यान धरता है ॥

जिसे आत्मबोध हो जाता है या जो एकमात्र आत्मा का ही पुजारी रहता है वह नित प्रति रत्नत्रय का ही चिन्तवन किया करता है।

पांचों ज्ञान, पांचों तत्त्व तथा पांचों प्रभु के गुणों का वह पूर्ण ज्ञाता रहता है। पंचाचारों का वह नियम पूर्वक पालन करता है तथा मिथ्या व्यवहारों से वह अपना अंचल छुड़ाकर सदा आत्मध्यान में ही लवलीन रहा करता है। यही सब उसके ज्ञान सहित व सम्यक्त्व सहित बाह्य व अभ्यन्तर आचरण हैं।

दर्सन न्यान सुचरनं, देवं च परम देव सुद्धं च ।
गुरुवं च परम गुरुवं, धर्मं च परम धर्म संभावं ॥११॥

आत्म तत्व ही इस त्रिभुवन में, सच्चा रत्नत्रय है ।
सब देवों का देव वही, परमेश्वर एक अजय है ॥
आत्म तत्व ही सब गुरुओं में, श्रेष्ठ परम गुरु ज्ञानी ।
सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म बस, आत्म तत्व सुखदानी ॥

इस त्रिभुवन में यदि कोई सच्चा रत्नत्रय है तो वह है शुद्धात्मा, सच्चा देव कोई है तो वह है शुद्धात्मा, गुरु यदि सच्चा गुरु है तो वह है शुद्धात्मा और धर्म कोई है तो वह भी शुद्धात्मा ही है, जिसकी विद्यमानता बाहर कहीं नहीं, अपने आप में घट घट में है।

तात्पर्य यह कि—अपने आपकी शुद्धात्म-परिणति ही सम्यक्त्व है और वही संसार सागर से पार लगाने वाला सच्चा धर्म है।

जिन पंच परम जिनयं न्यानं पंचामि अक्षरं जोयं ।
न्यानेय न्यान विधं, ममल सुभावेन सिद्धि सम्पत्तं ॥१२॥

आत्म तत्व ही सम्यक्त्वी का, परमेष्ठी पद प्यारा ।
आत्म तत्व ही उसका, केवलज्ञान अलौकिक न्यारा ॥
आत्म तत्व के अनुभव से ही, आत्मज्ञान बढ़ता है ।
आत्मज्ञान के बल पर ही नर, शिवपथ पर चढ़ता है ॥

सम्यग्दृष्टी पुरुष के लिये आत्मतत्त्व ही पमेष्ठी का पद है और वही उसे सिद्ध है, सिद्ध प्रभु व अरहंत प्रभु का केवलज्ञान है। इस आत्म-तत्त्व का अनुभव आत्मज्ञान के बढ़ाने में अत्यन्त ही सह-कारी होता है और यही आत्मज्ञान हो वास्तव में वह नौका या जहाज है जिस पर बैठकर यह मानव संसार सागर से पार हो जाता है।

चिदानन्द चिंतवनं, चेयन आनन्द सहाव आनन्दं ।
कम्ममल पयडि षिपनं, ममल सहावेन अन्मोय संजुत्तं ॥१३॥

सत्-चित्-आनन्द चेतन में तुम, रमण करो प्रिय भाई !
इससे तुमको होगा अनुभव, एक अकथ सुखदाई ॥
मुरझा जाती है पापों की, आत्म मनन से माला ।
कर्म प्रकृतियों की हो जाती, हिम-सी ठण्डी ज्वाला ॥

हे भाइयो ! तुम सत् चित आनन्द के घर इस आत्मा में रमण करो; इससे तुम्हें एक अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति प्राप्त होगी। आत्ममनन से पापों की माला मुरझा जाती है, और कर्म प्रकृतियों की ज्वाला इससे हिम के समान ठंडी-शीतल हो जाती है।

अप्पा पर पिच्छंतो, पर पर्जाव सल्य मुक्कं च ।
न्यान सहावं सुद्धं, चरनस्य अन्मोय संजुत्तं ॥१४॥

आत्म द्रव्य का पर स्वभाव है, पर द्रव्यों का पर है ।
इस मन में बहता जब ऐसा, ज्ञानमयी निर्झर है ॥
पर परिणतियें, शल्यें तब सब, सहसा ढह जातीं हैं ।
निज स्वरूप की ही तब फिर फिर, झांकी दिखलाती हैं ॥

आत्मद्रव्य का स्वभाव चैतन्य लक्षण कर विभूषित है, जबकि अनात्म-द्रव्यों का स्वभाव केवल जड़-चेतनाहीन है अर्थात् आत्मा से सर्वथा भिन्न है। जिस समय अंतरंग में यह भेदज्ञान का निर्झर बहता है, तो संसार की सारी पर परिणतियें और शल्यें बालू की दीवार के समान अपने आप ढहने लगती हैं और फिर आत्मा के दर्पण में आत्मा को केवल अपनी और केवल अपनी ही विशुद्ध छबि दिखाई देती है। यदि कदाचित किसी कार्य कारण से उसमें पर-परिणति का रंचमात्र भी संचार दृष्टि-गोचर होता है तो उसे वह तत्काल प्रथक् कर देता है।



अबम्भं न चवन्तं, विकहा विनस्य विषय मुक्कं च ।
न्यान सुहाव सु समयं, समय सहकार ममल अन्मोयं ॥१५॥

परमब्रह्म में जब चंचल मन, निश्चल हो रम जाता ।
तब न वहां पर अन्य; किन्तु, निज आत्मस्वरूप दिखाता ॥
चारों विकथा, व्यसन, विषय, उस क्षण छुप-से जाते हैं ।
परमब्रह्म में रत मन होता, मल सब धुल जाते हैं ॥

जब परम ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप शुद्धात्मा में यह मन निश्चल होकर रम जाता है तब फिर उसकी दृष्टि में केवल एक और एक ही पदार्थ दृष्टिगोचर होता है और वह पदार्थ होता है उसका स्वयं का स्वरूप-आत्मस्वरूप। संसार की सारी व्यर्थ चर्चायें और विषय कषाय उस क्षण जैसे कहीं छिप से जाते हैं और आत्मा के साथ जितने कर्मबंध हैं लगता यह है कि जैसे वे उस समय धीरे धीरे धुल रहे हैं, खिर रहे हैं अर्थात् निर्जरा हो रहे हैं।

जिन वयनं च सहावं, जिनय मिथ्यात कषाय कम्मानं ।
अप्पा सुद्धप्पानं, परमप्पा ममल दर्सए सुद्धं ॥१६॥

जिन-मुख सरसीरुह की है यह, ऐसी प्रिय जिनवाणी ।
मल, मिथ्यात्व, कषायें सबको, पल में हरती ज्ञानी ॥
आत्मतत्व ही शुद्ध तत्व है, जिन प्रभु कहते भाई ।
आत्म-मुकुर में ही बस तुमको, देंगे प्रभु दिखलाई ॥

निश्चयनय का यह जो कुछ भी कथन है यह परम्परा से ही चला आया है, और इसके मूल में जिनवाणी का ही श्रोत झर झर कर रहा है। जिनवाणी का कथन है कि हे भाइयो! संसार में केवल शुद्धात्मा ही एक विशुद्ध तत्त्व है और इसी तत्त्व के दर्पण में तुम्हें परमेश्वर की माधुरी छवि दृष्टिगोचर होगी।

जिन दिष्टि इष्टि संसुद्धं, इस्टं संजोय विगत अनिष्टं ।
इस्टं च इस्ट रूवं, ममल सहावेन कम्म संषिपनं ॥१७॥

जिनवाणी की श्रद्धा हिय में, शुचि पावनता लाती ।
विरह अनिष्टों से, इष्टों से, यह संयोग कराती ॥
त्रिभुवन में सबसे मृदुतम बस, आत्म-मनन की प्याली ।
आत्म-मनन से ही टूटेगी, कर्म-कमठ की जाली ॥

जिनवाणी की श्रद्धा हृदय में पूर्ण विशुद्धता का सृजन करती है, जिससे अनिष्ट पदार्थों से तो हमारा छुटकारा हो जाता है और इष्ट पदार्थ हमें बिना प्रयास किये ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान का यह वचन है कि त्रिभुवन में सबसे इष्ट वस्तु यदि कोई है तो वह है शुद्धात्मा की अर्चना और शुद्धात्मा की अर्चना में ही यह शक्ति विद्यमान है कि वह कर्म के लोह-बंधनों को जर्जर करके तोड़ सके।

अन्यानं नहि दिट्ठं, न्यान सहावेन अन्मोय ममलं च।
न्यानंतरं न दिट्ठं, पर पर्जाव दिट्ठि अंतरं सहसा ॥१८॥

क्षायिक सम्यग्दष्टी में, अज्ञान नहीं रहता है।
ज्ञान-तरंगों पर चढ़, नित वह, शिव-सुख में बहता है॥
आत्म-ज्ञान में अंतर उसके, नेक नहीं दिखलाता।
भेद-भाव, पर परिणतियों में, पर सहसा आ जाता॥

आत्ममनन करने वाले विज्ञानी के अंतरंग में अज्ञान का वास ढूंढे से भी नहीं मिलता है और वह नित्य प्रति ज्ञान की तरंगों पर ही हिलोरें लिया करता है। समय के प्रभाव से यह नहीं होता कि कभी उसके आत्म-ज्ञान में अन्तर पड़ जाये या न्यूनता आ जाये। हां, यह अवश्य हो जाता है कि जो परिणितियें कल उसमें अन्तरंग में विद्यमान थीं, वे आज वहाँ दिखाई भी न दें और उनकी जगह शुद्ध भावनाओं की नई तरंग ले ले। पर परिणतियों से तो उसे भेदभाव और विशेष भेदभाव उत्पन्न हो जाता है, उन्हें तो वह अपने में फटकने भी नहीं देता-स्पर्श भी नहीं करने देता।

अप्पा अप्प सहावं, अप्पसुद्धप्प ममल परमप्पो।
परम सरूवं रूवं, रूवं विगतं च ममल न्यानं च ॥१९॥

आत्म द्रव्य ही है परमोत्तम, शुद्ध स्वरूप हमारा।
वह ही है शुद्धात्म यही है, परमब्रह्म प्रभु प्यारा॥
त्रिभुवन में चेतन-सा उत्तम, रूप न और कहीं है।
है यह ज्ञानाकार, अन्यतम इसका रूप नहीं है॥

हमारे शुद्ध स्वरूप की यदि कहीं कोई छवि है तो वह हमारी आत्मा में विद्यमान है। हमारी वह आत्मा इसी लिये हमें शुद्धात्मा है और इसी लिये परमात्मा। तीनों लोक में इस आत्मा सा ज्ञानाकार उत्तम पदार्थ न कहीं है और न कभी होगा ही।

ममलं ममल सरूवं, न्यान विन्यान न्यान सहकारं ।
जिन उत्तं जिन वयनं, जिन सहकारेन मुक्तिगमनं च ॥२०॥

जिनके अमृत-वचन मोक्ष से, मृदु फल के दायक हैं ।
हस्तमलकवत् जो त्रिभुवन के, घट घट के ज्ञायक हैं ॥
ऐसे जिन प्रभु भी यह कहते, चेतन अविकारी है ।
आत्म-ज्ञान ही पंच ज्ञान के, पथ में सहकारी है ॥

जिनके अमृत रूपी वचन मोक्ष का सा मधुर फल देने वाले हैं तथा जो त्रिभुवन के घट घट के ज्ञाता हैं, ऐसे जिनेन्द्र प्रभु भी केवल एक ही बात कहते हैं और वह यही कि हे भव्यो ! तुम्हारे घट में जो आत्मा का वास है तुम उसी के ज्ञान गुणों में तल्लीन होकर केवल उसी का मनन करो, क्योंकि वह आत्मा चेतनता से युक्त एक निर्विकार पदार्थ है, तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति भी आत्मज्ञान से ही होती है ।

षट्काई जीवानां, क्रिया सहकार ममल भावेन,
सत्तु जीव सभावं, कृपा सह ममल कलिष्ट जीवानं ॥२१॥

अनिल, अनल, जल, धरणि, वनस्पति, औ त्रस तन में ज्ञानी !
पाये जाते हैं वसुधा पर, सब संसारी प्राणी ॥
इन जीवों पर दयाभाव ही, समताभाव कहाता ।
चेतन का यह चिर-स्वभाव है, भाव-विशुद्ध बढ़ाता ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और वनस्पति इन सबमें तथा त्रस पर्यायों में अगणित षट्कायिक जीवों का वास है । इन जीवों पर दया भाव करना ही समता भाव कहलाता है और यह समता भाव चेतन का चिर-स्वभाव है जिसके बल पर भावविशुद्धि में नितप्रति वृद्धि होती रहती है । षट्काय के सभी जीवों को अपना शरीर मोह के वशीभूत इष्ट लगता है, उसमें दुःख का भान कराने का नाम हिंसा है और सुख-साता का भान कराना दया करना है ।

एकांत विप्रिय न दिट्ठं, मध्यस्थं ममल शुद्ध सब्भावं ।
सुद्ध सहावं उत्तं, ममल दिट्ठि च कम्म षिपनं च ॥२२

ज्ञानी जन एकान्त विपर्यय, भाव न मन में लाते ।
स्याद्वाद-नय पर चढ़कर वे, मध्य-भाव अपनाते ॥
भावों में शुचिता आना ही, कर्मों का जाना है ।
कर्मों का जाना ही भाई ! शिव-पथ को पाना है ॥

ज्ञानी जन एकान्त, विपर्यय या एकांगी भाव को कभी भी अपने मन में स्थान नहीं देते, प्रत्युत वे मध्यस्थ भाव ही सदैव रखते हैं। मध्यस्थ भाव अपनाने से भावों में विशुद्धता आती है; भाव विशुद्ध होने से कर्मों की बेड़ियां टूटने से उस स्थल की प्राप्ति हो जाती है जिसके लिये मनुष्य कोटि कोटि वर्षों पर्यन्त तप करता है फिर भी कदाचित् उस स्थल-मोक्षस्थान को नहीं पाता।

सत्वं क्लिष्ट जीवा, अन्मोयं सहकार दुग्गए गमनं ।
जे विरोह सभावं, संसारे सरनि दुःषवीयम्मि ॥२३॥

जो नर संसारी जीवों को, पीड़ा पहुँचाते हैं ।
या पर से दुख पहुँचा उनको, जो अति सुख पाते हैं ॥
ऐसे दुष्टों का होता बस, नर्क-स्थल में डेरा ।
असम-भाव जिसके, उसको बस, मिलता नर्क बसेरा ॥

जो मनुष्य संसारी-षट्काय के जीवों को पीड़ा पहुँचाते हैं ऐसे उन दुष्टों का बसेरा केवल नर्क में ही होता है, क्योंकि सिद्धांत इस बात को उच्च स्वरों से कहता है कि जिसके भावों में विषमता (हिंसक क्रूरता) रहती है उसको केवल नर्क में ही डेरा मिलेगा। अथवा वे भव भव के लिए दुखों का ही बीज बोते रहेंगे। तात्पर्य यह कि विषम भावों से विषम योनियों को प्राप्त होगा यह संसारमान्य सिद्धान्त है, केवल एक जैनधर्म का ही नहीं।

न्यान सहाव सु समयं, अन्मोयं ममल न्यान सहकारं ।
न्यानं न्यान सरूवं, ममलं अन्मोय सिद्धि सम्पत्तं ॥२४॥

आत्म-सरोवर में रमना ही, ज्ञान-स्वरूप है भाई !
आत्मज्ञान से ही मिलता है, केवलज्ञान सुहाई ॥
आत्मज्ञान ही से पाता नर, पद अरहन्त सुखारी ।
आत्मज्ञान के बल पर ही नर, बनते शिव-अधिकारी ॥

आत्म-सरोवर में रमण करना और ज्ञान-स्वरूप में आचरण करना ये दोनों शब्द एक ही पर्याय के वाची हैं जिनसे आत्मज्ञान और कालान्तर में केवलज्ञान की उपलब्धि होती है।

आत्मज्ञान से ही मनुष्य बढ़ते बढ़ते अरहन्त पद को प्राप्त कर लेता है और अरहन्त पद से ही वह मुक्ति के साम्राज्य में जाकर अपना निवास बना लेता है।

इष्टं च परम इष्टं, इष्टं अन्मोय विगत अनिष्टं ।
पर पर्जायं विलयं, न्यान सहावेन कम्मजिनियं च ॥२५॥

त्रिभुवन में सर्वोत्कृष्ट बस, इस चेतन का पद है ।
निज स्वरूप में रमना ही बस, अहित-विगत सुख-प्रद है ॥
आत्म मनन से कर्मों की सब, बेड़ी कट जाती हैं ।
इसके सन्मुख पर पर्यायें, पास नहीं आती हैं ॥

त्रिभुवन में यदि कोई सबसे श्रेष्ठ पद है तो वह केवल एक शुद्धात्मा का ही है, और यदि कोई सर्वोच्च सुख प्रदान करने वाली स्थिति है तो वह है आत्मरमण। आत्मरमण से कर्मों की सारी बेड़ियां कटकर खंड खंड हो जाती हैं और जब तक आत्मरमण की यह स्थिति विद्यमान रहती है तब तक संसार की पर पर्यायें इसके सम्मुख पदार्पण नहीं करतीं—वे दूर रहती हैं।

जिन वयन सुद्ध सुद्धं, अन्मोयं ममल सुद्ध सहकारं ।
ममलं ममल सरूवं, जं रयनं रयन सरूव संमिलियं ॥२६॥

श्री जिनवाणी निश्चयनय का, प्रिय सन्देश सुनाती ।
त्रिभुवनतल में उससी पावन, वस्तु न और लखाती ॥
ज्ञान-सिन्धु आतम का भव्यो ! रूप परम पावन है ।
आत्म-मनन से ही मिलता बस, रत्नत्रय सा धन है ॥

करुणामयी जिनवाणी निश्चय का पवित्र सन्देश सुनाते हुए हमको जगा जगाकर कहती है कि हे भव्यो ! ज्ञान-सिन्धु आत्मा का रूप सबसे विशुद्धतम रूप है, तुम इसी का मनन करो, क्योंकि मोक्ष के द्वार रत्नत्रय की प्राप्ति केवल आत्म-मनन से ही होती है।

सेष्टं च गुन उववन्नं, सेष्टं सहकार कम्म संषिपनं ।
सेष्टं च इष्ट कमलं, कमलंसिरि कमल भाव उववन्नं ॥२७॥

जगता है शुद्धोपयोग गुण, आत्म-मनन से भाई ।
जिसके बल से गल जाते सब, कर्म महा दुखदाई ॥
कर्म काट, अरहन्त महापद, आत्म-कमल पाता है ।
और यही निज-रूप रमण फिर, शिवपुर दिखलाता है ॥

भव्यो ! आत्ममनन से अन्तर में शुद्धोपयोग की जाग्रति होती है—शुद्धोपयोग का संचार होता है जिसके द्वारा आत्मा के प्रदेशों से चिपटे हुए सारे कर्म पृथक होने लग जाते हैं कि यही आत्मा अरहंत पद प्राप्त कर लेती है। अरहन्त पद सन्निकट-प्राप्त होने पर मुक्ति का मार्ग तो क्या वह स्वयं मुक्त स्वरूप हो जाता है और समय आने पर द्रव्यमुक्त हो जाता है—मोक्षधाम में जा बिराजता है।

जिन वयनं सहकारं, मिथ्या कुन्यान सल्य तिक्तं च ।
विगतं विषय कषायं, न्यानं अन्मोय कम्म गलियं च ॥२८॥

भव-सागर अति दुर्गम, दुस्तर, थाह न इसकी प्राणी !
इसको तारन में समर्थ बस, एक महा जिनवाणी ॥
जिनवाणी कुज्ञान, कषायें, शल्य, विषय क्षय करती ।
निश्चयनय का गीत सुना यह, सब कर्मों को हरती ॥

यह संसार सागर महा गहन और दुस्तर है, इससे पार करने में केवल एक जिनवाणी ही समर्थ है। जिनवाणी—कुज्ञान, कषायें, शल्य और विषय इन सबका क्षय कर देती है और निश्चय नय का गीत सुनाकर समस्त कर्मों को क्षय कर देती है। ऐसी जिनवाणी की शरण लेना व उसकी आज्ञानुसार चलना ही कल्याणकारी है। तात्पर्य यह कि कर्मों का क्षय करने वाली जिनवाणी ही है।



कमलं कमल सहावं, षट्कमलं तिअर्थ ममल आनन्दं ।
दर्सन न्यान सरूवं, चरनं अन्मोय कम्म संषिपनं ॥२९॥

आत्म-कमल अरहन्त रूप में, जिस क्षण मुसकाता है ।
उस क्षण ही, षट गुण त्रिरत्न-दल उसको विकसाता है ॥
दर्शन-ज्ञान-सरोवर में तब, आत्म रमण करता है ।
और अघातिय कर्म नाश, वह शिव में पग धरता है ॥

ज्ञान सूर्य के उदय होने पर जिस समय आत्म-कमल प्रफुल्लित होता है उस समय शरीर रचना में जो छह कमल वे सब प्रफुल्लित हो जाते हैं और तीन रत्न सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का विकास हो जाता है। इस स्थिति में ज्ञानी आत्मरमण में तल्लीन हो जाता है और अघातिया कर्मों का विध्वंस करके वह मुक्ति नगर की ओर अग्रसर हो जाता है। केवलज्ञानी हो जाता है।

संसार सरनि नहु दिट्ठं, नहु दिट्ठं समल पर्जाय सुभावं।
न्यानं कमल सहावं, न्यान विन्यान ममल अन्मोयं ॥३०॥

सिद्ध न संसारी जीवों से, भव भव गोते खावें ।
अशुचि मलिन परिणतियें उनके, पास न जाने पावें ॥
उनके उर में कमल-सदृश बस, केवलज्ञान विहंसता ।
शुद्ध ज्ञान, सत्-चित् सुख ही बस, उनके हिय में बसता ॥

जो जीव सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं वे संसार में गोता खाने के लिये फिर यहां कभी नहीं आते, और न फिर उनके पास अशुचि या मलिन परिणतियें ही जाने पाती हैं। उनके अन्तरंग में तो कमल के समान बस केवलज्ञान ही मुस्कुराया करता है और वे तो केवल सत् चित और आनन्द की सम्पदा को प्राप्त कर अपने आप में ही संतुष्ट रहा करते हैं।

जिन उत्तं सद्दहनं, अप्पा परमप्प सुद्ध ममलं च।
परमप्पा उवलद्धं, परम सुभावेन कम्म विलयन्ती ॥३१॥

'विज्ञो ! अपना आत्म देव ही, है जग का परमेश्वर ।
बरसाते इस वाक्य सुधा को, तारण तरण जिनेश्वर ॥
जो जन, जिन-वच पर श्रद्धा कर, बनता आत्म पुजारी ।
कर्म काट, भवसागर तर वह, बनता मोक्ष-विहारी ॥

हे विज्ञो ! अपना आत्मदेव ही संसार का एकमात्र परमेश्वर है, ऐसा संसार पार करने वाली जिनवाणी का कथन है। जो मनुष्य जिनवाणी के इस कथन पर श्रद्धापूर्वक आत्मा के पुजारी बनते हैं वे निश्चय से ही कर्म काटकर मुक्ति नगर को प्राप्त कर लेते हैं।

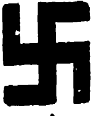
जिन दिष्ट उत्त सुद्धं, जिनयति कम्मान तिविह जोएन।
न्यानं अन्मोय ममलं, ममल सरूवं च मुक्ति गमनं च ॥३२॥

जैसा जिन ने देखा, जैसा वचन-अमिय बरसाया।
वैसे ही शुद्धात्म तत्व का, मैंने रूप दिखाया॥
त्रिविध योग से सतत करेंगे, जो आतम आराधन।
कर्म जीत, वे ज्ञानानन्द हो; पावेंगे शिव पावन॥

मैंने जो यह कथन किया है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, श्री जिनवाणी के चरण कमलों का अनुसरण करके ही मैंने सब कुछ कहा है।

मेरा विश्वास है कि मन, वचन और काय के नियोग से जो आत्मा का आराधन करेंगे वे अवश्य ही कर्मों के बंध काटकर एक दिन मुक्ति श्री के दर्शन कर अपने जीवन और ज्ञान चक्षुओं को सफल करेंगे। इतना ही नहीं, समय पाकर उसके स्वामी बनकर शाश्वत सुख के भोगी बनेंगे।






— प्रातः कालीन —

❋ जिनवाणी-प्रार्थना ❋

जय करुणामय जिनवाणी ! जय जय माँ ! मंगलपाणी !!

स्याद्वाद नय के प्राङ्गण में बहे तुम्हारी धारा,
परम अहिंसा मार्ग तुम्हारा निर्मल, प्यारा, प्यारा !
माँ ! तुम इस युग की वाणी ! सब गुणखानी !!

अशरण शरणा, प्रणतपालिका माता नाम तुम्हारा ।
कोटि-कोटि पतितों के दल को तुमने पार उतारा ।।
क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी ? तिर्यग् प्राणी !!

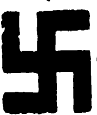
मोह-मान-मिथ्यात्व मेरु को तुमने भस्म बनाया ।
जिसने तुम्हें नयन भर देखा, जीवन का फल पाया ।।
तुम मुक्ति-नगर की रानी ! शिवा भवानी !!

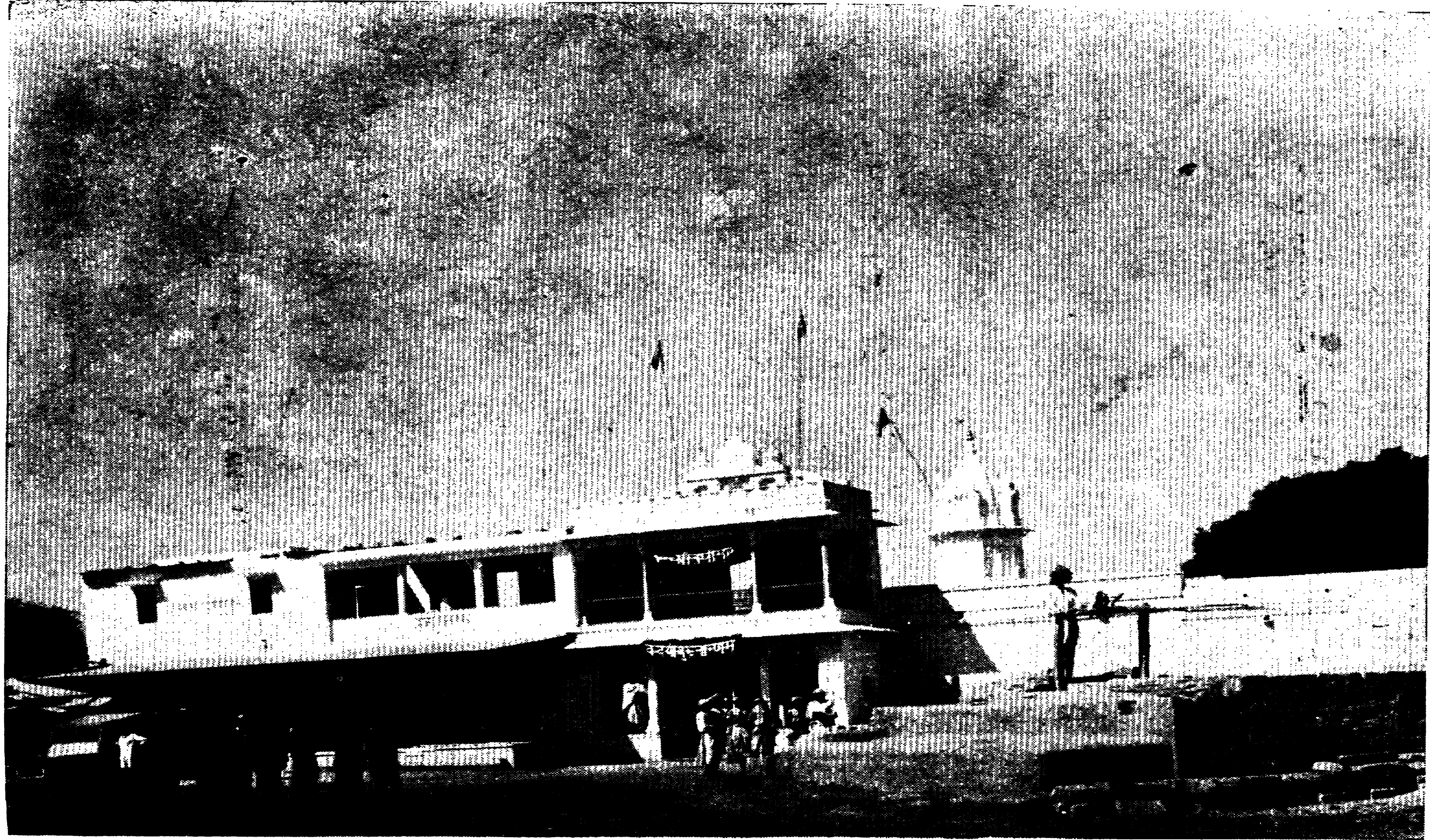
कुन्दकुन्द, योगीन्दु देव से तुमने सुत उपजाये ।
तारणस्वामी, उमास्वामि से तुमने सूर्य जगाये ।।
माँ ! कौन तुम्हारी शानी ? तुम लाशानी !!

"यह भव-पारावार कठिन है इसका दूर किनारा !
इसके तरने को समर्थ है, आत्म-जहाज हमारा ।"
यह माँ की सुन्दर वाणी ! शिवसुख दानी !!

माता ! ये पद-पद्म तुम्हारे हमसे कभी न छूटें ।
छूटें ही तो तब, जब 'चंचल' जन्म-मरण से छूटें ।।
माँ ! तुम चन्दन हम पानी ! हृदय समानीं !!

—'चंचल'



तीर्थक्षेत्र श्री मेमगखेडी जी

तारण-वाणी

मंगलाचरण

१—ॐ नमः सिद्धं=ओम् स्वरूप को नमस्कार, जो स्वयं सिद्ध है। यह नमस्कार व्यक्ति-वाचक नहीं, गुणवाचक है। श्री तीर्थंकर जब दीक्षार्थ गमन करते हैं तब 'ॐ नमः सिद्धं' यही नमस्कार करते हैं। यदि वे व्यक्ति के पुजारी होते तो अपने से पूर्व में हुए तीर्थंकरों को नमस्कार करते। किन्तु उन्हें तीर्थंकरत्व अभीष्ट न था, उन्हें तो 'ॐ' स्वरूप अपना आत्मा ही अभीष्ट था। नमस्कार का एकमात्र प्रयोजन 'तद्गुणलब्धये' ही होता है।

जैनधर्म का मूल सिद्धान्त यही है। इसीलिए जैनधर्म स्वावलंबी है, परावलंबी नहीं। भगवान हमारा कल्याण करेंगे अथवा भगवान की पूजा से हमारा कल्याण हो जायगा या हो रहा है, यह परावलंबता है, जैनधर्म के विरुद्ध मान्यता है, भ्रम है। आत्मा की पूजा याने आत्मगुणों की आराधना, भक्ति और विकाश करना यह स्वावलंबिता है, जैन सिद्धान्त है, सही मान्यता है। इसीलिए श्री तारण स्वामी ने ग्रन्थ के प्रारंभ में नमस्कार-रूप मंगलाचरण "ॐ नमः सिद्धं" इसी का किया है। और पूरे ग्रन्थ में—आद्योपान्त 'ॐ' स्वरूप स्वात्मा की पूजा, भक्ति, आराधना, नमस्कार, दर्शन, स्तुति करते हुए उसे विकास में लाने, दोष रहित करने व आत्मा में परमात्मभाव की जाग्रति करने के समस्त साधनों का वर्णन किया है। उनका आत्मा ही आराधक व आत्मा ही आराध्य देव था। आत्मा ही ध्यान, आत्मा ही ध्याता और आत्मा ही ध्येय था। आत्मा ही ज्ञान, आत्मा ही ज्ञाता और आत्मा ही ज्ञेय था। आत्मा ही दर्शन, आत्मा ही ज्ञान और आत्मा ही चारित्र था। आत्मगुण पूजा की सामग्री, आत्मभावनाएँ पुजारी और आत्मा ही देव था। आत्मा ही आत्मा में आत्मा से आत्मा की शुद्ध परिणति लेकर आत्मा ही के लिये आत्मकल्याण को रमण करना था और यही मार्ग कल्याणकारी उनकी दृष्टि में था। जैनधर्मानुसार था अथवा जन-हितकारी था।

जैनधर्म साम्प्रदायिक नहीं आत्मधर्म है। मानव तो क्या प्राणीमात्र के साथ वह धर्म न्यूनाधिक रूप से अपना प्रकाश कर रहा है और यथायोग्य हित भी कर रहा है। ऐसी उनकी विचार धारा थी। उनकी इस विचारधारा के प्रमाणस्वरूप उनके द्वारा रचित श्री अध्यात्मवाणी ग्रन्थ है तथा जाति-पांति के भेदभाव रहित सब को अपनाना है। प्रत्येक धार्मिक और व्यावहारिक क्रियाओं में आत्म-ज्ञान को पुट होना चाहिए यह उनका मूल मन्त्र है। बिना आत्मभावना के समस्त क्रियाएँ

निरर्थक हैं, ऐसा उन्होंने प्रतिपादन किया है। श्री तीर्थंकरों के उपदेश को चिंतामणि रत्न की उपमा देकर उस उपदेश के अपार गुण गाये, किन्तु उनके शरीर और समवशरण जो कि उनके पुण्य की विभूति थी एक भी गुणगान नहीं किया, प्रत्युत उन गुणों को आत्मगुणों में घटाकर यह बताया कि आत्मगुण ही पूज्य व कल्याणकारी हैं।

हमारी हो या श्री तीर्थंकरों की पुण्यविभूति मोक्ष में साथ नहीं जाती और न पुण्यविभूति से आत्मकल्याण का कोई रंचमात्र सम्बन्ध ही है। आध्यात्मिक पुरुष तो पुण्यविभूति को आत्महित में बाधक मानता है, तब गुणगान क्यों ? जब हमारी दृष्टि का आकर्षण पुण्यविभूति की ओर खिंच जाता है तब स्वभावतः आत्मगुणों की ओर नहीं रहता। क्योंकि उपयोग एक ही रहता है, दो नहीं। इत्यादि अनेक स्वयं के विचारों व तत्वदृष्टि से तथा जैनधर्म का वास्तविक वर्णन जैसा कुन्दकुन्दादि सभी आचार्यों ने सिद्धांत ग्रंथों में वर्णन किया है उस अध्ययन के कारण मूर्ति की मान्यता नहीं की। श्री गांधी जी के हृदय में जैसा 'राम मन्त्र' अंकित हो गया था और वही 'राम मन्त्र' अंत समय उनके मुखारविंद से निकला था, इसी तरह श्री तारण स्वामी के हृदय में 'आत्म मन्त्र' अंकित था जो उनके द्वारा रचित ग्रंथों में पाया जाता है। एक तारण स्वामी के हृदय में ही क्या प्रत्येक आध्यात्मिक महापुरुष के हृदय में 'आत्म-मन्त्र' अंकित हो जाता है आत्ममन्त्र का ही दूसरा नाम 'राम मन्त्र' है। एक यही वह मन्त्र है जो पुरुष को महापुरुष और महापुरुष को मोक्षधाम में पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है। यह मन्त्र साम्प्रदायिक नहीं, संसारमान्य मन्त्र है।

देवदिप्त गाथा

श्री ममल पाहुड़ जी ग्रंथ की यह गाथा सर्व प्रथम गाथा 'मंगलाचरण' की है। इसमें देव को नमस्कार किया है 'देवदिप्त' कैसा है देव ? प्रकाशमान है आत्मा के अपने गुणों से। वे गुण कौन से हैं ? तत्वं च नन्द आनन्द मय चेयानन्द सहाव। सप्त तत्त्वों में परमोत्कृष्ट नन्द कहिये आत्मा जो आनन्दमय है, चैतन्य स्वभाव वाली है। परमतत्त्व पद विंदमउ नमियो सिद्ध सहाऊ। परमात्मस्वरूप है, मोक्षस्वभाव वाली है। ऐसी आत्मा को जोकि सिद्धों में और तत्स्वरूप ही हमारे भीतर विराजमान है नमस्कार करता हूँ। आगे बताया है कि देव=देवे सो देव ऐसा श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा है। देने वाली क्या है ? आत्मा। देती क्या है ? उवन कहिये उपदेश। उस उपदेशरूपी शब्द विवान के अवलम्बन से ही यह हमारी आत्मा संसार पार करती है। ऐसी जो उपदेश की दाता कि जिसके उपदेश से हमारा भाव परम निरञ्जन भाव को प्राप्त होता है=कर्म मल से छूट कर शुद्ध भाव को प्राप्त होता है, उस ऐसे आत्मदेव को 'सो मुनहु' देव जान कर नमस्कार करो, आराधना करो, भक्ति करो, पूजा करो। जिसकी आराधना भक्ति से भय, शंका, उत्पन्न हुये कर्म

विलीयमान होकर यह आत्मा निर्मलता को प्राप्त होगी। ऐसा स्वरूप दर्शाने वाला यह ममलपाहुड़ ग्रंथ मैं रचता हूँ। ऐसी प्रतिज्ञा श्री तारण स्वामी ने इसमें की है।

विशेष—श्री तीर्थंकर अरहंत भगवान ने अरहंत अवस्था में अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ उपदेश भव्य जीवों को दिया था, अतः इस उनके आभार को मान कर व्यवहार दृष्टि से उन श्री अरहंत को, और वे ही अब सिद्ध में जा विराजे हैं उन सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ, किन्तु जैनधर्म के अनुसार निश्चय दृष्टि से-न उन्हें हमारे द्वारा नमस्कार से प्रयोजन है और न हमें उनको नमस्कार करने से। अब तो हमारा प्रयोजन सिद्ध करने वाली जो हमारी अन्तरात्मा है जिसके आधार से हम मोक्षद्वीप में पहुँच सकेंगे उसकी ही आराधना पूजा भक्ति से प्रयोजन है। तथा उस अन्तरात्मा से उत्पन्न हुआ जो क्षण प्रतिक्षण मिलने वाला अध्यात्म-उपदेश उसके अनुसार चलने में ही हमारा कल्याण है। ऐसी मान्यता श्री तारण स्वामी की थी। उसी मान्यता का उनका उपदेश इस ग्रंथ में हमें दिया गया है।

विनती फूलना

यह श्री ममलपाहुड़ जी की नं० ७ की फूलना है। इसमें श्री तारण स्वामी अपनी ही अंतरात्मा को, तारनतरन जिनका सम्बोधन करते हुए विनती प्रार्थना कर रहे हैं कि हे जिन अर्थात् अन्तरात्मा! तू ही मेरे लिए तारनतरन स्वरूप प्रगट हुई है। हे जिन! तू आनन्दरूप है, चिदानन्दरूप है। तू मेरे इन उत्पन्न हुए कर्मों का नाश कर दे। इन कर्मों ने मुझे चारों गतियों के अनन्त दुखों में भ्रमाया है, कहूँ भी रञ्चमात्र सुख न पाया। अब तू ऐसे निकृष्ट पंचमकाल में जो कि चपल व सब तरह से अनिष्टरूप है और जिसमें इष्ट दृष्टि का उत्पन्न होना बहुत ही कठिन हो गया है ऐसे समय में मेरे भाग्योदय से प्रगट हुई है। मेरा कल्याण कर। तेरा ही शरण है। और मैंने इस तत्त्व को जैनधर्म के मर्म को समझ लिया है कि—तारन तरन जो अरहंत देव उनसे मुक्ति की प्रार्थना करना और मुक्ति पाने के लिये उन्हीं की शरण में बने रहना फलीभूत न होगा, मानों अपने आपकी आत्मज्ञान-दृष्टि को भुला देना होगा। और तारन तरन का सहारा (परावलम्बन) छोड़कर स्वावलम्बी (अपनी ही आत्मा का अवलम्बन) होना ही हितकर होगा, कल्याणकारी होगा। ऐसा जानकर हे जिन! (अन्तरात्मा) मैं सब प्रकार शंका व शल्यों को छोड़कर तेरी ही शरण ग्रहण करता हूँ, तू मुझे पार कर।

विशेष—जैनधर्म बिल्कुल स्वावलम्बी है, इसमें रञ्चमात्र भी परावलम्बता नहीं है। कोटि वर्ष हम भगवान से यह प्रार्थना करते रहें कि हे भगवन्! हमें पार कर दो। तो भी वे पार नहीं करेंगे। पार करना तो दूर रहा हमारी सुनेंगे भी नहीं, कि हम क्या कह रहे हैं। उन्हें न किसी की कोई बात सुनने से प्रयोजन रह गया है और न किसी को पार करने का ही प्रयोजन रह गया

है। और यह भी कहा जा सकता है कि उनमें किसी को पार करने की शक्ति नहीं जिस तरह स्वावलंबन (अपनी आत्मा के बल पर) से वह पार हुए, किसी ने उन्हें पार नहीं किया। इसी तरह हमें भी अपनी ही आत्मा के बल पर पार होना पड़ेगा, यदि होना है तो। दृष्टांत—तूमड़ी का स्वभाव है कि वह पानी में डूबती नहीं। आप दो तूमड़ियों पर मिट्टी लपेटकर पानी में डुबा दें, उनमें से जिस तूमड़ी की मिट्टी पहले घुल जायगी वह पानी की सतह पर पहले आ जायगी, किन्तु उसमें यह शक्ति नहीं कि दूसरी को साथ में ऊपर उठाले।

वरउवनलड़ी गाथा

"वर उवनलड़ी गाथा"—इसमें श्री तारण स्वामी कहते हैं कि-हे भाई ! मेरा प्रेम उत्कृष्ट पद के (आत्म-पद) के प्रकाश में हो रहा है, मेरे भाग्य का उदय हुआ है, मैंने ज्योतिस्वरूप आत्म-जिनेन्द्र को पा लिया है। हे आत्म-जिनेन्द्र ! तेरा चारित्र अच्छा लगता है, तेरा चारित्र स्वयं तुझे प्रगट जिनेन्द्र पद प्रदान कर देगा ॥१॥ हे प्रभू ! तेरा परिणमन अच्छा लगता है। तू निर्भय जिनेन्द्र है, तेरी भक्ति से तू स्वयं अभय पद पा लेगा, तेरे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र-तीनों रत्न अच्छे लगते हैं। तू अपने रत्नत्रय में रमण करके प्रगट जिनेन्द्र पद पा लेगा ॥२॥ हे प्रभू आत्म-देव ! तेरा आत्मानुभव परमप्रिय लगता है। तू अतीन्द्रिय जिन है, तेरे ज्ञान से तू स्वयं उसका दर्शन कर रही है। तेरा वीर्य सर्वोपरि है, तू उस अपने बल के द्वारा प्रगट जिनेन्द्र हो जायगा ॥३॥ हे आत्मजिनेन्द्र। तेरा क्षायिक भाव परम सुख रूप है, आनन्द रूप है। इसके द्वारा ही कर्मों का क्षय होता है, इसी लिए तेरा आनन्द गुण परमप्रिय लग रहा है। तेरे इस आनन्द मगन होने से तू अनन्त सुख का भोक्ता बन जायगा ॥४॥ हे प्रभू ! तेरी आत्म-मगनता अमृत वर्षा रही है, इसी आत्ममगनता के द्वारा अब तेरे समस्त कर्ममल हट जायेंगे और तू प्रगट जिनेन्द्र हो जायगा। तेरा आत्मरमण रूप चारित्र तुझे क्षण-क्षण निर्वाण की ओर ले जा रहा है ॥५॥ हे आत्म जिनेन्द्र ! तेरा नन्दपना अच्छा लगता है, जिसके द्वारा वीतरागता का आनन्द झलक जाता है। तेरा आनन्द भी सुहाता है, जिसके द्वारा चिदानन्द मई स्वभाव सहज में मिल जाता है ॥६॥ हे आत्मप्रभू ! तेरा सहज स्वभाव अच्छा लगता है, जिससे परमानन्द में रमण होता है। तेरी मुक्ति रूप परिणति भी भली झलक रही है। तेरी यह मुक्ति प्रेम-परिणति तुझे मोक्ष पहुँचा देगी ॥७॥ हे आत्म-जिनेन्द्र ! तेरा शुद्धोपयोग तो बड़ा प्यारा लगता है कि जिसके द्वारा तू मोक्ष में रमण कर कर रहा है। आज का यह तेरा मोक्षभाव का रमण समय पाकर तुझे प्रगट मोक्ष पहुँचा देगा। तेरा दर्शन भी प्रिय लग रहा है, इसी दर्शन से तू प्रगट जिनेन्द्र होकर अनन्त दर्शन प्राप्त करेगा ॥८॥ हे स्वामी ! तेरा आत्मीक रस अच्छा लग रहा है, यही रस परमात्म रस का पान कराएगा। तेरा अपने आप का ध्यान तो शांति रस की वर्षा कर रहा है, जो तुझे प्रगट जिनेन्द्र बनाकर शांतिसागर के रस का पान कराएगा ॥९॥ हे आत्मजिनेन्द्र ! तेरे पास

रहना अच्छा परम सुखदाई लग रहा है; यह सुख प्रगट जिनेन्द्र होकर अनन्त-सुख का भोग करा-एगा। तेरा चेतना गुण अच्छा लगता है, यही चेतना गुण प्रगट जिनेन्द्र होकर चेतनानन्द की झांकी बना देगा ॥१०॥ हे आत्म जिनेन्द्र ! तेरा आनन्दामृत परम शोभनीक है। इसी का पान करते हुए तू प्रगट जिनेन्द्र होकर स्वयं रस-आनंदामृत का पान करते हुये करोड़ों मानवों को इसे पिलायगा। तेरा आत्म-प्रकाश तुझे परमात्म-प्रकाश प्रदान करेगा और तू प्रगट जिनेन्द्र होकर सूर्य को भी लज्जित करेगा ॥११॥ हे आत्म प्रभू ! सूर्य स्वभाव अच्छा लगता है। तेरा यह सूर्य स्वभाव अनुभव-प्रकाश के बल से केवलज्ञान-सूर्य को प्रगट कर देगा। तेरा अनुभव परम प्रिय है, यही अनुभव वीतरागता की वृद्धि करता हुआ तुझे परम वीतरागी बना देगा ॥१२॥ हे हृदय विराजित भगवन् ! तेरा परभावों से शून्य स्वभाव परमप्रिय है कि जिसके द्वारा सहज में ही प्रगट जिनेन्द्र होकर मोक्षवासी हो जायगा। तेरा कमल समान प्रफुल्लित स्वभाव परम शोभायमान है, यही प्रफु-ल्लित स्वभाव प्रगट जिनेन्द्र बना देगा ॥१३॥ हे आत्मप्रभू ! तेरा स्वात्मानुभव सुहाता है। तेरा यह स्वात्मानुभव ही तुझे परम जिन बना देगा। तेरा यह स्वात्मानुभव अपूर्व है जो अब प्रगट हुआ है; यही तुझे परम जिन बना देगा ॥१४॥ हे भाई ! पांचों परमेष्ठियों की पदवी से विभूषित हीरे के समान चमकने वाली आत्मा का तुम भी आराधन करो, और उसी के कहे अनुसार आचरण करो। हे भाई ! वह उत्कृष्ट समभाव को धारण किए हुए स्वभाव से जिनेन्द्र पद को धारण किए है, उसी में ज्ञान-लक्ष्मी-सम्पन्न वीर भगवान् झलक रहे हैं ॥१५॥ हे आत्म जिनेन्द्र ! तेरी वाणी श्रेष्ठ है, जो तेरी वाणी से प्रेम करता है, उसका मनन करता है, उसमें आचरण करता है वह उस चारित्र को प्रगट कर अपने जिनराज के स्वभाव में रमण करने लग जाता है। हे आत्म-प्रभू ! तेरा ज्ञान-प्रकाश अपूर्व स्वरूप है। जो इसे समझता है वह स्वयं ही जिन होकर सहज रूप से अपने प्रकाश में रम जाता है ॥१६॥ हे आत्म-प्रभू ! मैं तेरे कमल स्वभाव रूप से प्रेम कर रहा हूँ, जो तेरे इस वीतराग चारित्र में चलता है वह स्वयं जिनपद प्रगट करके उसी में रमण करने लग जाता है। जो तेरे-अपने परमात्म-पद से प्रेम करता है वह अपने अतीन्द्रिय भाव का अनुभव करके स्वयं ही जिन से जिनवर हो जाता है, अनुभव का ऐसा ही महात्म्य है ॥१७॥ हे हृदयस्थ भगवन् प्रभू ! जो तुझसे प्रेम करता है वही गुणस्थानों पर चढ़ता हुआ अपने अनुभव की वृद्धि द्वारा स्वयं जिनेन्द्र हो जाता है। और अपने तारण तरण अरहन्त पद को प्रगट करके कमल समान अपने जिनवर पद में शोभायमान हो जाता है ॥१८॥ हे आत्म प्रभू ! जो तेरे-अपने स्वात्म-रमणरूप चारित्र से प्रेम करता है, वह समभाव के साथ आत्मा को ध्याता हुआ स्वयं अपने परमात्म पद को प्रगट कर जिनवर हो जाता है। जो तेरे में तन्मय होकर आत्म-ध्यान करता है वह शुद्धात्मा रूपी कमल का आचरण कर जिनपद से जिनवर पद में रमण करने लगता है ॥१९॥ हे आत्म-प्रभू ! जो तेरे धर्म से प्रेम करता है वह कर्मों को जीतकर अनन्त गुणधारी

जिनेन्द्र हो जाता है। जो तेरे अनुपम वीर्य को जानता है वह स्वयं समभावधारी परमात्मा जिनवर हो सिद्ध-गति को चला जाता है। हे आत्मप्रभू, तेरी जय हो ॥

इस स्तोत्र के सम्बन्ध में श्री ब्र० शीतलप्रसाद जी लिखते हैं कि—इस स्तोत्र में आत्मा-राधन की बहुत ही बढ़िया भावना है। हमें उचित है कि हम परमात्मा के स्वभाव को ठीक ठीक जानें। उनके गुणों को पहचानें, उनके साथ अटल प्रेम करें। यह भावना उत्पन्न करें कि यह संसारवास असार, दुःख-धाम है। जिस तरह तीर्थंकर संसार से उदास होकर व मोक्षमार्ग पर चलकर परमात्मा हुये और मोक्ष में पधारे हैं उसी तरह हमको भी वैराग्यवान होकर मोक्ष-मार्ग पर चलकर परमात्मा पद प्रगट करना चाहिये; जिससे अविनाशी मोक्ष का लाभ हो और कभी भी फिर संसार का भ्रमण न हो। मोक्ष-मार्ग भी निश्चय से अपने ही आत्मा का रमण व स्वानु-भव है। निश्चयनय के द्वारा अपने द्रव्य स्वभाव (आत्मस्वभाव) का मनन, चिंतवन, आराधन, ध्यान ही कर्म-कलंक जलाने को एक योगरूप यज्ञ है। जो इस यज्ञ के भीतर कर्मों का होम करता है वह आत्मशुद्धि कर मुक्ति को पाता है।

इस मोक्षमार्ग के आराधन में आत्मानन्द का स्वाद आता है, यह कष्टप्रद बिलकुल नहीं है, यह आनन्द का स्वाद देता है, इसी से अनन्त सुख हो जाता है। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार में कहा है—"मैं एक हूँ, अकेला हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, मेरा कोई साथी नहीं है, मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव से पूर्ण हूँ। इसी अपने स्वभाव में ठहरा हुआ उसी का अनुभव करता हुआ मैं सर्व कर्मों का क्षय करता हूँ, यह भावना करनी योग्य है।"

"तात्पर्य यह कि अपनी आत्मा में परमात्मा की आराधना करना ही आत्मा को परमात्मा बनाने का साधन है। यही सिद्धांत श्री कुन्दकुन्द स्वामी का था व यही सिद्धांत श्री तारण तरण स्वामी का था; कोई भी रंचमात्र भेद न था। आत्म-भावना ही आत्म-विकास का तथा आत्मज्ञान ही केवलज्ञान होने का कारण है। अतः आत्मज्ञान के द्वारा आत्म-आराधना ही करना चाहिये।"

अन्तरंग उपदेश

मैं तो अपने उवनपै माडूंगी रली, मैं तो अपने उवनपै माडूंगी रली

श्री तारण स्वामी की अपनी बुद्धि अथवा प्रत्येक ही सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी पुरुष की अपनी बुद्धि कहती है—कि मैं तो अपने उवनपै अर्थात् अन्तरात्मा में उत्पन्न हुए विचार-उपदेश पर ही, माडूंगी रली अर्थात् दृढ़तापूर्वक चलूँगी। अरहंत के उपदेश में मोक्षमार्ग का संकेत मात्र मिलता है, जबकि सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी पुरुष के भीतर उसको अपनी अन्तरात्मा से उत्पन्न हुए उपदेश-विचार-धारा में मोक्षमार्ग ही मिलता है। इसी तरह अरहंत के उपदेश में मोक्ष-सुख का वर्णन मात्र ही

मिलता है जब कि उसकी अपनी अन्तरात्मा के उपदेश में मोक्ष-सुख ही मिलता है। अरहंत के उपदेश में संसार की असारता का वर्णन मात्र ही मिलता है, जबकि उसकी अपनी अन्तरात्मा के उपदेश में संसार की असारता प्रत्यक्ष ही दृष्टि-गोचर होने लगती है। अरहन्त के उपदेश में आत्मानन्द का वर्णन मात्र मिलता है, जबकि उसकी अपनी अन्तरात्मा के उपदेश में वह आत्मानन्द साक्षात् मिलता है। इस तरह मोक्षमार्ग, मोक्ष-सुख, संसार की असारता और आत्मानन्द इन सभी बातों का जो भी उपदेश श्री अरहंत भगवान के द्वारा दिया गया धर्म-ग्रन्थों से मिलता है वह केवल कथन एवं संकेत मात्र ही मिलता है, जबकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष की अपनी अन्तरात्मा से उत्पन्न हुए उपदेश में उपरोक्त चारों बातें उसे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हो रही हैं। इसी लिए वह कहता है कि अब तो मैं इस पर दृढ़तापूर्वक चलूँगा। अरहन्त का उपदेश मानों चलने की विधि मात्र बताने वाला है, जबकि उसके उस अन्तरंग उपदेश में वह स्थान उसे प्राप्त हो गया है—मिल गया है। इतना अन्तर है। आत्मकल्याण के लिये अरहन्त का उपदेश उदासीन कारण होता है, जब कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष का अपना अन्तरंग उपदेश समर्थ कारण होता है जो कि उसे नियम से पार कर देता है।

भगवान अरहंत का उपदेश साक्षात् उनके ही द्वारा अनेक जन्मों में अनेक बार हमने सुना होगा। तथा उनका वही उपदेश गुरुओं के मुखारविंद से हजारों बार सुना होगा और धर्म-ग्रंथों में लाखों बार पढ़ा होगा। परन्तु, अंतरंग उपदेश के बिना संसार में ही भटकते रहे और जबतक अंतरंग उपदेश नहीं मिलेगा भटकते ही रहेंगे। जो करोड़ों आत्मायें संसार से पार हो कर मोक्ष गई हैं वे सभी अपने ही अंतरंग उपदेश के द्वारा गई हैं। अतः हमें अपनी आत्मा को इस तरह सुपात्र बनाना चाहिये कि वह हमें मोक्ष-मार्ग का उपदेश देने में समर्थ हो जाय। जैनधर्म पूर्ण स्वतंत्र राज्य की घोषणा करता है, उपनिवेश की नहीं। अरहंत हमारे राज्य के सम्राट तो क्या सरपंच भी नहीं हैं, हमें अपने आत्म-राज्य का पूरा संचालन और सुख-दुख तथा हानि-लाभ की सारी पंचायतें स्वयं को करना होंगी। उनके नाम-रूप और पुण्य की महिमा से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। केवल उनके आदर्श गुणों से व उनकी दी हुई शिक्षाओं से--उपदेश से हमारा सम्बन्ध रह गया है; सो भी पूजा--भक्ति--स्तुति के लिए नहीं। केवल इतने भर के लिये कि उन आदर्शों का स्मरण--ध्यान रखते हुए हम अपना सब विचार करें-मार्ग बनायें और उस मार्ग पर चलें। तथा चलते हुए समय पाकर उनकी ही बिल्कुल बराबरी से जा बैठें। इतना हमें पूर्ण अधिकार है। जन्मसिद्ध अधिकार है, उनका दिया हुआ नहीं। समझें तो इतना सब कुछ है। न समझें तो रंक बन कर भीख मांगते हुए अनेक जन्म पूरे कर आए, यह भी पूरा करके चले जायेंगे। उन्होंने न कभी हमारी भीख मांगने वाली प्रार्थना को सुना है और न कभी सुनना ही है। हम चाहे जैन हों या अजैन। वे भगवान तो सबके हैं; किन्तु सुनते किसी की नहीं। ऐसा

उनका स्वभाव है। हमें बुरा लगे-चाहे भला, इससे भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। वे तो अपने में मगन हैं। तुम्हें अपने में मगन रहना हो तो तुम्हारी इच्छा, न रहना हो तो तुम्हारी इच्छा! जाते समय ऐसा वे कह गए थे-सन्देश दे गए थे।"

तारन तरन फूलना

'तारन तरन फूलना—इसमें श्री तारण स्वामी अपनी आत्मा को लक्ष्य करके और ऐसी ही भावना प्रत्येक सम्यक्त्वी आत्मायें करती हैं; करती ही नहीं, प्रत्युत स्वभावत: उत्पन्न होती हैं। श्री तारण स्वामी कहते हैं—मुझे तारण तरण स्वामी वीर भगवान मिल गए हैं। कहां? मेरी अन्तरात्मा में। अरे भाई! वीर भगवान तो मोक्ष पधार गये। नहीं, जो मोक्ष पधार गए वे तो वर्द्धमान स्वामी थे। उन्होंने अपनी वीरता दिखाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था, इससे वे 'वीर' पदवी से विभूषित हो गये थे। मुझे जो तारण तरण स्वामी वीर भगवान मिल गये हैं वे तो मेरी एक अकेली आत्मा में क्या सभी आत्माओं में विराज रहे हैं, किन्तु मैंने अथवा जिन मेरे साथियों ने अर्थात् सम्यक्ती मानवों ने उन्हें ढूँढ़ा—पाने का प्रयत्न किया, उन्हें वे मिल गये हैं। जिनको उनसे प्रेम नहीं है उन्होंने न तो ढूँढा ही है और न उन्हें मिले ही हैं। तब हे भाई! तुम्हारे भीतर मिल जाने पर अब वे क्या कर रहे हैं? क्या कर रहे हैं? उन्हें भी कुछ काम करना होता है क्या? वे तो मुक्ति में रमण करते हुये आनन्द-परमानन्द में मग्न हैं और चैन की वंशी बजा रहे हैं। जब वे चैन की वंशी बजाते हैं वह सुन पड़ती है? हां खूब सुन पड़ती है और जब उसे सुनता हूँ तब इतना आनन्द मग्न हो जाता हूँ कि जिस तरह हरिण वंशी की ध्वनि सुनकर झूमने लगता है। हे भाई! यह बताओ कि तब तुम उनकी पूजा भक्ति क्या करते हो? भैया! उन्हें न तो पूजा प्रिय है न वे भक्ति के भूखे हैं। वे तो एक समभाव—समताभाव के प्रेमी हैं। हे भाई! तब अब वे तुमसे कुछ कहते भी हैं या नहीं? हां वे वही सब बातें कहते रहते हैं। जो जो बातें श्री वर्द्धमान स्वामी ने समवसरण में श्री गौतम गणधर, राजा श्रेणिक अथवा इन्द्र से कहीं थीं। तब हे भाई! तुम उनकी बातों को सुनकर मानते हो या नहीं मानते? हाँ खूब मानते हैं, एक एक बात को ठीक उसी तरह से मानते हैं कि जिस तरह श्री गौतम गणधर ने श्री वर्द्धमान स्वामी की एक एक बात मानी थी।

अच्छा तो हे भाई! यह और बताओ कि अब तुम उनकी पाहुनगत कैसी और कब तक करोगे? भैया! वे हमारे यहाँ पाहुने बनकर नहीं आए हैं, स्वामी बनकर आए हैं और आए हुए स्वामी को क्या कोई जाने भी देता है? रही स्वागत वाली बात, सो जैसा स्वागत श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र का इन्द्र ने किया था वैसा ही सब स्वागत मैं भी करूँगा। तथा राजा श्रेणिक ने जैसी भक्ति प्रगट की थी वैसी ही भक्ति करूँगा।

हे भैया ! तो अब तुम्हारा उनका सत्संग तो जन्म भर रहेगा। भाई ! तुम जन्म भर की बात क्यों करते हो, हमारा उनका साथ तो अब ध्रुव रूप से अनन्तकाल के लिए हो गया है। तब हे भैया ! तुम तो जब उनके साथ मोक्ष जाओगे तब वहां पर वे तुम्हें मोक्ष के भी सुख दिखायेंगे ? भाई ! मोक्ष तो वे साथ में ही ले आए हैं और आते ही से हर घड़ी मोक्ष के सब सुखों का दर्शन करा रहे हैं, उधार का काम ही क्या ?

हे भाई ! तुमने तो आज सब बातें ऐसी की हैं कि मानो तुम ही भगवान हो। भैया ! हम ही ने ऐसी बातें नहीं की हैं सब ही आचार्यों ने ऐसा ही कहा है और भगवान वर्द्धमान स्वामी ने भी यही बताया था कि–भो भव्यो ! तुम सब भगवान हो और तुम्हें यदि मोक्ष आने की इच्छा हो तो अपने-अपने भगवान के साथ में आ जाना। हम तुम्हें अपने साथ नहीं ले जायेंगे और न तुम्हारे बुलाने पर कभी आयेंगे ही। हमारा कोई भरोसा नहीं रखना, नहीं तो धोखे में पड़े रहोगे। अच्छा हे भाई ! ठीक है वे भी भगवान थे, तुम भी भगवान हो, हम भी भगवान हैं, तो क्या वे हम तुम सब भाई २ की तरह हुए तो उन्हें यह चिन्ता तो होगी ही कि यह हमारे सब भाई आकर मिल जांय ? नहीं भैया ! अब उन्हें किसी से कोई सरोकार किसी बात का रंचमात्र भी नहीं रह गया है।

"इस फूलना का भावार्थ रूपक बनाकर लिखा है।"

शून्य उवन फूलना

"शून्य उवन फूलना—उव उवन विंद विंद विंद जिन होई, सुइ विंद सुन्न सुन विंद समेई ॥१॥ समय उवन जिनवर बन्ध विलेई, कमल कलन जिन जिनवर सोई ॥२॥ अचरी उवन उवन सुन्न सुन सुन जिन होई, सुइ सुन्न उवन जिन सुन्न समेई ॥३॥ सुइ सुन्न समय सुई सुन्न विंद सोई, विंद सुन्न सम जिनवर होई ॥४। जिन नन्त सुन्न सुइ नन्त विंद सोई; सुइ नन्त नन्त सुन विंद समेई ॥५॥ सुई सेनि विंद सुन कलन जिन होइ, सुई कलन सुन्न जिन सुन्न समेई ॥६ सुइ कलन सेनि जिन कलन समेइ, सुइ तार कमल जिन जिनवर सोई ॥अस०॥७॥ इति"

अर्थ—जब आत्म-ज्ञान प्रगट होता है तब वही स्वानुभवी 'जिन' हो जाता है, वह स्वानुभव निर्विकल्प है, उसी अनुभव में ज्ञान समा जाता है ॥१॥ स्वात्म-रमण का विरोधी बन्ध तब बिला जाता है और यह आत्मा-आत्मारूपी कमल का स्वाद लेता हुआ जिनेन्द्र हो जाता है ॥२॥ जब साधकों के भावों में शून्यभाव या वीतराग भाव प्रगट होता है तब ही वीतरागी भावों से शून्य जिनेन्द्र होता है। तब निर्विकल्प शून्य भाव सदा बना रहता है, उसी में जिनेन्द्र समा जाते हैं ॥३॥ वीतरागी शून्य आत्मा ही शून्य भाव का अनुभव करता है। निर्विकल्प अनुभव के होते

होते समभाव प्रगट होता है तब यही आत्मा जिनेन्द्र हो जाता है ॥४॥ जिनेन्द्र शून्यभाव में अनंत काल तक रहते हुये शून्य स्वभाव का अनुभव करते रहते हैं। वे अनन्तानन्त शक्तिधारी शून्य-भावों में समा जाते हैं ॥५॥ इसी निर्विकल्प वीतराग भाव से क्षपकश्रेणी चढ़कर शून्यभाव के अनुभवी जिनेन्द्र होते हैं। वे इसी शून्यभाव का स्वाद लेते हुये शून्यभाव में समा जाते हैं ॥६॥ जिन-राज अपने पद में स्वानुभव में समाये रहते हैं। वे ही तारण तरण कमल समान जिनेन्द्र हैं ॥७॥

भावार्थ—यहां शून्यभाव की महिमा बताई है। शून्यभाव ही साधक है, शून्यभाव ही साधन है। निर्विकल्प वीतराग आत्मस्थ स्वानुभव को ही शून्यभाव कहते हैं। यही वास्तव में मोक्षमार्ग है इसी से जो परमात्मा का पद होता है वह भी शून्यरूप है। वहाँ भी एक स्वसमय-रूप भाव है। समयसार कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—शुद्धज्ञान, ग्रहण त्याग के विकल्प से शून्य होकर भावों से छूटकर अपने में निश्चल ठहरा हुआ, अपने भिन्न वस्तुपने को (आत्मा की एकाग्रता को) रखता हुआ ऐसा स्थिर हो जाता है कि फिर उसमें आदि, मध्य, अन्त की कल्पना नहीं होती है, सहज तेज (आत्मा का स्वभाविक तेज) में चमकता है व अपनी शुद्ध ज्ञान समूह की महिमा में सदा प्रकाश करता है। —ब्र० शीतलप्रसाद जी

विशेष—शून्यभाव अव्रतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणवर्ती श्रावक के प्रारम्भ हो जाता है। यहां यह स्थाई नहीं रहता, फिर भी इसकी स्मृति हर समय बनी ही रहती है। शून्यभाव का सीधा अर्थ है आत्म-एकाग्रता या निर्विकल्प वीतराग भाव की झलक, जिसमें संसार से अपनत्वभाव छूटने लगता है और आत्मनत्व भाव झलकने लगता है। इसी शून्यभाव की बढ़ती हुई दशा का नाम ही आत्मश्रेणी या गुणश्रेणी का चढ़ना है। जितना-जितना अधिक झलकाव वा इसकी स्थिरता इसमें होती जाती है उतना-उतना गुणस्थान बढ़ता जाता है और बीच में जितना इस भाव का उतार हो जाता है उतना गुणस्थान कम हो जाता है। जो ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत उतार चढ़ाव बना रहता है। यदि क्षपकश्रेणी मांड ली हो तो आठवें के बाद से ही उतार नहीं होता। यही शून्यभाव है, इसी का दूसरा नाम आकिंचन भाव भी है। जो यह बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवल-ज्ञान उत्पन्न कर देता है। उस तेरहवें गुणस्थान में यह शून्यभाव बिलकुल स्थिरता को प्राप्त हो जाता है तथा यही शून्यभाव सिद्धों में शाश्वतभाव से रहा ही करता है। प्रयोजन यह कि आत्म कल्याण के लिये सारी महिमा इस शून्यभाव कि जिसका आधार आकिंचन धर्म है, की ही है। प्रयत्न पूर्वक इसकी वृद्धि करनी चाहिये।"

पणविवि बधाओ-गाथा [११३४ से ११४६] तक

पन पनविवि-परम जिनेन्द्र सउत्तउ, परम तत्तु पद विन्द मउ ।
परम देऊ परमक्ख सउत्तउ, परम रमन तं परम जिनु ॥१॥
ऐ परम जिनेन्दह परम सउत्तो, ममल दिस्टि तं न्यान मऊ ।
न्याग विन्यानह समय सहाओ, चन्दनु समयह विनय मऊ ॥२॥
ऐ समय सउत्तऊ सिद्ध सहाओ, सिद्धह शुद्ध सु-समय पऊ ।
सिद्ध सरूवै सुयं सु रमियो, चन्दनु जिन उत्तु विन्यान मऊ ॥३॥
सिद्धह सिद्ध सरूव सु रमने, सिद्ध सउत्तउ ममल पऊ ।
ममल उव एसिउ सूषिम सहियो, चन्दनु सूषिम उव लषियो ॥४॥
सूषम सहियो न्यान विन्यान मौ, कमल रमन तं परम पऊ ।
कमलह रमने रयन सरूवे, चन्दनु रमियो जिन समए ॥५॥
जिन समय सुलंकृत सिद्ध सहावे, हित मित परिनै परिनमऊ ।
कोमल सहियो हिय उवयारह, चन्दनु हियई ममल पऊ ॥६॥
विन्यान विंद तं समय संजुत्तु, मय मूर्त्ति तं मुक्ति पऊ ।
मुक्तिहि मुक्ति सुभाऊ सहज रुई, चन्दनु सहजहिं विनयमऊ ॥७॥
ऐनन्तानन्त सु सुद्ध परम जिनु, नन्त विसेष सु दिस्टि मऊ ।
न्यान विन्यानह सुयं सुरमने, रमियो सिद्धह मुक्ति पऊ ॥८॥
जिनवर उत्तं रयन ममल पऊ, परिनै उवन सुमल रहियो ।
कम्म जु विलियो मुक्ति जिनेन्दह, चन्दनु समय सु मुक्ति पऊ ॥९॥
परमाणुय उत्तउ परम जिनेन्दह, समय सु सहियो जिनय पऊ ।
तं साहिय ममयह लोय अलोयनि, सूषम सहियो मुक्ति पऊ ॥१०॥
सुष्यम परणामह सुयं सु गलियो, कम्मु विलय अवयास पऊ ।
अवयासहं नन्तानन्त ममल पऊ, चन्दनु ममल सु विनय मऊ ॥११॥
अन्मोय न्यान विन्यान सुसहियो, षिपक दिस्टि तं षिपक पऊ ।
षिपक दिस्टि तं षिपक ममल पौ, मुक्ति दिस्टि तं मुक्ति पऊ ॥१२॥
मुक्ति इष्ट तं सिद्ध सहज रुइ—नन्तानन्त सु सुषिमऊ ।
जिन सुद्ध परम जिनु परम सरूववि—चन्दनु परम सु विनय मऊ ॥१३॥

इस स्तोत्र में श्री तारण स्वामी चंदन नाम के शिष्य को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—हे विनयशील चंदन ! सिद्ध-पद की रुचि ही सिद्ध-पद का कारण है, जिसने निश्चयनय की प्रधानता से भले प्रकार यह समझ लिया है कि यह आत्मा सिद्ध के समान शुद्ध, अमूर्तीक, सूक्ष्म, मन व इन्द्रियों से अतीत, ज्ञानमई, दर्शनमई, परम वीतराग व निर्विकार है व परिणमनशील है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा दृढ़ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है, ऐसे ही श्रद्धान ज्ञानमई भाव में तन्मय होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। इस रत्नत्रय की एकता को स्वात्मानुभव कहते हैं। यह आत्मरूप ही भाव है। यह मोक्ष का साक्षात् साधन है। जो इस शुद्धभाव में रमण करता है उसके वीतराग भाव के प्रताप से मोह का नाश होकर अरहन्त पद प्रगट होजाता है। जिसमें केवलज्ञान स्वभाव अनन्तानन्त पदार्थों का ज्ञान रखता है। यही अरहन्त फिर चार अघातिया कर्मों के क्षय से सिद्ध हो जाते हैं। तारण स्वामी जोर देकर कहते हैं यदि हे भव्य जीवो ! तुमको सिद्धपद की प्राप्ति करनी है तो इस मार्ग का सेवन करो। निश्चिंत होकर आत्मा के बाग में क्रीड़ा करो। इससे यहां भी आनन्द होगा। एक बात खास इसमें बताई है कि आत्मा को परिणमनशील मानने से ही यह संसार अवस्था को त्यागकर मुक्त हो सकता है। कूटस्थ नित्य मानने से बन्ध व मोक्ष बन नहीं सकता है।" श्री योगीन्द्रदेव योगसार में कहते हैं—"जो आत्मा को इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध अनुभव करता है वह अविनाशी सुख में लीन होकर सर्व शास्त्रों को जानता है। जो कोई सर्व विकल्पों को छोड़कर परम समाधि को पाते हैं वे जिस आनन्द को भोगते हैं उसी को मोक्ष का सुख कहते हैं।" "वास्तव में एकान्त में बैठकर जो इस स्तोत्र का मनन करेगा वह आत्मानुभव को पाएगा। अथवा इस स्तोत्र को बहुत भव्य जीव मिलकर पढ़ेंगे व बाजे के साथ गायेंगे उनका आत्मा की तरफ ध्यान जायगा। यह परम कल्याणकारी स्तोत्र है।"

—ब्र० शीतलप्रसाद जी

कलशों की गाथा

"कलशों की गाथा"—चौ उवन्न सुभावं, दिगंतरंनन्तनन्ताइजिनदिट्ठं। पय कमलं सहकारं, क्रांति सहकार कलसजिन ढालेयं ॥१॥ सहकारं अर्थति अर्थं, अर्थं सहकार कलसजिन उत्तं। सुर-विजन परिनामं, सहसं अट्ठंमि चौ उवन चौबीसं ॥२॥ इस्टं दर्संति इन्द्रं, अप्प सहावेन इच्छ अच्छरियं। ऐरावति आयरनं, कमलं सहकार जिनेन्द विंदानं ॥३॥ कलस सहाउउत्तं, कमल सरूवंच ममल सहकारं। भय विनस्य भवियानं, धम्मं सहकारं सिद्धि सम्पत्तं ॥४॥ सिद्ध सरूवं रूवं, सिद्धं गुन विसेष ममल सहकारं। भयखिपिय कम्म गलियं, धम्म पय पमड़ि मुक्ति गमनं च ॥५॥ जन्मं जैवन्त सुभावं, जाता उववन्न जयकार ममलंच। भय खिपनिक भवियानं, जै जै जयवन्त जन्म तित्थयरं ॥६॥ धम्म सहाव संजुतं, तारन तारनं च उवन ममलं च। लोयालोय पयेसं, तिअर्थं आयरन सिद्धि संपत्तं ॥७॥ भावार्थ—इन कलसों की गाथा में निश्चय रत्नत्रय-मई आत्मानुभव को

ही धर्म कहा है। इसी के सेवन से यह आत्मा शुद्ध होकर अरहन्त तथा सिद्ध परमात्मा हो जाता है। यहाँ पर तीर्थंकरों के जन्म कल्याणक को निश्चयनय से घटाया गया है। जैसे इन्द्र तीर्थंकर को ऐरावत हाथी पर आरूढ़ करके मेरु पर लाता है और १००८ कलशों से न्हवन करता है वैसे यहाँ यह आत्मा ही इन्द्र है सो परमात्म-स्वभावधारी तीर्थंकर-स्वरूप आत्मा को देखकर तृप्त नहीं होता है और उन्हें शुद्धाचरण रूपी ऐरावत हाथी पर विराजमान करता है और आत्मा-रूप ही मेरु पर्वत के भीतर जो शुद्ध परिणति रूपी पांडुकशिला है उस पर विराजित करके आत्मानुभव के १००८ कलशों से अभिषेक करता है। इन कलशों में आत्मानन्द रूपी जल भरा हुआ है। इस प्रकार न्हवन करने अर्थात् आत्मानुभव करने से—व आत्मानुभव के बार-बार अभ्यास करने से आत्मा चार घातिया कर्मों को हर कर अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, रूप चार चतुष्टय से शोभित होकर अरहन्त परमात्मा हो जाता है। फिर यही शेष अघातिया कर्मों का नाश करके सिद्धगति पा लेता है। आत्मानुभव ही धर्म है। " ब्र० शीतलप्रसाद जी "

यों तो जैन विद्वानों में यह भी मतभेद है कि इन्द्र का आना, ऐरावत हाथी को इतनी विशाल कल्पना, कलशों का इतना बड़ा आकार इत्यादि यह सब रूपकमात्र है। फिर भी थोड़ी देर को ऐसा ही मान लो कि ठीक है तो भी अब तो उस इन्द्र की नकल करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अब वह व्यर्थ ठहरती है। श्री तारन स्वामी कहते हैं—भो भव्यो ! भगवान का जन्म कल्याणक तो भगवान् के जन्म समय हो गया था। अब तो तुम अपना जन्म-कल्याणक महोत्सव करके दिखाओ। यही सच्ची-सारभूत धर्म प्रभावना होगी। अपनी आत्मा-रूपी इन्द्र को अपने भीतर विराजित तीर्थंकर का दर्शन कराओ, अपनी आत्मा-रूपी इन्द्र को शुद्धाचरण रूपी ऐरावत हाथी पर बैठाओ, शुद्ध परिणति-रूपी पाण्डुकशिला पर अपने आत्मा में विराजित तीर्थंकर को ले जाकर आत्मानन्द रूपी भरे हुए जल-कलशों द्वारा उसका सच्चा-सारभूत अभिषेक करो। और जिस तरह इन्द्र ने भगवान् के दर्शन को हजार नेत्र किये थे उसी तरह तुम अपने आत्मा के हजार नेत्रों द्वारा अपने भीतर जो तीर्थंकर विराजमान हैं उनका जन्म सम्यक्त्व के द्वारा करके उसका जन्म कल्याणक करते हुये दर्शन करो। इस तरह की धर्म-प्रभावना अर्थात् आत्मानुभव करने पर तुम्हारी आत्मा स्वयं ही समय पाकर अनन्त चतुष्टयधारी तीर्थंकर हो जायगी। और फिर सिद्ध हो जायगी।" आत्मा का जो अभीष्ट वह मोक्ष इस तरह मिलेगा। भगवान् का जन्म कल्याणक महोत्सव और वह भी इन्द्र की नकल, इन बातों से मोक्ष नहीं मिलेगा, यह जैनधर्म का सिद्धान्त है।

विशेष—यह भी विचार करो कि जन्म-कल्याणक के समय की वह क्रिया जबकि प्रतिमा के ऊपर उबटन लगाकर यह कल्पना करना कि भगवान् के शरीर पर माता के गर्भ का अशुचि द्रव्य लगा हुआ है कितने दोष की बात है और फिर उसकी प्रक्षाल क्रिया करना इत्यादि सभी बे

क्रियायें करना जो कि घर में बालक के जन्म समय होती हैं। यहां तक कि सोंठ, पीपलामूर, अजवान व चरुआ की साज के सब दस्तूर व कायदे पूरे किये जाते हैं—कैसी बुद्धि ? कि कहाँ तो भगवान् शरीर रहित होकर मोक्ष में विराजमान हैं और कहाँ हम इस-इस तरह की कल्पनायें करें, क्या इसमें दोष नहीं लगता होगा ? यह ठीक है कि धर्म प्रभावना में पुण्य-बंध माना जाता है परन्तु उसमें भी तो विवेक होना चाहिए, तभी पुण्यबंध होता है।

पात्र गर्भ गाथा

'पात्र गर्भ गाथा" इसमें श्री तारण स्वामी कहते हैं कि भो भव्यो ! भगवान का गर्भ कल्याणक नहीं अपनी आत्मा का सच्चा और सारभूत गर्भ कल्याणक करके दिखाओ—कहते हैं-

''जब जिन गर्भवास अवतरियो, ऊर्ध ध्यानमन लायो।
दर्शन, न्यान, चरन, तव, धरियो, सिद्धि मुक्त फल पायो ॥

अर्थ—हे भव्यो ! तुम्हारी आत्मा जो कि अनादिकाल से बहिरात्मा बन कर चतुर्गति-चौरासी लाख योनियों के दुःख भोग रहा है। जिस दिन तुम बहिरात्म भावों को छोड़कर अन्तरात्मा बन जाओ समझो कि उस दिन तुमने सच्चा और सारभूत वह गर्भकल्याणक-महोत्सव कर लिया कि जो तुम्हें नियम से मोक्ष पहुँचा देगा। क्योंकि जिस दिन तुम्हारी आत्मा के गर्भ में 'जिन' अर्थात् अन्तरात्मा आ जायगा तब स्वभावतः तुम्हारे सब भाव ऊर्ध ध्यान वाले हो जायेंगे और तुम सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को धारण करने वाले बन जाओगे कि जिसके फलस्वरूप तुम्हें मोक्ष की सिद्धि हो जायगी। अतः यह गर्भकल्याणक करके पाई हुई मनुष्य पर्याय को सार्थक करो ! तुम्हारी यह की हुई धर्म-प्रभावना तुम्हारी आत्मा को मोक्ष पहुँचाने वाली होने के साथ-साथ लाखों जीवों के लिये कल्याण का निमित्त बनेगी। इसी तरह की समस्त भावनायें श्री तारण स्वामी ने इस पात्र गर्भ गाथा में दर्शाई हैं कि अपने भीतर आत्मा में 'जिनगर्भ कल्याणक' करने का पुरुषार्थ करो। अर्थात् सम्यक्ती बनो। सम्यक्ती होने का नाम ही 'जिन' है, भगवान् अरहंत देव का नाम तो जिनवर या जिनेन्द्र है। यहीं से तो हमारी भूल प्रारम्भ हुई कि हमें अपनी आत्मा को सम्यक्ती बना कर उसे जिन बनाना या मानना था और उसी की पूजा-भक्ति व दर्शन और आराधना करनी थी कि हे जिन ! अब तू जिनवर या जिनेन्द्र बन कर मोक्ष-धाम पधार ! जिस तरह कि अनन्त आत्मायें संसार दुःखों से ऊब कर भगवान् के उपदेशानुसार चल कर पहले जिन (सम्यक्ती) बनीं और फिर जिनवर या जिनेन्द्र बन कर मोक्ष पधार गईं।"

तारणतरण फूलना

३—तारनतरन फूलना=इसमें श्री तारन स्वामी कह रहे हैं-तार-तरन मिलि मुक्ति रमाए-

तारने वाली परमात्म-स्वरूप आत्मा तथा तरने की इच्छुक (मुमुक्षु) मेरी आत्मा इन दोनों के मेल से अब मैं मुक्ति में (भाव-मोक्ष में) रमण कर रहा हूँ। हे मेरे स्वामी ! हे अन्तरात्मा में विराजे हुए परमात्मा ! अब तुम्हारे वचन ही हमारे लिए जिनवर वचन हैं। हे मेरे स्वामी ! तुम्हारी जय हो, जय हो, तुम्हारे वचन ध्रुव हैं-सास्वत हैं, सनातन हैं। वे ही वचन एकमात्र मेरे स्वामी हैं। उन्हीं की आज्ञानुसार अब मैं चलूंगा। हे स्वामी ! आपकी आज्ञानुसार चलने पर ही इन्द्र कहिये आत्मा धर्मश्रेणी की वृद्धि करेगी-पूर्णता को प्राप्त होगी। उस श्रेणी में हमारी आत्मा ध्यान में रत होगी-तल्लीन होगी। उस तल्लीनता में हमारी जो तारन-तरन स्वरूप आत्मा भली प्रकार आनंदित और परमानंदित होगी और वह आनन्द पूरित आत्मा मुक्ति को प्राप्त करेगी। इसके आगे अपना आत्म-संतोष प्रगट करते हुए उमंगपूर्ण वचनों में कहते हैं-मैं पाए ध्रुवजिन आपनो मैंने सास्वत जो 'जिन' (कर्मों को जीतने की सामर्थवान हो जाने वाली आत्मा को जो सामर्थ-शक्ति चतुर्थ गुणस्थान से ही प्राप्त हो जाती है) उस अपने 'जिन' को पा लिया है व उसी के भीतर जो परमात्मस्वरूप जिनवर उस अपने जिनवर को पा लिया है। आगे इसी अपनी उमंग भावना को पुनः दोहराते हुए कहते हैं-मैं पाये स्वामी आपनो। सुइ सुल्प साहि समाहि, अर्थात् मैंने अपने उस स्वामी को पालिया है कि जिसमें साहि स्वरूप-परमात्मा का वास है, मैं पाए तरन जिन आपनो-मैंने अपने तरन जिन को पालिया है। इस तरह अपना आनंद प्रगट करने के पश्चात् श्रावकों को उपदेश करते हुए कहते हैं-हे भव्यो ! ऐसी ही आराधना और उस आराधना की संभाल तुम करना आदि उपदेश किया है कि 'जिन' अर्थात् अन्तरात्मा को सन्मुख करके ही आलाप याने स्तुति, पूजा, भक्ति इत्यादि समस्त धर्म कार्य व व्यवहार कार्य करना। अंक अंतरात्मा और सब कुछ करना उसके ऊपर अनुस्वार-विंदियां रखना है।"

पात्रविशेष गाथा

"पात्र विशेष गाथा" इसमें पात्र दान का बहुत गंभीर निश्चय प्रधान कथन मनन योग्य किया गया है। आप ही दाता है, आप ही पात्र है, आप ही अपने को दान देता है। तीनों ही प्रकार के पात्र अपने-अपने योग्य परिणामों के अनुसार अपने को चारों ही प्रकार का दान देते हैं। वास्तव में जहां स्वानुभव है वहां चारों ही प्रकार के दान हैं। आत्मा को ज्ञान मिला, आत्मानन्द का आहार मिला, आकुलतारूपी रोग मिट कर निराकुलता मिली, सर्व भय से रहित हो निर्भय हो गया। इस तरह जो कोई पात्र दान करते हैं वे मानव जघन्य पात्र से मध्यम पात्र फिर मध्यम से उत्तम फिर उत्तम पात्र से सिद्ध हो जाते हैं। व्यवहार में चार दान देना उचित है। उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र व्रती श्रावक, जघन्य अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं। इसमें यह विशेषता बताई कि उत्तम पात्र उन ज्ञानी दृढ़ चारित्रवान साधुओं को कहा है जो अवधिज्ञान की ऋद्धि

सहित हैं व कर्मों के क्षय में उद्यमी हैं। मध्यम पात्र उनको कहा जो विशेष शास्त्रों के ज्ञाता सम्यग्दृष्टि साधु या श्रावक हैं। जघन्य पात्र उनको कहा है जो सम्यग्दर्शन के लिये उद्यमी होकर मतिज्ञान की निर्मलता से शास्त्रावलोकन करते हैं व शास्त्र की सहायता से भेदज्ञान की प्राप्ति करके सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। निश्चय चारों दान का स्पष्टीकरण-अपने भीतर शुद्धात्मा का ज्ञान प्रगट करना, स्वसंवेदनज्ञान-रूप हो जाना ज्ञानदान है।

२—स्वात्मानुभव करते हुये स्वात्मानन्द का लाभ करके अपने को तृप्त करना, आनंदामृत का रस पिलाना यह आहार-दान है।

३—सर्व बाधा या चिंता से रहित होकर निराकुलता औषधिदान है।

४—सर्व भयों का त्याग कर आत्मा के स्वभाव में निःशङ्क होकर रमण करने से अपने को अभय कर देना सो ही अभय-दान है। व्यवहार में पात्रों को आहारादि चार दान करने से पुण्य बन्ध होता है। निश्चयदान से स्वानुभव का भाव बढ़ता है जिससे वीतरागता की जागृति होकर पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा होती है और नवीन कर्मों का संवर होता है। फल यह होता है कि इस दान के प्रभाव से वह पात्र (अपना आत्मा) सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अतः व्यवहार दान करते हुये निश्चयदान अवश्य करना चाहिये। "ब्र० शीतलप्रसाद"

शून्यभाव की सिद्धि—बारह भावनाओं के चिन्तवन से, सानंद वीतराग निर्विकल्प समाधि की साधना से, आत्म-ज्ञान से, अध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन, मनन, चिंतवन से, आकिञ्चन्य धर्म की स्थिरता से, ब्रह्मचर्य की प्रवृत्ति से, दर्शन-विशुद्धि भावना से, संसार शरीर भोगों के वैराग्य से, तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से, तथा चार आराधनाओं से होती है। सब का सार यही कि सम्यक्त की प्राप्ति से ही होती है। "जीवनमुक्त-भावमोक्ष-शून्यभाव-विंदस्थभाव अथवा उदासीनता, अणुव्रत, महाव्रत-यथाख्यातचारित्र यह सब ही कार्य कारण एक मात्र शून्य-भाव की सिद्धि के हैं।"

"शून्यभाव की बाधक कषायें व साधक वैराग्य भावना हैं" अतएव हमें अपने ज्ञान पुरुषार्थ से कषायों को दिन-प्रतिदिन कम करते हुए वैराग्य भावनाओं की वृद्धि करना चाहिए।

"दातृ-पात्र फूलना" इसमें दातार और पात्र का तथा चार प्रकार के दान का बहुत ही मनन योग्य गम्भीर कथन है। हे भव्य जीवो! यदि भव-भ्रमण से छुट्टी पाना है तो उत्तम-पात्र व दातार होकर अपने को, अपने से, अपने लिए, आत्मानुभव का पवित्र दान करो।

"उत्पन्न छन्द गाथा" इस गाथावली में सम्यग्दर्शन की मनन योग्य स्तुति की गई है; सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बताया गया है।"

"गिरा छन्द गाथा" इस गाथावली में श्री जिनवाणी की महिमा भले प्रकार वर्णन की गई है। वाणी सुनने से श्रोताओं के मिथ्यात्व छूटते हैं, जिनवाणी के मनन से ही सर्व शंकायें मिटती हैं, दर्शनमोह का अन्धकार दूर होता है, सम्यग्दर्शन का प्रकाश व सम्यग्ज्ञान निर्मल होता है, आत्मबल प्रकाशित होता है और वीतरागता का झलकाव होता है। आत्मज्ञान का ही परम मनोहर अमृतमई पाठ यह जिनवाणी सिखाती है। श्री तारण स्वामी कहते हैं—हे भव्य जीवो! इस पवित्र जल के समान आत्मा को पवित्र करने वाली जिनवाणी-गंगा के भीतर स्नान करके आत्मा के मल को धोकर आत्मा को पवित्र कर लो। प्रमाद, लज्जा, भय को छोड़कर उत्साही होकर जिनवाणी की सेवा करो। आनन्दामृत का स्वाद चखाने वाली, सहजानन्द प्राप्त कराने वाली है तथा भव भ्रमण मिटाकर मोक्ष-दीप में पहुँचाने वाली है।

"चक्षुदर्शन गाथा" इस गाथावली में श्री तारण स्वामी ने अन्तरंग चक्षुदर्शन (ज्ञान-चक्षु-दर्शन) द्वारा जो शुद्धात्मा का अनुभव होता है अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव होता है, उसी की महिमा व स्तुति रमणीक शब्दों में की है व बारम्बार कहा है कि यही शुद्धात्मानुभव सर्व संसार के भयों को मेटने वाला है, यही निःशंक करने वाला है। तत्वज्ञानी महात्माओं का कर्त्तव्य है कि वे ऐसा ही उपदेश करें। जिससे यह चक्षुदर्शन भव्य जीवों के भीतर प्रकाशमान हो जावे और वे संसार-सागर के पार पहुँच जावें।

"कमल विशेष गाथा" इसमें आत्मा को कमल की उपमा देकर आत्मध्यान की व आत्मानुभव की महिमा गाई है, आत्मा की स्तुति करके भाव-पूजा की है। जब आत्मा का साक्षात्-कार होता है तब ही सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है। —ब्र० शीतलप्रसाद जी

"पात्र गर्भ गाथा" इसमें पात्र गर्भ आत्मा को कहा है जिसके गर्भ में सर्व शुद्ध आत्मीक गुण विद्यमान हैं। जब श्री परमात्मा-पद प्रगट हो जाता है और केवलज्ञान, दर्शन आदि शुद्ध गुणों का प्रकाश हो जाता है तब उस गर्भ में से परमात्म-पद का जन्म हुआ ऐसा कहा जाता है। इसी भाव को इस गाथावली में बताया गया है। उस गर्भ से जिनपद का जन्म तब ही होता है जब कोई मुनि चार आराधनाओं को आराधन करके क्षपकश्रेणी चढ़कर चार घातिया कर्मों का क्षय करता है। तात्पर्य यह कि इसी तरह अन्य भव्य जीवों को अपने ही आत्मा को पात्र गर्भ समझना चाहिये और गर्भ के जन्म के लिये चार आराधनाओं द्वारा शुद्धात्मा का अनु-भव करना चाहिये। गृही हो या साधु, आत्म-ध्यान से ही कल्याण होगा।

—ब्र० शीतलप्रसाद जी

"गर्भ चौबीसी गाथा" इस गर्भ चौबीसी में परमात्मा-पद अरहन्त या सिद्धरूप जो भव्य जीव के भीतर गर्भ रूप से रहता है उसी की महिमा अनेक प्रकार के शब्दों से गाई गई है।

बार-बार अरहन्त व सिद्धपद का विचार किया गया है । भाव यह है कि हे भव्य जीवो ! अवि-नाशी आनन्दमय ज्ञानमय व शांतिमय मोक्ष को प्राप्त करना उचित है वह कहीं बाहर नहीं है, तुम्हारे ही गर्भ में है, तुम्हारे ही पास है, उसका जन्म या प्रकाश करना चाहिये । मानव जन्म सफल करने के लिये अपने आप को पहिचानो, अपने भीतर से परमात्मा-पद प्रगट होता है । यही भावार्थ इस पात्र चौबीसी का है । —ब्र०. शीतलप्रसाद जी

"कल्याणक फूलना" इसमें तीर्थंकरों के गर्भादि पांचों कल्याणकों को निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा के भीतर घटाकर वर्णन किया है ! गर्भ-कल्याणक उसे कहा है जब किसी भव्य जीव के हृदय में तत्वप्रीति होकर सम्यग्दर्शन का उदय होता है । इस श्रद्धा का होना ही मोक्षमार्ग का गर्भ रहना है । सामायिक नामका चारित्र होना जन्म-कल्याणक है । क्षपकश्रेणी चढ़ना दीक्षा कल्याणक है । केवलज्ञानी हो जाना ज्ञानकल्याणक है व फिर चार अघातिया कर्मों को भी क्षय करके सिद्ध परमात्मा हो जाना निर्वाणकल्याणक है । हम सबको चाहिए कि आत्मानुभव की सड़क पर चलकर आत्मानुभव-रूपी मोक्ष पद में पहुँच जावें; संसारी से सिद्ध हो जावें । देह के भीतर आत्मा को परमात्मा के समान जानकर उसका ध्यान या अनुभव करना चाहिये । ऐसा ही परमात्मप्रकाश में कहा है—जैसे निर्मल ज्ञानमई सिद्ध परमात्मदेव मुक्ति में विराजते हैं, वैसे ही परमब्रह्म स्वरूप परमात्मा अपने शरीर के भीतर विराजमान हैं । सिद्ध भगवान में व अपने आत्मा में गुणों की अपेक्षा भेद मत कर । —ब्र० शीतलप्रसाद जी

इस तरह श्री तारण तरण अध्यात्मवाणी ग्रन्थ में, श्री ममलपाहुड़ जी, पात्र गर्भ गाथा, गर्भ चौबीसी और कल्याणक फूलना में बताया कि बाह्य पंचकल्याणकों के करने से आत्म-कल्याण नहीं होगा । आत्मा के भीतर जो परमात्मारूपी अरहन्त-सिद्ध विराजमान हैं उनका सच्चा गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, ज्ञान कल्याणक व निर्वाण कल्याणक करो इसमें तुम्हारा कल्याण होगा । इस कल्पना के पंच कल्याणक करना निःसार है । इसका जो भावार्थ-श्री ब्र० शीतलप्रसाद जी ने लिखा व जो भी अपनी अनुमति इस विषय में दी है उसका संक्षिप्त भाव ऊपर दिया गया है । विशेष जानने के लिये ग्रन्थ देखो । उसमें मूल, अर्थ, भावार्थ विस्तार पूर्वक मिलेगा। और विचार भी करो कि भगवान तो सिद्धों में विराजे हैं और हम पंच-कल्याणक करते समय कहें कि आज भगवान गर्भ में हैं, आज जन्म होना है व उनकी माता बनना इत्यादि । कितने दोष की बात है, माता बनने वाली संसारी स्त्री, सप्त धातुओं से भरा उसका शरीर और शरीर में कल्पना करना कि भगवान गर्भ में हैं । यह प्रथा केवल बुन्देलखण्ड में ही ज्यादा है सब जगह इतनी ज्यादा नहीं ।

"इष्ट छंद गाथा" इसमें श्री तारण स्वामी ने अपने प्रत्येक पद में अपने आत्मानुभवपूर्ण

शब्दों के द्वारा स्वात्मानुभव करने का उपाय स्वात्म-मनन को झलकाया है। यह एक प्रकार का आत्मा का स्तवन है, यही जिनस्तुति है। जिन आत्मा को ही कहते हैं।" यही अपने पुरुषार्थ से स्वात्मरमण से कषायों व कर्मों को जीत लेता है। "इष्ट उत्पन्न छंद" इसमें श्री तारण स्वामी ने अरहंत पद के लिए जिस अभ्यास की आवश्यकता है उसको बताया है, भव्यजीवों को उचित है कि जिनवाणी द्वारा तत्वों को जानकर अपने आत्मा के निश्चय स्वरूप पर विश्वास लावें।"

"अन्मोय चौबीसी" इसमें आत्मानन्द की स्तुति की गई है, वास्तव में जैन सिद्धान्त का यही सार है कि जहां आत्मानन्द का या ज्ञानानन्द का अनुभव है वहीं धर्म है।

"हमगमवउ फूलना" इसमें स्वामी जी ने शुद्धात्मा के रमण से जो आनन्द होता है, उसी की महिमा गाई है। आत्मा को इसी जीवन में रहते हुए विकाश-भाव का जो लाभ होता है इसी को अरहंतपद कहते हैं।"

"तरन विवान विजौरी गाथा" इसमें श्री अरहंत परमात्मा की स्तुति का गान है, जिसके गाने से मन एकाएक अरहन्त परमात्मा के शुद्ध गुणों में रंजायमान अर्थात् आनन्दित हो जाता है, संसार की परिणति का मोह दूर हो जाता है, मोक्ष-पद की प्राप्ति का प्रेम उमड़ आता है। इस स्तुति में यह भावना है कि मेरा आत्मा भी अरहन्त होकर मोक्ष के मिष्टफल को प्राप्त करले।"

"विवान अर्क गाथा" इसमें श्री अरहन्त परमात्मा की खूब भाव से स्तुति की है।"

विशेष—श्री तारन स्वामी ने अपने आत्मप्रकाश को विवान मानकर उस अपने ही विवान में विराजित आत्मा को अरहन्त गुण सम्पन्न मानकर उसके गुणों की मुग्धता में तन्मय होकर स्तुति की है। कि हे अरहन्त! तू व्यक्त होकर अपने विवान द्वारा तीर्थंकर होकर सिद्धपद में प्रवेश कर; तू स्वयं तारण तरण जहाज है और कर्मपर्वतों को चूर करने में समर्थ है, नित्य, निरञ्जन है, शुद्ध सिद्ध है।"

"जिन बत्तीसी गाथा"—इसमें अरहन्त परमात्मा जिनेन्द्र की स्तुति की गई है। यह स्तुति वास्तव में निश्चय स्तुति है। यहां उनके अन्तरंग आत्मा पर-आत्मास्वरूप दृष्टि है, बाहरी शरीर पर व समवसरण आदि विभूति पर दृष्टि नहीं है।"

"अर्क चौंतीसी गाथा"—इसमें अरहन्त परमेष्ठी के अन्तरंग आत्मीक गुणों की स्तुति की है। इसको ध्यानपूर्वक पढ़ने से अरहन्त परमात्मा का अन्तरंग स्वरूप अपने ध्यान में आता है। भव्य-जीव को अपने आत्मा में ही मोक्षमार्ग ढूँढ़ना चाहिए। भीतर ही मोक्षमार्ग है, भीतर ही मोक्ष है जो स्व-स्वरूप का प्रेमी हो अपने आत्मा को शुद्धात्मारूप ध्याता है वही परमात्मा हो जाता है।"

"कमल कलन गाथा"—इस स्तोत्र में बड़ी उत्तमता से आत्मा को ही कमल की उपमा दी है, आत्मा को ही जिनभवन बताया है। आत्मा को ही चन्द्रमा की उपमा दी है।

"बन्ध विलय फूलना"—इसको बार-बार पढ़ने से व मनन करने से अवश्य कर्म बन्ध का क्षय होगा।

"उवन मिलन पच्चीसी" इसमें शुद्धात्मा के अनुभव की उत्तम रीति बताई है। तथा यह मलकाया है कि जिनेन्द्र भगवान का लाभ व जिनेन्द्र का दर्शन उसी को होता है जो अपने आत्मा को पहचान कर उसके शुद्ध स्वरूप का निश्चय करके भेद विज्ञान पूर्वक उसी शुद्धात्मा के ज्ञान में रमण करता है।

"जय रंजसी अर्क गाथा"—इसमें बताया है कि जैनधर्म व जिनवाणी के प्रताप से मोक्ष-मार्ग मिलता है। जो निश्चय से स्वात्मरमण रूप है, शुद्धोपयोग रूप है, स्वात्मरमण में ही रत्न-त्रय गर्भित है।

"अर्क उवन फूलना"—इसमें आत्मा रूपी सूर्य के प्रकाश करने का उपाय बहुत अच्छी तरह बताया है-मनन करने योग्य है।

"उवन कमल बतीसी"—इसमें श्री तारण तरण स्वामी ने स्वयं परमात्मा होने की सुंदर भावना की है। बार-बार पढ़ने योग्य है। यह पुरानी हिन्दी का नमूना है।"

"दिप्ति विवान गाथा"—इसमें श्री तारण स्वामी ने यही कहा है कि आत्मज्ञान की चमक ही वह जहाज है जिस पर चढ़कर यह जीव निर्वाण का लाभ करता है। आत्मानुभव में आत्म-गंगा का स्नान है, आत्मीक शांत रस का पान है, यही अद्भुत प्रकाश है, यही आत्मा आत्मारूप रहता है; यही एक देश विकसित कमल है सो ही अरहन्तपद में पूर्ण विकसित कमल हो जाता है। आत्मानुभव ही केवलज्ञान का अंकुर है-बीज है।

"अतिशय चौंतीस गाथा"—इसमें श्री तारण स्वामी जी ने बड़ी विद्वत्ता से श्री अरहन्त परमात्मा की, आत्मा में चौंतीस अतिशयों को घटाकर स्तुति की है और दिगम्बर जैन शास्त्रों के अनुसार उन्हें अरहन्त की आत्मा में युक्ति संगत सिद्ध किये हैं।"

"अष्ट प्रातिहार्य गाथा"—इसमें अध्यात्म-दृष्टि से श्री अरहन्त परमात्मा में आठ प्रतिहार्य बताए हैं।"

"अरहन्त सर्वज्ञ फूलना"—इस फूलना में श्री अरहन्त परमात्मा के अन्तर-गुणों की स्तुति निश्चयनय के आश्रय से की गई है। यही निश्चय स्तुति का प्रकार है। इसमें अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, क्षायिक सम्यदर्शन, क्षायिक चारित्र या वीतरागभाव या समभाव की अच्छी महिमा गाई गई है। स्वात्मानुभव या शुद्धोपयोग की छटा दिखाई गई है। अरहन्त को कहा गया है कि स्वचारित्र रूपी ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्र के समान सिद्धलोक को जा रहे हैं। परमात्मा की तरफ आनन्द से बढ़ रहे हैं। ऐसी स्तुति से भावों की शुद्धता हो कर शुद्धोपयोग के अंश प्रगट हो जाते हैं। जिन अंशों से प्रचुर कर्म की निर्जरा हो जाती है,

अशुभ भावों का क्षय हो जाता है व जितना शुभराग अंश होता है उससे महान् पुण्य कर्म का बन्ध होता है।"

"परमेष्ठी तीसी गाथा"—इसमें यही अर्हंत परमेष्ठी के आत्मीक गुणों की स्तुति की गई है।"

"विज्ञान रमण फूलना"—इसमें यही झलकाया है कि भेद-विज्ञान द्वारा प्राप्त आत्मानुभव के द्वारा ही ज्ञान में रमण करने से श्री अरहन्त परमात्मा का पद प्रगट होता है। अर्हंत पद का साधन कहीं आत्मा से बाहर नहीं है।" "ब्र० शीतलप्रसाद जी"

"समय उवन गाथा"—इसमें बताया है कि यह आत्मा आप ही अपने पुरुषार्थ से परमात्मा होकर सिद्धगति को पाता है, मोक्ष का लाभ स्वयं ही करना पड़ता है, कोई मुक्ति को दे नहीं सकता, मुमुक्षु को अपने ही आत्मा का साधन स्वयं ही करना चाहिए, आत्मध्यान से वह परमात्मपद पा लेगा।

"हिय उवन समय गाथा"—इस छन्द में बड़ी ही सुन्दर भावना आत्मा में रमण करने की की गई है। यह एक स्तोत्र है जिसे बारबार पढ़ने से मन आत्मा के भीतर जमता है।

"अर्क पिय गाथा"—यह छन्द पुरानी हिन्दी भाषा का नमूना है। इसमें भी बड़ी ही उत्तमता से आत्मा के मनन की भावना की गई है और यह भले प्रकार दिखला दिया है कि अपने आत्मा के ही द्वारा आत्मा की उन्नति होती है।

"नर उवन लड़ी गाथा"—इस स्तोत्र में आत्माराधना की बहुत ही बढ़िया भावना है।

"मुक्ति विलास गाथा"—यह एक तरह की भावना है जिससे अपने भावों में शुद्धात्मा का स्वभाव झलक आता है।

"अर्क फूलना"—इसमें जिनवाणी का माहात्म्य बताया है।

"तार कमल गाथा"—हे जिनेन्द्र! आपका प्रकाशमान ज्ञान साधने योग्य है, उसी ज्ञान को प्रगट कर उसमें रमण करना चाहिये। इसी से पूर्ण ज्ञान का साधन होकर जिनेन्द्र पद होगा, फिर मोक्ष का लाभ होगा। हे भाई! जिनेन्द्र के भीतर रमण करो। जब तक आत्मज्ञान में रमण नहीं होगा तब तक मोक्ष का लाभ नहीं होगा।

"जै जै नंदिनी गाथा"—यह छन्द बहुत ही उपयोगी है जो अपने स्वरूप का रुचिवान हो जाता है वह अवश्य ही स्व-रूप (अपनी आत्मा) में रमण करने लगता है।

"शून्य प्रवेश गाथा"—इसमें शून्य-भाव की अच्छी महिमा बताई है। इसके पहले के छन्द में भी यही बात है।

'तारन तरन फूलना"—इस अन्तिम छन्द में श्री तारण तरण स्वामी ने यह साफ-साफ प्रगट कर दिया है कि मैंने जो कुछ कहा है वह श्री महावीर स्वामी की वाणी के अनुसार है। जैसा धर्म का उपदेश उन्होंने सौधर्मेन्द्र को, गौतम गणधर को तथा राजा श्रेणिक को दिया था, वैसा ही धर्म मेरे इस कथन में है तथा यह वाणी प्रवाहरूप से ध्रुव है। सब ही तीर्थंकरों ने अनादिकाल से ऐसा ही उपदेश दिया था व आगामी दे रहे हैं व देंगे। वह मोक्षमार्ग एक शून्य या निर्विकल्प समाधि है उसी का सेवन करके श्री वीर प्रभु ने मोक्षपद साधा था। यह भी कहा है कि इस तत्त्वोपदेश को समझो, पढ़ो, मनन करो व इसके अनुसार साधन करो, तथा इसकी रक्षा करो। अपनी गाढ़-भक्ति श्री वीर भगवान में प्रगट की है। —ब्र० शीतलप्रसाद जी।

श्री १०३ जैन धर्मभूषण, धर्मदिवाकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी (लखनऊ निवासी) ने अनेक जैन ग्रन्थों की टीका के साथ ही साथ श्री तारण स्वामी कृत—तारण तरण श्रावकाचार, ज्ञान समुच्चयसार, उपदेशशुद्धसार, चौबीसठाना, मालारोहण, पंडितपूजा, कमलबत्तीसी, त्रिभंगीसार और श्री ममलपाहुड़ जी (तीन भाग में) इस तरह ९ ग्रन्थों की टीका (भाषा टीका) करके जैन समाज अथवा तारण समाज का महान उपकार किया है। कोटिश: धन्यवाद।

आप श्री तारण स्वामी की आध्यात्मिक रचना जो कि भगवान महावीर की वाणी का सार है, की टीका करते-करते इसमें कितना आनंदामृत पान करने लगे थे कि पढ़ते हुए झूमने लगते थे, जैसे भौंरा कमल-पुष्प में आनन्द विभोर होता है उसी तरह आप श्री तारण-वाणी में आनन्द विभोर हो जाते थे। यह अध्यात्मरचना का माहात्म्य स्वभाविक ही होता है। जो भी भाई अध्यात्म-प्रिय होते हैं उन्हें ही अध्यात्मग्रन्थों में रस आता है। यह रस ही कर्म संवर व निर्जरा करता है।

—ब्र० गुलाबचन्द।

श्रावक के शुद्ध षट्कर्म

गाथा—षट्कर्म संमिक्तं सुद्धं, संमिक अर्थ सास्वतं ।
संमिक्तं सुद्ध ध्रुवं सार्द्धं, संमिक्तं प्रति पूर्नितं ॥३८॥

वे ही सत षट्कर्म कि जिनमें, 'दर्शन' पद-पद डोले ।
मुखरित होकर नित जिनमें से, आत्म-भावना बोले ॥
'दर्शन' युत षट्कर्म शुद्ध हैं, ध्रुव हैं श्रद्धास्पद हैं ।
मोक्षमहल के अभिनव पथ को, ये विद्युत् के पद हैं ॥

श्री तारन स्वामी ने जैन सिद्धांतानुसार ही षट्कर्म कहे हैं— "देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान" जबकि "मूर्तिपूजा" को ही देव पूजा मानने वाले भाई ऐसा जानते हैं कि तारण समाज में देवपूजा नहीं होती; अत: इस लेख में यह बताया गया है कि जैन

आचार्यों के उपदेशानुसार सच्ची देवपूजा ही तारण स्वामी ने कही है। उपरोक्त गाथा में बताया है कि—सच्चे षट्कर्म वे ही हैं कि जिन प्रत्येक षट्कर्मों में 'दर्शन' पद-पद डोले व आत्म-भावना बोले" अतः सच्ची देवपूजा यही है कि हम अपनी आत्मा में परमात्मस्वरूप का अनुभव करें और अन्तरात्मापने के भावों की सदैव रक्षा एवं वृद्धि करते हुए स्वयं परमात्मपद के अभिलाषी बने रहें। इस अपनी अभिलाषा पूर्ति के लिए आत्मध्यान व आत्म-मनन करके आत्मीक आनंद का स्वाद लेने से ही कर्मों का संवर और निर्जरा होती है अतएव-मनन करते समय भगवान अरहंत के गुणों का चिंतवन करना व 'तद्गुणलब्धये' की भावना करने को ही श्री तारन स्वामी ने 'देवपूजा' कही है। जैनधर्म की मान्यता है कि केवल जिन वचन ही यथार्थ होते हैं और सम्यक्ती पुरुष उन्हें ही मान्य करे जबकि जन वचन (दूसरों के वचन) को मानने वाले मिथ्यात्वी होते हैं, यह मान्यता यथार्थ है कल्याणकारी है। परन्तु पूजा के विषय में यह बात कैसे संभवती है कि उन्हीं आप्त-अरहंत ने समोशरण में षट्कर्मों का उपदेश करते समय यह कहा हो कि श्रावको! तुम इसे ही देवपूजा मानना कि हमारी मूर्ति पधरा कर उसकी अष्टद्रव्य से पूजा करना कि जिससे आठों कर्मों की निर्जरा हो जायगी, या पुण्यबंध करके स्वर्ग और स्वर्ग से मोक्ष में पहुँच जाओगे? यह इतनी मोटी बात है कि विचार किया जाय तो थोड़े ही में समझी जा सकती है। विशेष यह कि तारन स्वामी ने सच्ची वही देवपूजा या जिन-पूजा कही है कि जो श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड़ में बताई है और श्री योगीन्द्रदेव ने कहा है कि वही सम्यग्दृष्टि है जो—

"निज स्वरूप में जोर में, त्याग सर्व व्यवहार।
सम्यग्दृष्टी होइ सो, शीघ्र लहै भव पार ॥८८॥"

ऐसी ही निज-स्वरूप में रमण करने वाली जिनपूजा कही है "हां मूर्ति-पूजा तारण समाज में नहीं होती यह तो स्पष्ट ही है।" तो क्या 'मूर्ति-पूजा' नहीं करने वाले देवपूजा से वंचित ही रहते होंगे? किन्तु शास्त्र सिद्धांतानुसार यदि विचार किया जाय तो वस्तुस्वरूप से यही बात पाई जायगी कि आत्मा का पुजारी सच्ची देवपूजा करता है जबकि प्रतिमा का पुजारी देवपूजा से वञ्चित रह जाता है। कहा है कि-महिमा अपार सुख सिंधु ऐसो घट ही में, देव भगवान लखि दीप सुखकारी है॥ देवन को देव (अरहंत देव) सो तो सेवत अनादि आयौ, निजदेव (अपना आत्मदेव) सेए विनु शिव न लहत है। यह ज्ञान दर्पण में कहा है। ऐसी आत्म-देवपूजा श्री तारन स्वामी ने बताई है कि हे श्रावको! मूर्ति की तो क्या बात तुम अनादि काल से साक्षात् भगवान की पूजा भी करते रहे फिर भी संसार से पार न हुये अतएव 'आत्म-पूजा' करो जिससे कि संसार से पार हो सको और इसे समझने व करने का यही अवसर है,

जबकि श्रावक कुल पाया है और जिसमें सच्चे देव अरहंतदेव व निर्ग्रंथगुरु तथा अहिंसा धर्म का संयोग मिला है। मनुष्य जन्म भी मिलता और यदि यह संयोग न मिलता तो न जाने कैसी कैसी हिंसा में तो धर्म मानते, कैसे २ पाखंडी गुरुओं की सेवा करते और कैसे २ मिथ्यात्वी देवों की पूजा करके अनंत खोटे कर्मों को बांध कर फिर से उसही चौरासी के चक्कर में पड़ जाते कि जहां से नीठ-नीठ कर न जाने किस पुण्योदय से यहाँ आकर यह श्रावक कुल पाया है। यदि अब भी तुम्हें सम्यक्त व मिथ्यात्व की पहिचान न हुई तो कब होगी ? ऐसा जान कर शास्त्राध्ययन करो और सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को समझकर उन पर श्रद्धान करो व सम्यक्ती बनो। हम गृहस्थ हैं, हम अभी व्यवहारी हैं, इन कायरता की बातों को छोड़ो और आत्म-बल से काम लो तभी संसार के दुःखों से छूटोगे यदि अनादिकाल जैसी भूल फिर भी करते रहे तो पछिताओगे।"

पुण्य की आकांक्षा छोड़कर सम्यक्ती बनो

"काष्ठ, पाषाण दिस्टं च, लेपन चित्र अनुरागत:
पाप कर्मं च बर्धन्ति, त्रिभंगी असुहं दलं ॥" (त्रिभंगीसार)

इस पर विचार—जैनधर्म वीतराग धर्म है, जो कहता है कि अशुभ राग और शुभ इन दोनों को छोड़कर वीतराग धर्म का सेवन करने पर ही आत्मा शुभाशुभ कर्मों से छूटेगी। अशुभ की बात तो दूर रही, हे भव्य ! जब तक तुम शुभ राग करते हुए पुण्य बंध भी करते रहोगे तब तक संसार से पार न होगे, इस विचार से शुभराग द्वारा आत्मा में शुभकर्मों का बंध करना भी सोने की बेड़ी याने बंधन है, पाप है। जैसा कि योगीन्द्रदेव कहते हैं कि—

पापहि पापरु पुन्य को, पुन्य कहत सब लोइ।
कहै पुन्य को पाप जो, विरला पंडित कोइ ॥

इसी दृष्टि से श्री तारण स्वामी ने इस उपरोक्त गाथा में कहा है कि—काष्ठ, पाषाण की मूर्ति व चित्रों को अनुराग पूर्वक देखने से कर्मों का आश्रव ही होता है चाहे वह शुभाश्रव हो या अशुभाश्रव हो, आश्रव ही पाप-बंध है।

हम कहते हैं कि अरहन्त की प्रतिमा के दर्शन-पूजन से पुण्यबंध होता है थोड़ी देर के लिये ऐसा ही मान लें तो भी जैन सिद्धांत के अनुसार ज्ञानी पुरुष ने तो उसे भी पाप ही माना; क्योंकि छूटना है कर्मों से और दर्शन करके बांधे कर्म, तब कहाँ वीतराग धर्म की साधना की ? उससे विपरीत ही तो किया और विपरीत को ही मिथ्यात्व कहते हैं। कोई शंका करे कि शास्त्र दर्शन-पूजन की भी यही बात होगी ? नहीं; शास्त्र का प्रयोजन दर्शन-पूजन से नहीं, शास्त्र तो अध्ययन-स्वाध्याय की चीज है यदि कोई स्वाध्याय नहीं करे, नहीं सुने, नहीं मनन करे, नहीं उसके

अनुसार चले और खाली दर्शन-पूजन में ही पुण्य का बंध करे तो वह भी कर्मों से नहीं छूटेगा, क्योंकि यदि हम, मानलो मूर्ति को नहीं मानते और शास्त्र के मानने वाले कहे जाते हैं तो इतने में ही सम्यक्ती नहीं हो गये हम भी मिथ्यात्वी ही रहेंगे। तारणपंथी हों चाहे मूर्ति पूजक हों चाहे कोई भी हों न्याय सबके लिये एक ही है और वह न्याय यह है कि हमें शास्त्र स्वाध्याय करके अथवा श्रवण करके, प्रश्नोत्तर द्वारा समझकर व शास्त्र का मर्म स्वयं समझकर दूसरों को उपदेश करके और सबसे मुख्य बात यह कि अपने भावों में वीतरागता याने उदासीनता उत्पन्न करके शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करके, जैसे कि आचार्यों ने स्वाध्याय के ५ भेद इस तरह के बताए हैं-आत्म-ज्ञान प्राप्त करना होगा, आत्मज्ञान होने का नाम ही सम्यक्त है जो सम्यक्त बिना शास्त्र स्वाध्याय के किसी को भी न होगा, यही कारण है कि किन्हीं एक भी आचार्य ने (कथाग्रंथों की बात छोड़ दीजिए) मूर्ति की मान्यता न बताकर केवल एक यही उपदेश किया कि इस पंचमकाल में कालदोष से संहनन न होने से ध्यान की सिद्धि नहीं अत: मुनि व श्रावकों को शास्त्र स्वाध्याय करके सम्यग्-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह गाथा श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार जी गाथा नं० ६४ में कही है, देख लीजिए। कथा ग्रन्थों की बात छोड़ देने को जो कहा है सो क्यों? इसे सभी विद्वान् जानते हैं कि—कथायें कितनी मनगढ़न्त लिखीं जा सकती हैं कि जिससे वे सिद्धांतत: प्रमाणीक नहीं मानी जातीं, यदि आप कथा ग्रन्थों को प्रमाणीक मानने का श्रद्धान व आग्रह रखते हों तो संसार में सभी सम्प्रदाय वाले केवल कथा ग्रन्थों पर ही श्रद्धान मान रहे हैं व उन्हीं को मानकर चल रहे हैं फिर हममें और दूसरों में अन्तर ही क्या रहा, सोचिए। अतएव सम्यक्त प्राप्त करके यदि हमें आत्मकल्याण करना है तो बहुत विचार करना चाहिए और आचार्यों की आज्ञा मानकर चलना चाहिए। मूर्ति का दर्शन-पूजन अथवा शास्त्र का भी खाली दर्शन-पूजन कर लेने से हमें एक जन्म तो क्या सौ जन्म में भी सम्यक्त न होगा, जब तक कि आचार्यों की आज्ञानुसार शास्त्र-स्वाध्याय करके हम वीतराग भाव अर्थात् संसार से उदासीनता को प्राप्त न कर लेंगे। क्योंकि वीतरागता ही उदासीनता है, शास्त्रों व मूर्ति का नाम वीतराग धर्म नहीं, वह तो आत्मा में है—इसलिए श्री तारण स्वामी ने श्री श्रावकाचार ग्रन्थ में श्रावकों को सर्वप्रथम ही यह उपदेश किया है कि—हे भाई! यदि तुम सम्यक्ती बनकर शाश्वत सुख जो मोक्ष में है उसे पाना चाहते हो तो संसार, शरीर और भोगों से उदास होकर वैराग्य भावना का चिंतवन करो और तीन मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चार कषायें (क्रोध, मान, माया, लोभ) छोड़ो। कैसी हैं यह चार कषायें, जो कि दुष्ट मिथ्यात्व की संगति से तुम्हें दु:ख दे रही हैं व अनादिकाल से चतुर्गति चौरासी लाख योनियों में भटका रही हैं। इस समय तुम्हें सब संयोग प्राप्त हैं कि छूटने का प्रयत्न कर सकते हो, क्योंकि यह मनुष्य देह, श्रावक कुल व श्री जिनवाणी का संयोग बड़े ही पुण्य के उदय से मिला है, इस समय चाहो तो सब कर सकते हो।

गाथा—मिथ्यातं दुस्टसंगेन, कसायं रमते सदा ।
लोभं क्रोधं मयं मानं, गृहितं अनंत बंधनं ॥२३॥

मिथ्यादर्शन-वैरी की कर, संगति अति दुखदाई ।
क्रोध, मान, माया व लोभ की, करता जीव कमाई ॥
ये कषाय वे, जिनके कर में, जन्म मरण का थाला ।
जिसमें नित जलती रहती है, धू-धू विष की ज्वाला ॥

लोभं कृतं असत्थस्या, असास्वतं दिस्टते सदा ।
अनृतं कृतं आनंदं, अधर्मं संसार-भाजनं ॥२४॥

लोभी को दिखता है शाश्वत, मेरी है यह काया ।
शाश्वत कंचन, शाश्वत कामिनि, शाश्वत मेरी माया ॥
वह इस ही मिथ्या प्रवृत्ति में, नित आनन्द मनाता ।
किन्तु लोभ है मूल पाप का, पाप न इससा भ्राता ॥

कोहाग्नि प्रजुलते जीवा, मिथ्यातं घृत-तेलयं ।
कोहाग्निप्रकोपनं कृत्वा, धर्मरत्नं च दग्धये ॥२५॥

मानव के उर में जलती जब, दुष्ट क्रोध की होली ।
तेल और घृत बनती उसमें, कुज्ञानों की टोली ॥
होता है क्या ? जन्म जन्म से संचित प्राणों प्यारा ।
धर्मरत्न उस पावक में जल, हो जाता चिर न्यारा ॥

मानं अनृतं रागं, माया विनासी दिस्टते ।
असास्वतं भाव वृद्धन्ते, अधर्मं नरयं पतं ॥२६॥

कैसा मान करे मन मूरख, किसका मान रहा है ?
और सोच माया कर किसने, कितना दुःख सहा है ?
मान और माया पर यदि तूं, चढ़ता ही जायेगा ।
तो अधर्म-भाजन बनकर तूं, घोर नर्क पायेगा ॥

जदि मिथ्या मायादि संपूर्नं, लोकमूढ़ रतो सदा ।
लोकमूढ़स्य जीवस्य, संसारे भ्रमनं सदा ॥२७॥

मिथ्या मायादिक में रहता, रत जो मिथ्याचारी ।
लोकमूढ़ता का बन जाता, है वह परम पुजारी ॥

जिसकी गर्दन में लग जाती, इस पापिन की फांसी ।
मुक्त नहीं वह नर हो पाता, बनता भव-भव वासी ॥

लोकमूढ़-रतो जेन, देवमूढस्य दिस्टते ।
पाखंडी मूढ संगानि, निगोयं पतितं पुनः ॥२८॥

लोकमूढ़ता का बन जाता, है जो जीव पुजारी ।
देवमूढ़ता भी आ करती, उसके सिर असवारी ॥
शेष नहीं पाखंडमूढ़ता, भी फिर रह पाती है ।
और कि यह त्रय राशि उसे फिर दुर्गति दिखलाती है ॥

इस तरह मिथ्यात्व की (मिथ्यादर्शन की) संगति में पड़ा हुआ यह अज्ञानी प्राणी जो चारों कषायों व तीन मूढ़ताओं में फंसा हुआ है, इन्हें छोड़े व संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय के जो भोग उन्हें समझे कि यह सब इस आत्मा के कितने शत्रु हैं कि जो हमें सम्यक्ती नहीं बनने देते कि जिस सम्यक्त को प्राप्त करके हम मोक्ष जा सकते हैं। और पुण्य को हम भला मान रहे हैं कि पुण्य से हमें स्वर्ग-सुख मिलेंगे। यह भी हमें जान लेना चाहिए कि यदि कदाचित मान लो हमें स्वर्ग में हीन देव पद मिला तो वहां पर भी झूरना का दुःख रहते हुए अंत में भी देव तो क्या इन्द्र को भी मरण समय इतनी वेदना उस झूरना की होती है कि जितनी वेदना नर्क में नारकी जीवों को भी नहीं होती। यह बात श्री शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में कही है। अतः "ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण, यह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण" जान कर शास्त्र-स्वाध्याय में रुचि उत्पन्न करो और संसार के स्वरूप को समझो।

संसार स्वरूप—**संसारे भयदुःखानि, वैराग्यं येन चिंतये ।**
अनृतं असत्य जानंते, असरणं दुःख-भाजनं ॥१५॥

यह संसार अगम अटवी है, इसमें भय ही भय है ।
सुख का इसमें अंश नहीं है, हां दुख है; अक्षय है ॥
जग असत्य, जग जड़, मिथ्या जग, जग में शरण नहीं है ।
दुख-भाजन जग से विरक्त हो, जग में सार यही है ॥

शरीर—**असत्यं असास्वतं दिस्टा, संसारे दुःखभीरुहं ।**
सरीरं अनित्यं दिस्टा, असुच अमेव पूरितं ॥१६॥

यह संसार अनित्य, नित्य की इसमें रेख नहीं है ।
दुख ही दुख, सुख इसमें मिलता ढूँढ़े से न कहीं है ॥

तन भी क्या है ? रे क्षणभंगुर, पल भर में मिट जाये ।
उन मल-मूत्रों का घर, जिनका नाम लिये घिन आये ॥

भोग—**भोगं दुःखं अती दुस्टं, अनर्थं अर्थ लोपितं ।**
संसारे स्रवते जीवा, दारुनं दुःखभाजनं ॥१७॥

पंचेन्द्रिय के भोग न सुखकर, वे अति दुखकर भाई ।
अनहित कर हरते जीवों की, वे सब धर्म-कमाई ॥
भव-जल में बहने वाले जो, शरण यहां लेते हैं ।
वे मानों जलती होली में, बलि अपना देते हैं ॥

मिथ्यात्व—**अनादि भ्रमते जीवा, संसार सरन रंजितं ।**
मिथ्यात त्रय संपूर्नं, संमिक्तं शुद्ध लोपनं ॥१८॥

त्रय मिथ्यात्व महा दुखदाई, जन्म-मरण के प्याले ।
व्यक्त नहीं होने देते ये, दर्शन-गुण मतवाले ॥
इन तीनों मिथ्यात्व मोह की, डाल गले में फांसी ।
बनता रहता है अनादि से, यह नर भव-भव वासी ॥

सम्यक्त—**वैराग्य भावनं कृत्वा, मिथ्या तिक्त त्रि भेदयं ।**
कसायं तिक्त चत्वारि, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ॥३१॥

भव्यो ! यदि तुम यह चाहो, हो शुद्ध दृष्टि के धारी ।
तो ध्याओ वैराग्य-भावना, सर्व प्रथम सुखकारी ॥
त्यागो त्रय मिथ्यात्व और फिर चार कषायें छोड़ो ।
शुद्ध दृष्टि हो शाश्वत सुख से, फिर तुम नाता जोड़ो ॥

इस तरह पुण्य आकांक्षा को छोड़कर सम्यक्ती बनो और शाश्वत सुख जो मोक्ष है उससे नाता जोड़कर मोक्षमार्गी बनो ।

तारण-वाणी

१—संवेओ-शुद्धार्थं । शुद्ध आत्मस्वरूप से अनुराग ही सच्चा धर्मानुराग है । जबकि व्यवहारिक अर्थ में—दान पुण्य पाठ पूजादि धार्मिक कार्यों में अनुराग ।

२—निव्वेओ—निस्सल्लो, निर्द्वन्दो, निःलोहो । निव्वेओ (निर्वेद) का अर्थ है संसार से वैराग्य या उदासीन हो जाना । श्री तारन स्वामी कहते हैं कि पहले निःशल्य, निर्द्वन्द और निर्लोभी बनो, तब सच्ची उदासीनता आएगी, तदुपरान्त सच्चा वैराग्य सधेगा । निःशल्य, निर्द्वन्द और निर्लोभी

हुये बिना कहने भर की उदासीनता तथा दिखाने भर का वैराग्य-भेष होगा। लोभ केवल धन का ही नहीं, धन का, मान बड़ाई का, सुखों का, स्वर्गादि पाने इत्यादि सभी बातों का।

३—मन मक्कड़ चवल सहावं-अवंभ जानेहि:। व्यवहारिक अर्थ में कुशील को अवंभ या अब्रह्मचर्य कहा जाता है। यहाँ कहते हैं कि-मन के चंचल स्वभावानुसार उसे माया जाल में फंसाना ही कुशील है, जबकि मन को एकाग्र करके आत्मस्थ करना शील है।

४—आसन्न भव्य पुरिसा-ज्ञान वलेन निव्वुए जंतो। निकट संसारी भव्य-जीव ज्ञान के बल से मोक्षमार्गी बन कर मोक्ष जाते हैं, जबकि दीर्घ संसारी केवल क्रियाकांडी बने रहते हैं।

५—मासं च असुहभावं। खोटे भाव रखना मांस के दोष समान हैं।

६—गय संकप्प वियप्पं। हे भव्यो ! संकल्प विकल्पों को छोड़ो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा यह भव और परभव सुखरूप बनेगा।

७—ज्ञान समुच्चय भनियं। सद्दहनं रूव भेदविज्ञानं। श्री तारन स्वामी कहते हैं कि सुनो-ज्ञान का सार यही है कि भेदविज्ञान के द्वारा अपने आत्म-स्वरूप को जानो और उस आत्म स्वरूप का श्रद्धान करो-मनन करो-ध्यान करो और उसी के आनंद का पान करो।

८—पज्जय रत्तो--तिरिय दुःख वीयम्मि। पज्जय कहिए शरीरादि पर्यायार्थिक भावों में तन्मय होना तिर्यञ्चगति के दुखों को पाने का बीज है-मूल कारण है।

९—अनेय कष्ट अनिष्टं, गारव भावेन निगोय वासम्मि। अभिमान करने वाला मनुष्य अनेक प्रकार के अनिष्टरूप कष्टों को भोगकर अन्त में निगोद-वास करता है।

१०—मन स्वभाव पर पिच्छं, पज्जय रतो सु दुग्गए सहियं। जो अपने मन स्वभाव को पर पर्यार्थिक पदार्थों में लगा लेता है-तन्मय कर लेता है सो दुर्गति के दुःखों को भोगता है।

११—जन कल मन रंज विलंतु सुई दर्शन मोहंध विलंतु। जो मानव-जन रंजनराग, कलरंजन दोष, और मनरंजन गारव को विलीयमान कर देता है वही दर्शनमोहनीय का नाश कर सकता है।

१२—संसार सरनि विरयं--कम्मक्खय मुक्ति कारणं शुद्धं। जो मानव मित्र, स्त्री, पुत्र, धन-धान्यादि समस्त सांसारिक बातों से विरक्त होकर इन सब का शरण--आश्रय छोड़ देता है, वही कर्मों को क्षय करके आत्मा की शुद्ध अवस्था रूप मुक्ति को प्राप्त होता है, अर्थात् जिसके चित्त में अशरण-भावना उत्पन्न हो जाती है वह अशरण-भावना ही कर्मों को क्षय करके मुक्ति का कारण है। संसार का शरण तो क्या जैनधर्म कहता है कि भगवान का भी शरण बन्ध (शुभबंध) का कारण है। बन्ध शुभ हो या अशुभ, दोनों ही हेय हैं, त्याज्य हैं, उपेक्षणीय हैं।

१३—उवएस शुद्ध सारं--सारं संसार सरनि मुक्तस्य। समस्त उपदेश का सार यही है कि हे भव्यो ! संसार के शरण से मुक्त होओ-छूटो, इसी में आत्म-कल्याण है।

१४—विगतं कुज्ञान सहावं ज्ञानसहावं उवएसनं देवं । अरहन्तदेव का यही उपदेश है कि कुज्ञान-स्वभाव को छोड़कर ज्ञान-स्वभाव को उत्पन्न करो अथवा ज्ञान-स्वभाव को उत्पन्न करके कुज्ञान-स्वभाव को छोड़ो-दूर करो ।

१५—ज्ञानेन ज्ञान-वृद्धं जं श्रुति वर्धति मच्छ अंगनं । यहां यह दृष्टांत देकर कहा है कि जैसे मछली का अण्डा मछली की श्रुति-स्मृति से वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार हे भव्यो ! ज्ञान से ज्ञान की वृद्धि होती है, अतः ज्ञान (आत्मज्ञान) को जाग्रत करो । आत्मज्ञान के उत्पन्न करने पर तुम्हारा आत्मा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ समय पाकर पूर्णज्ञानी (केवलज्ञानी) हो जायगा । प्रयोजन यह है कि आत्म-ज्ञान ही आत्म-विकाश का कारण है । शुभराग द्वारा किया गया पुण्यबन्ध विकाश का कारण नहीं ।

१६—खिपनिक भाव सउत्तं-खिपियो कम्मान तिविहि जोएन । निर्जरा स्वरूप भावों की जाग्रति करने पर ही, तीनों प्रकार के जो कर्म भावकर्म; द्रव्यकर्म; नोकर्म; इनकी निर्जरा होती है । बिना निर्जराभाव उत्पन्न किए, कितना भी तप करने पर कर्मों की निर्जरा नहीं होती । वह तप अकामनिजरा का रूप ले लेता है ।

१७—ज्ञानांकुरं च दिट्टं-अज्ञान अंकुरनं तंपि । ज्ञानांकुर उत्पन्न होने पर या उत्पन्न करने पर उन्हें देखते ही अज्ञानांकुर स्वयं इस तरह विलीयमान हो जाते हैं जैसे कि सूर्य उदय होते ही रात्रि पलायमान हो जाती है अथवा दीपक-प्रकाश से अंधकार । हमें अज्ञानांधकार दूर नहीं प्रत्युत ज्ञानज्योति की जाग्रति करना है, जिसके जाग्रत होते ही अज्ञानांधकार स्वयं चला जाता है--विलीयमान हो जाता है ।

१८—संसार सरनि विरयं-कम्मक्खय कारणं सुद्धं । 'पुनश्च' "संसरति संसारः" संसार के भ्रमण स्वभाव और उसमें चतुर्गति के दुःखों से भयभीत होकर दृढ़ कर लिया है विरक्तभाव जिसने, ऐसा वह विरक्तभाव कर्मों को क्षय करके आत्मा को शुद्ध करने वाला है । यहाँ यह बताया है कि परके (तीर्थंकरादि के) वैराग्य की अनुमोदना-स्तुति से मात्र शुभ बन्ध होता है, कर्मक्षय नहीं होते । कर्मक्षय के लिए उपादान (अपनी आत्मा) में वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए । तीर्थंकर निमित्तमात्र हैं, उपादान तो अपनी आत्मा है ।

१९—जिन सुभाव उवन्नं ज्ञान सहावेन जिन वीरं देहि । जिनेन्द्र का यह उपदेश है कि ज्ञान-स्वभाव के द्वारा अपने आपके बहिरात्मभाव को जो कि परस्वरूप हैं मिथ्यात्वभाव हैं, उन्हें दूर कर जिनस्वभाव कहिए अन्तरात्मपने (सम्यक्त) के भाव को उत्पन्न करो । यही कल्याणकारी है, उपादेय है ।

२०—जनरंजन राग नरय वासम्मि । जन समुदाय को हर्षित करने वाले कार्यों में जो रागभाव की समस्त प्रवृत्ति सो नरकगति का कारण है । यह वाक्य "बह्वारंभपरिग्रहत्वं

नारकस्य" को बताने वाला है। क्योंकि आरंभ परिग्रह का संचय व दिखावा तथा रागरंग की उसको प्रसन्न करने वाली प्रवृत्ति ही रौद्रध्यान (परिग्रहानंदी रौद्रध्यान) नर्कगति का बन्ध करने वाली है, यह तारण स्वामी ने बताया है।

२१—रागं उवन्न भावं, रागं-संसार सरनि सद्‌भावं। अपने आप में उत्पन्न हुआ जो रागभाव, उसमें रागरूप प्रवृत्ति सो सब ही संसार-भ्रमण का कारण है।

२२—राग सहाव न गलियं-नहु गलियं मिच्छ विषय सल्यं च। यदि राग-भाव न छोड़ा जायगा तो मिथ्यात्व, विषय तथा तीनों शल्य आदि कोई भी दोष दूर न होंगे।

२३—कलरंजन परनइ-कलुस सहावं। शरीर के सुखियापने में प्रसन्न होने वाली जो परिणति सो कलुषभाव रूप है, आनंद-दायक नहीं।

२४—कललंकृत कम्म तिविह उवन्नं। शरीर को अलंकृत (शोभायमान) करने वाली जो मन वचन काय रूप क्रिया सो तीन प्रकार-(भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म) के कर्मों को उत्पन्न करने वाली है।

२५—ज्ञानोंकुरं न लहियं-ज्ञानावरण नरय बीयम्मि। अपने आप में ज्ञान को उत्पन्न न करने से ज्ञानावर्णी कर्म की वृद्धि होकर वह ज्ञानावर्णी कर्म नर्क-बीज हो जाता है।

२६—दर्शनमोहंध-अदेव देवं च। दर्शनमोहनीय से अंध मनुष्य, नहीं है जिसमें कोई एक भी लक्षण देवत्व (आप्त) पने का ऐसे अदेव (धातु पाषाण की मूर्ति) को देव मानता है।

२७—देवं अरूव रूवं रूवातीतं च विगत रूवेन। देव तो अरूपी है, रूपातीत है, रूप से परे है। यही कुंदकुंद स्वामी और सभी आचार्यों ने कहा है:—

"जिनपद नहीं शरीर को, जिनपद चेतन मांहि"

२८—अनाचार अज्ञानं चरनं आवरन निगोय वासम्मि। यह मानव अज्ञान पूर्वक अनाचार करता हुआ अन्तरात्मा रूपी स्वरूपाचरण चारित्र पर आवरण डाल कर अपनी आत्मा को निगोदवासी बना लेता है।

२९—ज्ञानी ससंक मुक्कं, दर्शन मोहंध ससंक रूवं। ज्ञानी पुरुष समस्त प्रकार की शंकाओं से मुक्त रहता है जबकि दर्शनमोहनीय से अन्ध पुरुष सदैव ही समस्त प्रकार की शंकाओं में डूबा रहता है।

३०—बोलंति वयन जिनयं, दर्संन्ति आतम दर्सं; इच्छन्ति मुक्तिपन्थं, चेतन्ति चित्तशुद्धम् रूचियन्ति विमल सहावं, परखै-परम सुभावं, लेयं शुद्ध सुभावं, पीयोसि- पीयूषरूवं, दिष्टंति—तिहुवनग्रं, लख्यन्तु अलख लखियं, अन्मोयं-विज्ञानज्ञानं, जानन्ति-ज्ञानविमलं, कहंतु-विमलज्ञान--ज्ञानं, पोखंतु-ज्ञानविज्ञानं, सिद्धन्तु-कम्मखिपनं, गमनंच-अगमगमनं, सुनियंच-मुक्तिमग्गं, अनु भवंति-अरूवरूवं, लीनंच-परमतत्वं, गहियंच-शुद्ध बुद्धं, जोयंतु-जोययुक्तं, मानंतु-अप्पमानं, रचयंति-

विगतरूवं, परिणय-परनइ शुद्धा, पूरन्ति-कम्मखिपनं, साद्ध तु-अर्थशुद्ध, ऋत्यंतु-ऋत्यरूवं, सोधंच-आत्मशुद्ध, अवयास-नन्तनन्तं, इष्टं-सयोगदिस्टं, गर्जन्तु-कम्म तिविहं, विज्ञान-ज्ञानरूवं, दमनं च-कम्म सुभावं, गलन्तु-मिच्छकम्मं, विरयं-संसार सुभावं, तिक्तंति-कम्म तिविहं, छिंदंति-तिविह कम्मं, निन्दंति-परदव्वभावसद्भावं, वेदंतु-वेदज्ञानं ।

"ज्ञान दृष्टि उववन्नं, जं सूरं तिमिरनाशनं सहसा"

जिस तरह अंत के वाक्य की पूरी गाथा दी गई है इसी तरह श्री उपदेश शुद्धसार जी ग्रंथ में उपरोक्त प्रत्येक वाक्य की गाथायें श्री तारण स्वामी ने रची हैं।"

वेदंतु-वेद ज्ञानं, अर्थात् हे भव्यो ! अनुभव करो तो ज्ञानरूप वेद—शास्त्रों का करो कि जिससे तुम्हारी ज्ञानदृष्टि जाग्रत होगी, जिस ज्ञान-सूर्य के उदय होने पर अज्ञानांधकार स्वयं तत्काल नाश हो जायगा।

नोट:—इसी शैली से प्रत्येक वाक्य की गाथायें हैं जिन सब वाक्यों का भाव पढ़ते समय स्वयं झलक रहा है, इससे प्रत्येक वाक्य की गाथा व अर्थ नहीं लिखा गया।

३१—'अ' लहन्तो, जिन उक्तं—निगोयं दल पस्यते। जिनवाणी की बात को अथवा अंतरंग से उत्पन्न यथार्थ बात को जो ग्रहण नहीं करते ऐसे अवहेलना करने वाले मानव हीनकर्मों को बांधते हैं।

३२—अनृत, ऋतं जानंति, प्रकृति मिथ्या निगोदयं। मिथ्यात्व प्रकृति के वशीभूत हुआ मानव झूठे पदार्थों में सत्य का आरोप करके-जो अपने नहीं उन्हें अपना मानकर हीनकर्म बांधता है।

३३—कुदेव कुगुरुं वंदे, अदेव अगुरुं मान्यतं, कुशास्त्रं चिंतनं सदा, विकहा अनृत सद्-भावं-त्रिभंगी नरयं दलं। कुदेव (रागी द्वेषी देव) कुगुरु (भेषधारी द्रव्यलिंगी साधु) की वंदना तथा अदेव (नहीं है देवत्वपना ऐसी अचेतन मूर्तियाँ) अगुरु (नहीं है गुरुत्वपना जिनमें ऐसे मनुष्यों) की जो मान्यता करता है तथा कुशास्त्र (जिन ग्रंथों में राग, द्वेष, मोहादि को पोषण करने की कथायें हों) उनका चिंतवन करके जिसने विकथाओं को अपने हृदय में बैठाल लिया हो इस तरह की यह तीन बातें खोटे कर्म को बांधती हैं।

३४—'अ' लहंतो ज्ञान रूपेण—मिथ्यात् रति तत्परा। जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त नहीं करता वह मिथ्यात्व से प्रीति करने में ही तत्पर रहता है। आत्मज्ञान से ही मिथ्यात्व दूर होता है।

३५—आशा स्नेह आरक्तं, लोभं संसारबंधनं। आशा, स्नेह और लोभ ये तीन भाव संसार-बंधन के कारण हैं।

३६—'अ' लहन्तो न्यानरूपेण-मिथ्या माया विमोहितं। जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं प्राप्त करता, नहीं जानता वह मिथ्यारूप माया (झूंठी माया) में विमोहित रहता है।

३७—काष्ठ पाषाण दिस्टं च, लेपं चित्र अनुरागत: । पाप कर्मं च बद्धन्ति, त्रिभंगी असुहं दलं ॥ काष्ठ पाषाण की मूर्ति तथा लेप चित्र; इन्हें अनुरागपूर्वक अवलोकन में--अनुराग करने में पापकर्म की वृद्धि होती है ।

३८—अपगत परमानंदं, विगतं संसारसरनि मोहंधं । गय संकप्प वियप्पं, मिच्छा कुन्नान सयल वीयम्मि ॥ आत्मानंद प्राप्त होने पर-संसार भ्रमण का कारण जो दर्शनमोहनीय कर्म वह तथा संकल्प विकल्प और मिथ्यात्व व कुज्ञान के समस्त वीज, जितने भी कारण हैं वे समस्त दूर हो जाते हैं ।

३९—विरियं मूढ़ सुभावं, सुद्धं सरूव निम्मलं सुद्धं । आत्मीक शुद्ध परिणति के जाग्रत होने पर मूढ़ स्वभाव अर्थात् तीनों मूढ़तायें--देवमूढ़ता गुरूमूढ़ता और पाखंडमूढ़ता इस ही का दूसरा नाम है लोकमूढ़ता, यह छूट जाती हैं, जिनके छूट जाने पर उत्तरोत्तर आत्म--परिणाम निर्मल होते जाते हैं ।

४०—ज्ञान समुच्चय भनियं, सद्दहनं रूव भेदविज्ञानं । ज्ञानं ज्ञान सरूवं, खवई संसार सरनि मोहंधं ॥ श्री तारन स्वामी कहते हैं कि ज्ञान का समुच्चयसार यही है कि भेदविज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप को जान कर उसी का श्रद्धान करो, ज्ञान से ज्ञानस्वरूप की वृद्धि होती है व संसार--भ्रमण का कारण जो मोहनीकर्म--मोहान्धकार वह दूर हो जाता है ।

४१—गहनविलय, अगहनु गहउ, भय सल्य संक विलयंतु । आत्मज्ञान होने पर--जो मिथ्यात्व इत्यादि ग्रहण कर रखा है वह तो विलीयमान हो जाता है तथा जो आज तक प्राप्त नहीं कर सके वह सम्यक्त प्राप्त हो जाता है व भय, शल्य, शंकायें सब दूर हो जाती हैं ।

४२—अर्क न हस्यंत नर्क—जो आत्मप्रकाश नहीं करते वे नर्क--दुख देखते हैं ।

४३—अर्कस्य नन्त सुभाव—कैसा है वह आत्मप्रकाश, अनंत चतुष्टय (अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनन्तबल और अनन्तसुख) रूप है ।

४४—अर्कस्य उत्पन्न अर्क—आत्मप्रकाश से ही आत्मप्रकाश की वृद्धि होती है अर्थात् आत्मज्ञान का नाम ही आत्मप्रकाश है । ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है ।

४५—अर्कस्य विशेष—आत्मप्रकाश की विशेषतायें—

उत्पन्नअर्क-ज्ञान की जाग्रति, दस उत्पन्न-दर्शन की उत्पत्ति, न्यान विन्यान उत्पन्न-भेदज्ञान की जाग्रति, उत्पन्न सूक्ष्म सुभाव-परिणामों की बारीक परख, सूक्ष्मक्रांति-बदलते हुए परिणामों को बारीकी से परख, सुक्खेन रमण-आत्मसुख में रमणता, सुक्खेन न्हायक-आत्मसुख में स्थिरता, दुक्खेन विलयंगता-सर्व दुखों का विनाश हो जाता है ।

४६—उत्पन्न न्यान मिलन—उत्पन्न हुए ज्ञान मिलन से—

रञ्जरमण-आनन्दलीनता, भयविनस्य-सप्त भयों का विनाश, नन्द सन्दनरूप-नन्द

कहिए आत्मा आनन्दरूप हो जाता है ।

४७—उत्पन्न न्यान—अक्खर, सुर, विंजन, पद अर्थति अर्थ समर्थ—

आत्मज्ञान के उत्पन्न होने पर अक्षर, स्वर, व्यञ्जन से बने हुए जो पद उन पदों में समाया हुआ जो रत्नत्रय का भाव उसे समझने की सामर्थ्य हो जाती है ।

४८—समय अर्थ, सहकार सदर्थ—

समय कहिये आत्मा उसे समझ लेने पर जितने भी सहकारी कारण हैं वे सब सदर्थ कहिए सार्थक हो जाते हैं, हितरूप हो जाते हैं ।

४६—इष्ट उत्पन्न इष्ट दर्श—इष्टरूप आत्मा-आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर सब प्रकार के इष्ट दर्श जाते हैं कि आत्मा के लिए इष्ट क्या-क्या है । जबकि बिना आत्मज्ञान के यह विवेक नहीं होता है कि इष्टरूप क्या है और अनिष्टरूप क्या है ? यह न जानने से अनिष्ट में इष्ट की मान्यता कर लेता है जिससे आत्मकल्याण करने से वंचित रह जाता है ।

५०—उत्पन्न लख्य इस्ट जीवस्य आह्वान—

"जो मानव आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर इष्ट स्वरूप आत्मा को लख लेता है फिर वह पर का आह्वान न करके स्वयं की आत्मा का ही आह्वान करता है । जैनधर्म के अनुसार अरहंत भी पर ही हैं, निज नहीं । आत्मा का आह्वान करने पर आत्मा आती है, आत्मा का पूजन करने पर आत्मा प्रसन्न होती है और हमें मार्ग-दर्शन कराती है । जबकि अरहन्त सिद्ध का आह्वान करने पर न तो वे आते ही हैं और न उन्हें हमारी पूजा से कोई प्रयोजन है, न वे प्रसन्न होते हैं और न वे अब हमें मार्ग-दर्शन ही कराते हैं, क्योंकि वे तो अब इन बातों से परे-दूर हो गए हैं । उन्हें न तो पूजक से राग और न निंदक से द्वेष है । इतनी ही तो जैनधर्म की विशेषता है । इसी विज्ञान की भित्ति पर ही तो जैन उन्हें (ईश्वर को) कर्ता, धर्ता और हर्ता नहीं मानते । इसीलिए जैनधर्म अनीश्वरवादी है, ईश्वरवादी नहीं । जहां यह मान्यता चित्त में आई कि हमारी पूजन से भगवान प्रसन्न होते हैं वहीं जैनसिद्धांत समाप्त और जहां यह मान्यता कि भगवान बिना पूजा के न रह जांय वहां तो भगवान का स्वरूप ही समाप्त हो जाता है । शब्दों से कुछ भी कहें, किन्तु हृदय में उपरोक्त दोनों संस्कार जम गए हैं । इसी मान्यता के निराकरण करने को उपरोक्त वाक्य श्री तारण स्वामी ने कहा है, यह स्पष्ट है । क्योंकि—

अमृत का प्याला भरवो गये, पिलाने वाला कोई नहीं ।
रास्ता पड़ा ए सामने है, ले जाने वाला कोई नहीं ॥

अर्थात् वे अरहन्त भगवान तो अरहन्त अवस्था में मार्ग-दर्शन कराने वाला उपदेश दे गए जो कि धर्म-ग्रन्थों में मौजूद है, उस अमृत को पीकर तुम्हें मोक्षमार्ग पर चलकर मोक्ष पहुँचना हो तो पहुँच जाओ, नहीं पहुँचना हो न पहुँचो, किन्तु ले जाने वाला कोई नहीं है । यह है जैन

सिद्धांत। और अधिक क्या कहें, वे तो उस अरहन्त अवस्था में ही हमसे और हमरी पूजा-भक्ति से निस्पृह हो गए थे। हमारी पूजा-भक्ति से संतुष्ट होकर उन्होंने उपदेश नहीं किया था और न वे केवल हम जैनों के ही अरहन्त भगवान थे। अरहन्त तो वे एकमात्र अपने लिए ही बने थे, उस अरहन्त स्वभाव से ही उनकी वाणी "भवि भागन वश जोगे वशाय" सबको खिरी थी।

५१—तत्काल रमन-दर्स-अदर्सदर्स, शब्द-अशब्दशब्द, वयन--अवयनवयन, इच्छ-अइच्छ-इच्छ, लख्य-अलख्यलख्य, पेख्य--अपेख्यपेख्य, रमन--अरमनरमन, गहन--अगहनगहन, धरन-अधरन-धरन, सहन--असहनसहन, साहन--असाहनसाहन, अवकाश-अनंतअवकाश, समय-असमयसमय, अन्मोद--परमअन्मोद, खिपक-परमखिपक, मुक्ति--परममुक्ति, सुख-परमसुख। इसमें बताया है कि आत्मरमण होने पर उपरोक्त इन सब बातों का लाभ तत्काल आत्मा में झलक जाता है। उपरोक्त वाक्यों का अर्थ प्रायः स्पष्टसा ही है कि आत्मरमण के प्रभाव से मुक्तिस्वरूप सुखस्वरूप इत्यादि अन्तरंग के आनन्दप्रदायक समस्त भाव जाग्रत दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

५२—तत्काल उत्पन्न न्यान विन्यान--भय विनस्य--भय, शल्य, शंक विलयंति। भेदज्ञान होने पर तत्काल ही भय, शल्य और समस्त प्रकार की शंकायें विलीयमान हो जाती हैं।

५३—अर्क सुभाव दिष्टि-इष्ट सुभाव। आत्मप्रकाश की स्वाभाविक दृष्टि में यह माहात्म्य है कि उसके प्रकाश में इष्ट स्वरूप स्वभाव जाग्रत हो जाता है अर्थात् उसकी स्वाभाविक परिणति इष्ट कहिए कल्याण रूप हो जाती है। जबकि आत्मप्रकाश के अभाव में मनुष्य की समस्त परिणतियां चाहे वे पापरूप हों या पुण्यरूप सभी शुभाशुभ बंध करके संसार-भ्रमण के कारण स्वरूप रहती हैं।

५४—परमेष्टि गमन तं न्यान रमन, तं गम्य अगम्य विलसंतु। परमेष्टि--आत्मा के लिए जो कल्याणकारी सो ही परम--उत्तम, इष्ट कहिए हित रूप ऐसी परमेष्टि स्वरूप जो तेरी अंतरात्मा तू उसमें गमन कर अर्थात् आत्म--रमण कर; यही तेरा ज्ञान-रमण होगा। और तू अगम्य को गम्य करके याने अपने आप में परमात्मपद को प्राप्त कर उसमें विलास करेगा।

५५—दिप्त शब्द विवान उत्पन्ना दाता देउ। जो प्रकाशमान वचन (शब्द-ब्रह्म) रूपी विवान का दाता सो ही देव है। ऐसा देव व्यवहारनय से अरहंत और निश्चयनय से अपने आप की आत्मा को ही जानो।

५६—तुम्हरी अखय रमन रैनारी, हो न्यानो भव--भंवर विनट्ठो। भो ज्ञानी! तुम्हारी अक्षय जो आत्मा उसमें रमण स्वरूप जो रैनारी कहिए प्रवृत्ति वही तुम्हारे भव-भ्रमण का विनाश करेगी। अर्थात्-अन्तर आत्मा की प्रवृत्ति और रमणता ही भव-समुद्र की जो भंवर उस भंवर में डूबते हुए प्राणियों को निकालने में समर्थ है।

५७—भय खिपनक जो अमिय मउ, ममल परम गुरु उतु । गुरु कहते हैं कि तुम्हारी जो सर्वोत्कृष्ट निर्मल आत्मा वह अमृतमय है । उस अमृत-पान करने से समस्त भय मिट जाते हैं ।

५८—धम्म जो धरियो ममल पउ, अमिय रमन जिन उतु । वही धर्म धारण करो जो निर्मलता को देने वाला और अमृत में रमण कराने वाला तथा अन्तरात्मा को प्रकाशित करने वाला हो । ऐसा धर्म केवल एक आत्म धर्म ही है, उसे धारण करो ।

५९—अन्यानी अन्यान मओ, मिथ्या सल्य संजुत्तरेना ।
मुक्ति-मुक्ति तू चिंतवहि, मूढ़ा ! मुक्ति न होइरेना ॥

अज्ञानी प्राणी अज्ञानमय रहने से भांति-भांति की मिथ्या शल्यों में डूबा रहता है और भगवान से प्रार्थना करता है, हे भगवन् हमें पार करो, तारो । गुरु कहते हैं, हे अज्ञानी मानव ! तेरे ऐसे चिंतवन से, प्रार्थना से तुझे मुक्ति नहीं मिलेगी ।

६०—देव न दिट्ठो अमिय मऊ, परम देव नहु भेउरेना । अमृतमय जो देव—आत्मदेव उसे जाने देखे बिना तू परमदेव-परमात्मा के भेद को नहीं देख सकेगा, जान सकेगा ।

६१—गुरु नवि जानियो गुपित रुई, परम गुरहं नहु भेउरेना । हे भव्य ! तूने गुपित रुई कहिए अन्तरात्मा-रूपी गुरु को जब तक नहीं जाना है, उसकी आज्ञानुसार नहीं चला है तब तक तू परमगुरु जो अरहन्त उनके भेद को या स्वरूप को नहीं जान सकता है । वास्तव में तेरा सच्चा गुरु तेरा ही अन्तरात्मा है, उसी की आज्ञा में चल तभी तेरा कल्याण होगा ।

६२—धम्मह भेउ न जानियऊ, कम्मह किय उवएसुरेना ।
अन्यानी वय तव सहियो, भमियो काल अनंतुरेना ॥

तूने ! धर्म जो आत्म-धर्म, उस धर्म के भेद को नहीं जानकर जो अज्ञानपूर्वक व्रत, तप किए उनके फलस्वरूप अनन्तकाल संसार में ही भ्रमण किया, मुक्ति न पा सका ।

६३—जिन जिन पति जिनय जिनेन्द पओ । जिन जिनयति नंद अनंद परम जिन विंद रओ ॥ जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान की नय को पाकर अपनी जिनस्वरूप आत्मा में परमात्म स्वरूप आनन्द को पा लिया है वे विंदरओ अर्थात् जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । उनकी आत्मा मोक्षसुख का आनन्द यहीं पर भोगने लगती है । जिनेन्द्र भगवान की नय क्या है ? "सकलज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन ।" इसी परिणति को जीवनमुक्त कहते हैं ।

६४—गारव गयंद गलियं, सीहं सहावेन ममल सहकारं । सिंह स्वभाव जैसी वीरत्व गुणवाली आत्मा के निर्मल भाव के प्रताप से अभिमान रूपी हाथी चलायमान हो जाता है, भाग जाता है ।

६५—कमलं सीहं सहावं, नन्द आनन्द चेयानन्दं। कमल कहिए आत्मा का स्वभाव सिंह के समान वीरत्व वा विचारवान है तथा नन्द कहिए चार चतुष्टयरूप है, आनन्दरूप है, चेया-नन्दरूप है अर्थात् चैतन्य लक्षण संयुक्त है।

६६—संसर्ग कम्म खिपनं, सारं तिलोय न्यान विन्यानं। तीन लोक में भेदविज्ञान ही सार है। भेदज्ञान से ही बँधे हुये कर्म खिपते हैं, निर्जरा होती है।

६७—रुचियं ममल सुभावं, संसारं तरन्ति मुक्तिगमनं च। जिन्हें आत्मा के निर्मल स्वभाव की रुचि हो जाती है, वह रुचि ही उनकी मोक्षमार्ग है, मोक्षमार्ग ही संसार से पार करके मुक्ति-गमन का कारण है। जिन्हें निर्मल स्वभाव की रुचि हो जाती है वे आत्मा को मलिन करने वाले राग, द्वेष, मोह, कामादि विकारभाव अपने आप में उत्पन्न नहीं होने देते।

६८—जिनरागगलं, जिनदोषविलं, जिन दिप्ति दर्स संजुत्त। जिनके भीतर से राग दूर हो जाता है उनके दोष स्वयं ही विलीयमान होने लगते हैं अथवा दूर हो जाते हैं और उस राग को दूर करने से जिन दिप्ति दर्स कहिए अन्तरात्मा का प्रकाश होकर दर्शन संयुक्त हो जाते हैं। अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। राग ही समस्त दोषों का मूल कारण है ऐसा जानना।

६९—जिनरंजरमन जनरंजगलनु जिन अमिय सिद्ध सम्पत्तु। जो भव्य पुरुष अन्त-रात्मा के आनन्द में रमण करने लगते हैं उनके भीतर से लोक रंजायमान (संसार को अपना वैभव दिखाकर प्रसन्न) करने वाली भावना नहीं रहती। और वे उस अपनी अन्तरात्मा के आनंद-रमण में अमृतस्वरूप सिद्ध सम्पत्ति का अनुभव करने लगते हैं।

७०—जिन दिष्टि इष्टि तं परमपऊ, जिन लखियो सिद्ध सहाउ। जो ज्ञानी पुरुष—इष्टस्वरूप अन्तरात्मा की दृष्टि को लख लेते हैं वे परमात्मस्वरूप को पा जाते हैं। और सिद्धों का जो स्वभाव उसे अपने आपकी आत्मा में देखने लगते हैं अर्थात् अद्वैतदृष्टि हो जाती है। "जैनधर्म के अनुसार—अद्वैत का अर्थ है कि मोक्षधाम में विराजित परमात्मा में जो गुण व्यक्त हैं वे ही समस्त गुण अव्यक्त रूप से हमारी आत्मा में मौजूद हैं यानी परमात्मा की और हमारी तथा सबकी आत्मायें एकसी हैं, एक ही नहीं।" जैसे अग्नि का प्रकाश व तापमान सब एकसा होने पर भी दीपक व उनकी सत्ता प्रथक् २ ही होती है।

७१—लख्यन जिन उवएसं, लख्यनतो ममल न्यान विन्यानं। जो मानव अंतरंग आत्म उपदेश को लखते हैं वे ही भेदज्ञान को प्राप्त होकर उस भेदज्ञान के द्वारा निर्मल आत्मा को लखते हैं, पाते हैं।

७२—मुक्तिस्वभावं ठिदियं, ठिदियं मुक्ति ममल न्यानं च। जो मुक्ति स्वभाव-भावमोक्ष की दृढ़ता रखते हैं वे मुक्तिभाव की दृढ़ता के द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं-केवली हो जाते हैं।

७३—भयखिपिय अमिय रस खनं, तारन अन्मोय परम पिउजुतं। जो भव्य, आत्मानंद रस में रमण करते हैं उनके समस्त भय दूर हो जाते हैं। व तारन कहिए आत्मा, उससे प्रीति करके परमात्मपद संयुक्त हो जाते हैं अर्थात् आत्मा में परमात्मपद को पा जाते हैं। और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता पाते ही मोक्षधाम चले जाते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मानन्द रसरमण ही मोक्ष का मूल है।

७४—पय संजोय नन्द अनन्दह, पय परम न्यान संजुतओ। पय कहिये आत्मा, जो अपनी आत्मा को आनन्दरूप अर्थात् आत्मानन्द स्वरूप का संयोग जोड़े रहते हैं वे ही मानव केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं।

७५—सुनन्द नंद चेयनंद सहजनन्द नन्दियो।
सुपरमनन्द परमओतु सुपरम सिद्धि रत्तओ॥

श्री तारण स्वामी ने नन्द, आनन्द, चेयानन्द, सहजानन्द और परमानन्द ये-पांच श्रेणियां कहीं हैं। नन्द माने हैं चार अर्थात् चारगुण अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्त-सुख। इनकर सहित होने से आत्मा को नन्द कहा है। अतः जो भव्य-नन्द कहिए आत्मा को आनन्दरूप श्रेणी में ले जाते हैं वे चढ़ती हुई द्वितीय श्रेणी वाले होकर चेयानन्द अर्थात् आत्म-दर्शन को प्राप्त होकर आत्मानन्द में मग्न होने लगते हैं। तत्पश्चात् वह मग्नता सहजानंद का रूप ले लेती है और वह सहजानन्द अपने आपको आत्मा में परमानन्दभाव की जाग्रति कर देता है; जिस परमानन्दभाव में सिद्धस्वभाव का वास है।

७६—स्वामी देहाले सुइसिद्धाले भेउ न रहै।
जं जाके अन्मोय सुन्यानी मुक्ति लहै॥

जो स्वामी परमात्मा सिद्धालय-मोक्ष में है, हे भव्य! वही तेरी देह में है। दोनों में रञ्चमात्र भी भेद नहीं जानना। जो ज्ञानी अपनी आत्मा से प्रीति करता है वह मुक्ति पाता है। आत्मा से प्रीति करने का अर्थ है आत्म-शांति रखना, जोकि राग, द्वेष, विषय, कषाय व मोह के अभाव में ही रहती है।

७७—न्यान डोरिमन राखियो वीजौरोदे। हे आत्मन्! तू अपने आत्मबल से ज्ञान-डोरी अपने हाथ में रखना। एक मात्र इसी आत्मबल की आकाँक्षा रखना। दूसरे संसारी-जनबल, तनबल, बुद्धिबल, धनबल, ये तेरा साथ न दे सकेंगे।

७८—नंद आनन्दह नन्द सुरमनं सुक्खम सुइ परमानंदं। हे भव्य! तू आनन्द स्वरूप आत्मा में रमण कर। आत्मानंद में रमण करना ही सच्चा सुख है और छोई परमानंद अवस्था है या उस परमानंद में पहुँचाने वाला है।

७९—अर्क ललित उववन्नं, ललितसहावेन ममलरूवेन। हे भव्य! तू प्रिय जो आत्म-प्रकाश उसे उत्पन्न कर, उस प्रकाश में जो तेरा परमप्रिय आत्मस्वभाव जो कि अत्यन्त निर्मलरूप है वह तुझे दृष्टिगोचर हो जायगा।

८०—अर्क कोमल उत्तं, कोमल सहकार ललित सुइ सुवनं।
ललित चरन सिय चरनं, चरनं कमलस्य कर्न निर्वानं॥

आत्म-प्रकाश में कोमलता-दया सरलतादि गुण उत्पन्न होते हैं। उस कोमलता के कारण प्रियबुद्धि-कल्याणकारिणी बुद्धि उत्पन्न होती है। उस बुद्धि से उत्तम आचरण में प्रवृत्ति होती है। उस आत्मप्रवृत्ति में 'कर्ननिर्वाणं' अर्थात् भावमोक्ष की जाग्रति हो जाती है। जो भावमोक्ष नियम से मोक्ष पहुँचाने का मूल कारण है।

८१—तं अमियरमन रसरमिय सहज जिन सेहरो। हे भव्य! तू आत्मा के अमृत रस में रमण कर। उस आत्मरस में रमण करने से तुझे सहज में ही जिनसेहरा बंध जायगा अर्थात् जिनपद की प्राप्ति हो जायगी।

श्री तारन स्वामी ने अनेक फूलनाओं की रचना प्रसंग पाकर की है। किसी वर को सेहरा बांधे हुए देख कर सेहरा फूलना की रचना की गई है। उसमें का ही उपरोक्त एक वाक्य है जिसमें वे कहते हैं-हे मानव! तू इस संसार प्रपंच सेहरे को क्या बांधे है? जिन-सेहरा बाँध। अर्थात् अंतरात्मा रूप सेहरा बांध कि जिससे तू मुक्ति-रूपी कन्या को प्राप्त कर सकेगा।

८२—नन्द अनन्दह नन्दह पूरिउ, चिदानन्द जिन उत्तं।
सहज नन्द तं सहज सरूवे, परमनन्द सिधिरत्तं॥

हे भव्य! तू अपनी आत्मा को आनन्द-आनन्द से भर ले, ओत-प्रोत कर ले। उस आनन्द में तुझे चिदानन्द (आनन्दरूप आत्मा) का दर्शन हो जाएगा ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है। और उस आत्मस्वरूप का दर्शन होने पर तुझे सहजानंद की प्राप्ति होकर सहजस्वरूप से रहते हुए तेरे उस सहज स्वरूप आत्मा में परमानंदरूप सिद्धपद झलक जायगा। आगे कहते हैं-

८३—पय विंदह विन्यान ऊवनो, परमतत्त्व जिन उत्तं। हे भव्य! भेदविज्ञान के द्वारा 'पयविंदह' मोक्षस्वरूप आत्मा की प्राप्ति या जाग्रति करना ही परमतत्त्व को पाना है, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

८४—अबलबली अन्मोयं, अन्मोयं सुइ खिपिय कम्म बन्धानं। अपार बल है जिसमें ऐसी आत्मा में प्रीति करने से बंधे हुए कर्म खिपते हैं। अतः हे भव्य! तू आत्मा से प्रीति कर।

८५—कलियं कमलस्य कर्ननिर्वानं। आत्म-ध्यान से भावमोक्ष की जाग्रति होती है।

८६—अन्मोय कलन सुई रमन रमाई रे ।
अन्मोय कलन श्री मुक्ति लहाई रे ॥

जिसे ध्यान से प्रीति होती है, वह ध्यान उसे आत्मरमण करने में सहायक होता है। और वह ध्यान की प्रीति करने वाला मानव-योगी मुक्तिश्री-मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करता है।

८७—पं० श्री लखिमन लख्य मॉं भवियन भव्वु सिद्ध सम्पत्तु भवियन। हे भव्यजन ! पं० श्री-श्रेष्ठ जो आत्मा उसे लखो। और अपने लक्ष्य में उसे ही प्रतिष्ठित करो। उसकी प्रतिष्ठा करने से हे भव्यजन ! तुम्हें भव्य-उत्तम सिद्धसम्पत्ति प्राप्त होगी।

८८—निःसंकह हो संक जु विलियो धम्म सहाए। हे भव्य ! निःशंक होकर तू आत्म-धर्म को प्राप्त हो, उस आत्मधर्म के स्वभाव से तेरी समस्त शंकायें विलीयमान हो जायंगी।

८९—मुक्तिसुभाए मुक्तिरमन जिन, मां मोहि न्यानरमन जिन भावैगो। जिन कहिए अंतरात्मा, कैसा है वह ? मुक्तिस्वभाव वाला है व मुक्तिरमण स्वरूप है। हे जिनवाणी माता ! मुझे जो न्यानरमण करने वाला ऐसा जिन (अन्तरात्मा) वही प्रिय है या होगा।

९०—सुचेयन नन्दह सहज सुहाओ, परमानंदं तं मुक्तिपओ। हे भव्य ! सुचेयन-निर्मल आत्मा उसके आनन्दरमण से सहज स्वभावतः ही उत्पन्न होने वाला परमानंद मुक्तिप्रदायक है।

९१—विन्यानवीर्य तं मुक्तिपओ पय समयह समय संजुतु। हे भव्य ! भेदविज्ञान के बल से मुक्ति प्राप्त करो। भेदविज्ञान से ही आत्मा समताभाव को प्राप्त होती है जो समता-भाव ही मुक्तिप्रदायक है। विशेष—शास्त्रज्ञान-मात्र से मुक्ति नहीं मिलती, शास्त्रज्ञान से जब वैराग्य भावनायें जाग्रत होकर आत्मानंद झलकने लगता है तब ज्ञान भेदज्ञान कहलाता है, वह भेदज्ञान मुक्तिप्रदायक होता है।

९२—सिद्ध सरूव सुरति, तरन जिन खेलहिं फागु।
मुक्तिपंथ सुइ उवने, सहसमय सिद्धि सम्पतु ॥

तरनजिन-अंतरात्मा फाग खेलती है या खेलती ही रहती है, किसके साथ ? अपनी आत्मा के सिद्धस्वरूप की सुरति अर्थात् अनुभूति के साथ। वह अनुभूति ही मुक्तिपंथ को उत्पन्न करके समय पाकर सिद्धसम्पत्ति को प्राप्त करा देती है।

९३—हम बाहुलो हो उमाहो स्वामी तुम्हरे उवएसा।
चलि चलहु न हो जिनवर स्वामी अपनेउ देसा ॥

श्री तारन स्वामी आत्मानंद में मग्न होकर अपने आप की अंतरात्मा की ध्वनि में बाहुले हो जाते हैं, मस्त-पागल हो जाते हैं। और उमंगपूर्वक कहते हैं कि हे आत्मन् ! मैं तुम्हारे उपदेश

याने ध्वनि में बाहुला हो गया हूँ। अर्थात् संसार का अब कुछ भी नहीं सुहाता। और स्वयं की आत्मा को ही सम्बोधन करके कहते हैं कि भो जिनवर ! चलो, चलो अपने देश (मोक्षधाम) को। विशेष—जिसके भीतर सम्यक्त का प्रकाश हो जाता है उसे फिर संसार रुचिकर नहीं लगता। वह तो आत्मानंद में मस्त-पागल हो जाता है। इसी दशा को परमहंस दशा कहते हैं।

६४—पंचायन हो, पंचन्यानमय, उवन उवएसा। हे आत्मा ! तू सिंह के जैसी वीर और स्वावलम्बी है, तथा पंच ज्ञानमय है। ऐसा उपदेश में कहा गया है।

६५—अलख जिन तरन विवान सुमुक्ति पौ पओ।
रमनजिन तरन विवान सुमुक्ति पओ॥
उवन जिन तरन विवान सुमुक्ति पओ।
दर्श जिन तरन विवान सुमुक्ति पओ।
जिनय जिन तरन विवान सुमुक्ति पओ॥

इस तरह अलख जो लखने में नहीं आता, रमन जो अपने आप में रमण कर रहा है, उवन जो उपदेश का दाता है, दर्श जो श्रद्धा से परिपूर्ण है और जिनय कहिए जिनेन्द्र की नय में चलने वाला है ऐसे जिन अर्थात् अन्तरात्मा को हे भव्य ! तुम तरन विवान जानो। और उस तरन विवान को प्राप्त कर मुक्ति पाने के अधिकारी बनो। इस तरह अलख, रमन, उवन, दर्श, जिनय ये पांच विशेषण अंतरात्मा को श्री तारण स्वामी ने दिये हैं।

६६—जिनवर उत्तउ समय संजुत्तु संसर्गह जिनकम्मु गलतु। श्री जिनवर भगवान ने कहा है कि आत्मज्ञान संयुक्त होने पर आत्मा से संसर्ग हुए कर्म गल जाते हैं ऐसा जानो।

६७—चित नाटा मेरे मन रहियो रे। उपजिउ है ममल सुभाव। श्री तारण स्वामी अपने आपके मन को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे मन ! मैं तुझे जानता हूँ कि तू नाटा की तरह उग्र-चंचल है, स्वच्छन्दगामी है, तीव्र गति वाला है। किन्तु अब मुझे जो निर्मल स्वभाव जाग्रत हुआ है उस सुभाव-रूपी खूँटे से तूं बन्ध गया है अतः अब तू मेरे ही काबू में रहना। और अपने चंचलपने को छोड़ देना।

६८—यहु मुक्तिरमन विलसन्तु, चित नाटा मेरे मन रहियो रे। हे मन ! तू मेरे काबू में रहते हुए मुक्तिरमण में विलास कहिए क्रीड़ा करना। मुक्ति रमणविलास--जीवन मुक्त दशा में क्रीड़ा करना-आनन्द सागर में तैरना है।

६९—सोढ़सुभावे हो परिनवै सुइकलन मुक्ति सम्पत्तु। जो भव्य आत्मा सोलह कारण भावनानुसार अपनी परिणति बना लेता है उसका ध्यान, विचारधारा इतनी पवित्र आदर्श रहती है कि उसके फलस्वरूप वह तीर्थंकर गोत्र बांध लेता है व समय पाकर मुक्ति पा जाता है।

सोलहकारण भावना में सब का मूल सर्व प्रथम की दर्शनविशुद्धि नाम की भावना है व इस एक भावना में ही तीर्थंकर गोत्र बांधने का सामर्थ्य है। इसके बिना शेष भावनायें कार्यकारी नहीं होतीं।

१००—परमेष्ठि गमनं तं न्यान रमन, तं गम्य अगम्य विलसंतु। हे भव्य ! तू ज्ञान में रमण कर, जिससे तेरी पहुँच परमेष्ठी कहिए आत्मा में होगी। तब तू अगम्य जो परमात्मस्वरूप तेरे ही भीतर है उसमें तेरी गम्यता हो जायगी और उसमें ही तेरा विलास होगा, आनन्दरमणता होगी-मोक्षदर्शन होगा।

१०१—वंभ चरन, आयरन अरुह रुई। रुई कहिए आत्मा की आराधना करना और उसमें ही आचरण करना ब्रह्मचर्य है।

विशेष—ब्रह्मचर्य की प्रारम्भ दशा-प्रथम श्रेणी शीलव्रत है, द्वितीय श्रेणी स्त्रीप्रसंग त्याग है, तृतीय श्रेणी ब्रह्मचर्य पद ७वीं प्रतिमा की दीक्षा लेना है, चतुर्थ श्रेणी मुनि अवस्था है जो कि छठवें गुणस्थान में रहती है, पंचम श्रेणी मुनिराज को ७वें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान की चढ़ती उतरती हुई ध्यानावस्था है, छठवीं श्रेणी यथाख्यातचारित्र बारहवें गुणस्थान की है और सातवीं श्रेणी श्री केवली भगवान की है कि जहां परिपूर्ण केवल एक आत्म-आचरण ही है। अतः आत्म कल्याणार्थी श्रावक-श्राविकाओं (दम्पति) को शीलव्रत-स्वदारसन्तोष की प्रतिज्ञा में बंध कर रहना चाहिये।

१०२—दहविहि आयरन सुयं जिनरमनं, भय खिपनिक सुइ अमिय रसं। दस धर्म (क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य) इनका आचरण करने पर ही स्वयं की अन्तरात्मा में रमण करने को सामर्थ्यवान होता है। और वही आत्मरमी सप्त भयों का नाश करके आत्मानन्द रस का पान करता है व अमृतत्व को प्राप्त होता है। उत्तम क्षमादि दस धर्मों का आचरण करना ही आत्म-पूजा है।

१०३—उवसम खिम रमन सु ममल पयं। कषायभावों की मंदता व क्षमाभाव में रमण करना ही आत्मा को निर्मल करने का भव्य द्वार है या आत्म-दर्शन का मार्ग है।

१०४—आकिंचन आयरन जिनय जिनु अर्थति अर्थ सुममल पयं। हे भव्यो ! आकिंचन्य-मेरा कुछ भी नहीं ऐसी भावनाओं में आचरण-प्रवृत्ति करना ही सम्यक्त का प्रकाश है, कि जिस प्रकाश में रत्नत्रय स्वरूप निर्मल आत्मा की प्राप्ति होती है, दर्शन होता है। यह आकिंचन्य धर्म ही ब्रह्मचर्य धर्म की भूमि है, ब्रह्मचर्य धर्म केवलज्ञान की भूमि है, ऐसा जानकर आकिंचन धर्म को प्राप्त करो।

१०५—सुद्ध सरूवे सहज सनन्दे, तव आयरन सुद्ध सुइ सुद्धपयं। आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है उसमें सहजानंद द्वारा रमण करने लगना ही शुद्ध तप है। वही सच्चा तपाचरण है कि जिस तप के द्वारा शुद्धात्मा की जाग्रति या प्राप्ति होती है। यही सच्चा अंतरंग तप है। आत्म-रमणता के बिना सब क्लेशमात्र हैं।

१०६—भवियन अन्मोय तरन, सुइ सिद्ध जयं। हे भव्यजन! तरन कहिए तुम्हारी अंतरात्मा से प्रीति करना ही मुक्ति-प्राप्ति का कारण है। आत्मा से प्रीति, आत्मा के समता-भावों की व उसके आनन्द गुण की रक्षा करना, उसमें रागद्वेष, मोह, काम, क्रोधादि विकार भावों की जाग्रति न होने देना।

१०७—कलन कमल जै जै जै, जयो जयो सज्जनं सुवनं। हे सज्जनो! मन, वचन, काय के (त्रियोग के) द्वारा आत्म-ध्यान की वृद्धि करो, वृद्धि करो, वृद्धि करो। वह ध्यान ही ज्ञान-विकास का कारण है, ज्ञान-विकास ही केवलज्ञान को प्राप्त करने का क्रम है।

१०८—अहो जिन जिनवर जिनके हिय बसैं, अहो जिन तिनके हिय हुव मुक्ति रमै। जिनके हृदय में जिन तथा जिनवर का वास हो जाता है उनके हृदय में मुक्ति का निश्चित निवास हो जाता है, जो समय पाकर मुक्त हो जाते हैं।

१०९—च्युवजिन उवने समय सिय रमने, सह समय मुक्ति पथ पाया रे।

जिनके हृदय में साश्वत जिनका रमण हो गया है उन्हें मुक्ति-पंथ मिल गया ऐसा जानो।

११०—तार कमल सेहरो-आत्मकल्याणकारी सेहरा, इसमें—रमनजिन, कमलजिन, विंद-जिन, दृष्टीजिन, उवनजिन, अलखजिन, खिपकजिन, मुक्तिजिन, ममलजिन, सहजजिन, परमजिन, सुर्यजिन, अमियजिन, समयजिन, नन्तजिन, लखनजिन, नन्दजिन, सियजिन, पर्मजिन, तरनजिन, इस तरह बीस जिन सेहरों का वर्णन किया है कि हे भव्यजीव! तू इन सेहरों को बांध कि जिनके द्वारा मुक्ति-कन्या को वरेगा।

१११—जिन अपने रंग मन्दिर में रे, कोड़ उवन जिन स्वामी।

कमल कर्न हँसि पूछन लागे, जन काहे अकुलाने॥

तीर्थंकर सों कासिहु बूझे, केवली सों कासिहु मांगे।

सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने आपके आनंद रंग मन्दिर में अपने आपको तीनलोक का स्वामी मानकर हँसते हुए पूँछ रहा है कि ये संसारी प्राणी क्यों आकुलित हो रहे हैं? यह तीर्थंकर से क्या पूछना चाहते हैं और केवली से क्या मांगना चाहते हैं?

विशेष—सम्यक्ती पुरुष की दृष्टि में न तो कुछ भी तीर्थंकर से पूछने वाली और न कुछ केवली से ही मांगने वाली बात ही बाकी रहती है, और न पर वस्तु के आश्रित कोई सुखाकाँक्षा

ही शेष रहती है। वह तो अपने आप में पूर्ण तृप्त और सब बातों से भरपूर सुखी रहता है जबकि संसारी, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि पुरुष के भीतर दुःख और विकल्पों के ढेर लगे रहते हैं और सोचता रहता है कि तीर्थंकर होते तो भविष्य पूँछ लेते, केवली होते तो उनसे मुक्ति का वरदान मांग लेते, इत्यादि विचारों में ही डूबा रहता है। संसार की इस अज्ञान दशा को देखकर कभी तो हँसता है और कभी करुणाभाव से आँसू भी बहाता है कि देखो ये संसारी मात्र अपनी अज्ञानता से ही दुखी हो रहे हैं। यदि यह आत्मा के आनन्द को समझें तो एक क्षण में सब दुःख दूर हो जायें। और आनन्द परमानन्द का भोग करने लगें। अन्यथा वही कहावत चरितार्थ कर रहे हैं कि जैसा वीर ने कहा है—"जल में मीन प्यासो, मोहि सुन-सुन आवत हांसी"

११२—जिन अलख लखिउ सुइ अगम पऊ, जिन अगम-अगम दर्शन्तु। जिन्होंने अलख आत्मा को लख लिया है मानो उन्होंने अगम्य का भी गम्य करके पा लिया है। और वे जिन कहिए अन्तरात्मा की अगम्यता को पाकर उस अगम्यता का दर्शन कर रहे हैं, उसी में लीन अथवा सराबोर हो रहे हैं।

११३—उव उवन उवन दसंतु दसंतु रे, उव उवन सहावे समय मौ।
उव उवन समय विलसंतु, विलसंतु रे उव उवन सहावे मुक्ति पौ ॥

श्री तारण स्वामी कहते हैं कि—जिस ज्ञानी पुरुष को श्री अरहंत का उपदेश हृदयंगम हो जाता है वह उस उपदेश सरोवर में मग्न हो जाता है और स्वयं की आत्मा को उपदेश रूप बना लेता है और उस अपनी ही आत्मा में उत्पन्न हुए उपदेश सरोवर में रमण करता है और आनन्द का भोग करता हुआ उसी उपदेश के सहारे मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

११४—जिन समय अर्क सिवपंथ, पंथ जिन स्वामी हो।
जिन तारन तरन विवान मौ, सुनि न्यानी हो ॥
जिन समय सिद्धि सम्पत्तु, सिद्ध जिन स्वामी हो।

श्री तारण स्वामी कहते हैं कि—अन्तरात्मा का प्रकाश ही शिवपंथ-मोक्षमार्ग है। अन्तरात्मा के प्रकाश होने पर ही यह आत्मा जिनस्वामी हो जाती है जिसे चौथे गुणस्थान से शिव-पथ मिल जाता है। भो ज्ञानी जन ! सुनो, वही चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा 'जिन' तारन तरन विवान बन जाती है, और वही 'जिन' क्रमशः गुणस्थानों में चढ़ती हुई अपनी आत्मा की परिपूर्ण सिद्धि सम्पन्न होकर जिनस्वामी-सिद्ध-अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

११५—जय जयं जयं जिन आवलिया, उव उवन समय मुक्तावलिया। जिनका अपना पुरुषार्थ अन्तरात्मा के भावों की वृद्धि में ही रहता है वे उस अपनी आत्मा में ही मुक्ति का दर्शन कर लेते हैं। मुक्ति-दर्शन ही परमात्मदर्शन है, यही भावमोक्ष है।

११६—तारै तरै समय सुई तारै, अचलवली जिन जिनय जिनं।

जिन तुव पय हम सरनं, केवल जिन तुव पय सरनं॥

तारन तरन जो आत्मा वह श्री जिनेन्द्र की नय को पाकर अपने बल को प्रकाश करके जिनपद को प्राप्त करती है। श्री तारण स्वामी कहते हैं कि—हे जिनपद प्राप्त आत्मा! मैं तेरे शरण को प्राप्त होता हूँ तथा श्री केवली भगवान की शरण को भी प्राप्त होता हूँ कि जिनकी नय आदर्श से व उपदेश से हमारी आत्मा बलवान होकर जिनपद-अन्तरात्मपद को प्राप्त हुई है। "व्यवहारे परमेष्ठि जाप, निश्चय शरण आप में आप"

११७—उव उवन उवन उव मिलन है, सुइ बंध जिनाई।

उव उवन रमन रस परिणमउ, सुइ बंध विलाई॥

उव उवन गमन चिंतामनि चिंति मुक्ति मिलाई।

उव उवन वास मल्यागिरि वसि मुक्ति वसाई॥

इसमें अरहन्त उपदेश की महिमा बताई गई है कि—श्री अरहन्त का उपदेश मिलने पर बँधे हुए कर्म जीर्ण-शीर्ण, ढीले पड़ जाते हैं। और जो मानव उस उपदेश के रस में रमण करके तदनुसार परिणमन-प्रवृत्ति करने लगता है, उसके बँधे हुए कर्म विलीयमान होने लगते हैं। तथा उस उपदेश रूपी प्रकाश में जो चिंतामणि आत्मा झलक जाती है उस आत्म-चिंतवन से भाव-मोक्ष-जीवनमुक्त दशा की प्राप्ति हो जाती है। और उस उपदेशरूप मल्यागिरि चन्दन की सुगन्धि में वास करने अर्थात् तल्लीन होने पर यह हमारा आत्मा मुक्ति में वास करने लगता है जो कि साक्षात् मुक्ति प्राप्त होने का कारण है।

विशेष—चतुर्थ गुणस्थान से छठवें गुणस्थान पर्यंत की अवस्था जीवनमुक्त दशा है जबकि सातवें से बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान की जो ध्यानावस्था है वह आत्म-तल्लीन दशा है जो कि साक्षात् मुक्ति अर्थात् केवलज्ञान को जाग्रत कर देती है। तात्पर्य यह जानना कि—उपदेश श्रवण, शास्त्र-स्वाध्याय करना ही आत्मकल्याण का मार्ग है, क्रम है। अतः हमें स्वाध्यायप्रेमी होना चाहिये।

११८—चिंता करो, चिंतामनि जय रमना, अप्प परम पय उवनु जिना। श्री तारण स्वामी कहते हैं, हे भव्यो! चिंतामणिरत्न के समान तुम्हारी जो आत्मा उसमें रमण करने की वृद्धि हो, तल्लीनता बढ़े; इसकी चिंता करो, विचार करो। जिस तल्लीनता से तुम्हारी आत्मा परमात्मारूप दिखाई देगी, ऐसा श्री जिनदेव ने कहा है।

भावार्थ—नाशमान संसार की चिंताओं को छोड़कर आत्मकल्याण की चिंता करो। आत्म-कल्याण का मार्ग एकमात्र आत्मध्यान ही है।

११६—उव उवन उवन उव उवन जिनैया, उव उवन सहावे कलन कलैया ।
चर चरन चरिय जिन चरन चरैया, चरि कलन उवन जिन मुक्ति मिलैया ॥
अब हम वंदे हैं जिन जिनय जिनैया, कम कमल कलिय धुव मुक्ति रमैया ॥

जो ज्ञानी पुरुष श्री अरहंत के उपदेश के अनुसार नय के चलने वाले हो जाते हैं अर्थात् निजानंदरस के प्रेमी-आत्मरमी हो जाते हैं, वे ही सच्चे ध्यानमग्न-आत्मध्यानी साधु हैं, सच्चे आत्मध्याता हैं। और उनका चारित्र 'जिनचरन' अन्तरात्मा के अनुसार होता है। जैनधर्म में आत्माचरण ही कर्मनिर्जरा का कारण है जबकि आत्माचरण के बिना मात्र बाह्याचरण कर्मनिर्जरा का कारण नहीं। अत: आत्मध्यानी और आत्माचरण करने वाले साधुओं को मुक्ति का लाभ होता है। श्री तारन स्वामी कहते हैं कि ऐसे आत्मज्ञानी-ध्यानी और आत्माचरण करने वाले साधुओं की हम वंदना करते हैं। कैसे हैं वे साधु ? श्री अरहंत की नय पर चलने वाले हैं, जल में कमल की भाँति संसार से अलिप्त रहते हैं और मुक्ति का जो साश्वत सुख उसके भोक्ता होते हैं।

१२०—जयवीर उवन जिन श्रेनिजयं, जय कलन कलिय जिन जिनय जिनं ।
जयतार कमल 'जिन श्रेनि सुयं, सह समय साह जिन मुक्ति जयं ॥

जो मानव अपने आप में बल को उत्पन्न करके अपनी आत्म-श्रेणी की वृद्धि करते हैं अर्थात् अपने आत्मपरिणामों को उत्तरोत्तर निर्मल-पवित्र और समताशील करते जाते हैं उनका आत्मध्यान भी वृद्धि पाता हुआ जिनेन्द्र की नय में प्रतिष्ठित हो जाता है। और वे अपनी तारण स्वरूप आत्मा की श्रेणी बढ़ाते हुए साहजिन-अरहंत होकर मुक्ति को पा जाते हैं। मूल में आत्म-बल और अन्त में मोक्ष यह बताया है।

१२१—नयन मेरे ममल मयं, ए जिन, देखत तरन विवान ।
नयन मेरे ममल मयं, स्पसंत उवन विवान ॥

श्री तारण स्वामी अपने आपके ज्ञाननेत्र की सराहना करते हुए कह रहे हैं कि-मेरे पवित्रतम ज्ञाननेत्र में 'जिन' तरन विवान का दर्शन हो रहा है। तथा 'उवन विवान' उपदेश रूपी विवान को मेरे ज्ञाननेत्र छू रहे हैं। 'जिन' तरन विवान और 'उवन' विवान, इन दोनों की महिमा श्री तारण स्वामी ने अपने अध्यात्मवाणी ग्रंथ में सैकड़ों बार गाई है। आत्मकल्याण के लिए उनकी दृष्टि में यह दोनों मूलमंत्र ही थे। 'उवन'—अरहंत का उपदेश और 'जिन'—अपनी अन्तरात्मा का प्रकाश "उवन-निमित्त और उपादान-अंतरात्मा का प्रकाश" इन दो के सिवाय उनकी दृष्टि में आत्म-कल्याण के लिए न तो भगवान का साक्षात् दर्शन और न उनके समवशरण की महिमा अथवा उनकी मूर्ति या उनके नाम की जाप उपयोगी नहीं थे।

१२२—उव उवन उवन उव उवन समानी, उव उवन साहि-सिय अलख लखानी। उव

उवन अर्क सुई विंद समानी, उव उवन मिलन सिधि मुक्ति विवानी ।।१।। न्यानी हो जिन अगम विवानी, न्यान विन्यान होय पहिचानी । उव उवन उवन दरसावो स्वामी, न्यानी हो तुम अगम विवानी ।।२।। "अर्क फूलना"

इस 'अर्क फूलना'—प्रकाश की उमंग में-श्री तारन स्वामी कहते हैं—जो मानव श्री अरहंत के द्वारा उत्पन्न हुए उपदेश में समा जाता है-उसे हृदयंगम कर लेता है, उसकी श्रेष्ठ बुद्धि-ज्ञान में अलख जो आत्मा वह लखने में आ जाती है अर्थात् उसे परमात्मा का दर्शन हो जाता है और उस परमात्मदर्शन में ही मोक्षभाव का प्रकाश हो जाता है। वह मोक्षभाव ही उसे मोक्ष में ले जाने वाला विवान है । अतएव हे स्वामी ! यहाँ स्वामी का अर्थ अपनी अंतरात्मा से है कि हे आत्मा ! तू उसही उपदेश को दर्शाओ जोकि श्री अरहंत की आत्मा ने दर्शाया था । उस आपके उपदेश की उसे ही सच्ची पहिचान होती है जो भेदविज्ञान के द्वारा उसे पहिचानता है । हे ज्ञानी हो ! तुम 'जिन' अगम विवानी बन कर उसके द्वारा सिधि मुक्ति में प्रवेश करो । अपने स्वरूप की जाग्रति करना ही मुक्ति में प्रवेश करना है ।

१२३—विलस रमन जिन मोय लै जाई, उव उवन स्वाद रंग मिलन मिलाई ।
जं सूर उदय सुइ रयन गलाई, तं उव उवन उदय सुइ सरन विलाई ।।१।।
जिन दिप्ति उवन सुइ समय समाई, जिन दिप्ति दिष्टि सुइ रमन रमाई ।
जिन सुवन सुयं सुइ सम विलसाई, सम समय सरन सम मुक्ति लहाई ।।२।।
जिन दिस्टि उवन सिधि सम विलसाई, जं सूर कमल जिन सुयं विगसाई ।
जिन उवन मिलन सुइ काल विलाई, जं जाय नाम गुन सुन्न समाई ।।३।।

इस मिलन समय फूलना में श्री तारन स्वामी अपनी अन्तरात्मा से कहते हैं—हे जिन अन्तरात्मा ! तू अपने आपके आत्मानन्द भोग में इस तरह विलास कर व रमण कर कि तेरा रंग व श्री अरहंत के उपदेश का रंग दोनों का स्वाद-रंग एकमेक होकर मिल जाय । ऐसा होने पर जिस तरह सूर्य के उदय होने पर रात्रि चली जाती है उसी तरह अरहन्त के उपदेश का उदय जिसके भीतर अपनी आत्मा में हो जाता है उसके भीतर से समस्त पर पदार्थों के प्रति जो शरण भावनायें संसारी प्राणियों में रहती हैं वे सब विला जाती हैं, विलीयमान हो जाती हैं ।।१।।

जिनके भीतर उस उपदेश का प्रकाश हो जाता है उनकी आत्मा अपनी ही आत्मा में समा जाती है और उनकी अन्तर प्रकाश पूर्ण दृष्टि अपने आप में ही स्थिर हो जाती है । उनकी 'जिन सुवन'-आत्मबुद्धि समताभाव में विलास करने लगती है और वह समभाव या समताभाव के शरण को प्राप्त हुई आत्मा मुक्ति पा जाती है, अधिकारी हो जाती है ।।२।।

जिनकी वह समताभाव से परिपूर्ण उत्पन्न दृष्टि सिद्ध के समान (सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि,

निआनन्द रसलीन) अपनी सिद्ध के समान आत्मा में विलास करती है, रमण करती है उनकी अपनी आत्मा इस तरह स्वयं विगसायमान प्रफुल्लित हो जाती है जिस तरह सूर्य के उदय होने पर कमल विगस जाता है, खिल जाता है। और इतना ही नहीं जिन्हें 'जिन उवन मिलन' कहिए अन्तरात्मोपदेश मिलने लगता है उनका काल भी विलीयमान हो जाता है-मृत्यु का भय छूट जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि को मृत्यु भय नहीं रहता। तथा उसके भीतर उस आत्मप्रकाश में नाम और नामाश्रित गुण उसकी सुन्य समाधि में समा जाते हैं इन किन्हीं का भी उसे भान नहीं रहता-आराधना नहीं रहती। वह केवल एक अपनी आत्मा के आनन्द-परमानन्द का भोक्ता हो जाता है ॥३॥

१२४—रंज रमन सुइ नन्द, अनन्द नन्द सुइ मुक्ति पौ-बनजारे हो !
पर्म तत्त्व पद विंद मौ—बनजारे हो !

बनजारे-मोक्ष के वेपारी हो ! आनन्द में रमण करने वाली जो तुम्हारी आत्मा उस अपनी आत्मा को आत्मीय आनन्द से भरपूर यानी ओत-प्रोत कर देना ही मुक्ति पाने का मार्ग है, साधन है। कैसा है वह तुम्हारा आत्मा ? सात तत्त्वों में सर्वोत्तम तत्त्व है, छः द्रव्यों में परमोत्कृष्ट द्रव्य है, नौ पदार्थों में सर्वोत्तम पदार्थ है, पंचास्तिकाय में सर्वोत्तम-जीवास्तिकाय है इस तरह जो सत्ताईस तत्त्व कहे गए हैं उन सब में मुख्य सर्वश्रेष्ठ केवल एक जीवतत्त्व ही है। वही जीवतत्व-परमतत्व तुम्हारी आत्मा है और वह विंद कहिए मोक्षपद विभूषित है, उसे प्राप्त करो। यही तुम्हारा सच्चा व्योपारीपना और सारभूत व्यापार है। इस व्यापार में तुम अपनी चतुराई का उपयोग करो कि जिससे तुम्हें चिंतामणिरत्न का लाभ होगा। आचार्यों ने आत्मा को ही चिंतामणिरत्न कहा है।

१२५—सम्यक्त और सम्यक्ती की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं-जाकी उवन सेज रवि प्रलय पड़े, ताके नयन कोई मत अंजन कहे।

सम्यक्त रूपी सेज से—सम्यक्त गुण से प्रीति करते ही अर्थात् सम्यक्त के उदय होते ही कर्मों पर प्रलय पड़ जाती है। और उस सम्यक्त प्राप्त-सम्यक्ती पुरुष की दृष्टि में-विचारधारा में कोई रञ्चमात्र भी दोष किसी के भी कहने को नहीं रह जाता है अर्थात् उसके समस्त कार्य निर्दोष ही होते हैं।

१२६—तं विंद रमन सुइ कमल कलिय जिनु, अन्मोय तरन सिद्धि जयं। हे भव्य ! तुम मोक्षभाव में रमण करोगे अर्थात् जीवनमुक्त दशा बना लोगे तब ही तुम आत्म-ध्यान कर सकोगे, और जब तुम्हारी प्रीति अर्थात् अनुमोदना तरन स्वरूप जो 'जिन' कहिए अन्तरात्मा से हो जायगी तभी तुम्हारी मोक्ष को-आत्मकल्याण करने वाली समस्त साधनायें, उनकी सिद्धि होगी और उन साधनाओं की वृद्धि होगी। "भावमोक्ष ही आत्मकल्याण के लिए मूलमंत्र है"

१२७—चरन सहाई तं चरन रमन जिनु, चरन चरिय जिननाथ सुयं।
भवियन ! तरन चरन जिन सिद्धि जयं॥

श्री तारन स्वामी साधुओं को संबोधन करते हुए कहते हैं-हे भव्यजन ! चरित्र स्वभाव ही है जिस तुम्हारी आत्मा का, तुम उसही में चारित्र करो, रमण करो। वह आत्मचारित्र स्वयं तुम्हें जिननाथ अर्थात् अरहंत बना देगा। और तरन कहिए तुम्हारा अंतरात्मा जो 'जिन' उसमें चारित्र अर्थात् आत्मानंद में प्रवृत्ति-मग्नता ही सच्चा चारित्र है वही आत्म--चारित्र तुम्हारी कल्याणरूप समस्त साधनों की सिद्धि और वृद्धि करेगा, ऐसा जानो।

१२८—जनगन बावलो रे, ज्ञानी ममल स्वभाव। जनगन पागलो रे, ज्ञानी उवन स्वभाव। जनगन आंधलो रे, ज्ञानी दिप्ति स्वभाव। जनगन बाधिरो रे, ज्ञानी शब्द स्वभाव। जनगन काहलो रे, ज्ञानी सुवन स्वभाव। जनगन बेकलो रे, ज्ञानी कलन स्वभाव। जनगन बंध में रे, ज्ञानी मुक्त-स्वभाव। जनगन लख विली रे, ज्ञानी अलख लखाव। जनगन विवर मौ रे, ज्ञानी कमल स्वभाव। जनगन शरण सुइ रे, ज्ञानी मुक्त स्वभाव। इत्यादि प्रकार से संसारी जनसमुदाय की और ज्ञानी पुरुषों की तुलना श्री तारन स्वामी ने की है।

१२९—आयरन न्यान, विन्यान सुयं। आयरन परम, जिन परम सुयं। ज्ञानपूर्वक आचरण करने वाला स्वयं विज्ञान-रूप हो जाता है। उत्तम आचरण करने वाला स्वयं परमजिन-परमात्मा हो जाता है। आत्मज्ञानपूर्वक आचरण या आत्माचरण को ही उत्तम आचरण कहा जाता है। आत्म-ज्ञान या आत्मभावना हीन क्रियाकांडों को उत्तम आचरण नहीं कहते-सदाचार कहा जाता है।

"सदाचार सुखदायक व उत्तम आचरण कल्याणकारी होता है" असदाचारी को सदाचारी व सदाचारी को उत्तम आचरणवान बनना चाहिए।

१३०—कमल कर्न सुइ जयनं, जय उववन्न विषय सुइ विलियं। कमल-आत्मा, कर्न-परिणाम आत्म-परिणामों की वृद्धि करने से; उत्पन्न हुई जो विषय भावनाएँ कि जिन वासनाओं ने संसारी प्राणियों पर विजय कर रखी है, वे विलीयमान हो जाती हैं।

१३१—भुक्तं संसार सुभावं, न्यानी दिस्टंति बंक सुभावं।
बंक अनिष्ट मइयो, न्यान अन्मोय भुक्त विलयंति॥

संसारी मानव संसार स्वभाव का भोग कर रहा है, संसार में ही तन्मय हो रहा है। ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में यह स्वभाव बंक रूप है, टेढ़ा है—अनिष्टकारी है। अतः ज्ञानदृष्टि से प्रीति करके—अनुमोदना करके संसार-स्वभाव को छोड़ना चाहिए।

१३२—शरण शंक भय विलियो, मुक्ति पंथ दर्शन्तु। हे भव्य ! संसार का शरण, भय और शंकाओं के छोड़ने पर ही मोक्ष का पंथ दिखाई देता है।

१३३—अर्क उत्तु जिन अर्क उवनं, सुइ साहि कमल निर्वानं। अर्क—प्रकाश, अंतरात्मा का प्रकाश करने पर हे भव्य! तू साहि अर्थात् सर्वोत्कृष्ट परमात्मपद पाकर मुक्त हो जायगा।

१३४—तं न्यान विन्यान सुव सुवन रमाई रे।
अन्मोय कलन कर्न सिद्धि लहाई रे॥

हे भव्य! तू भेदज्ञान के बल से आत्मज्ञान प्राप्त कर व उसी में रमण कर। ऐसा करने से ध्यान में प्रीति होगी व तेरे परिणाम—भाव सिद्धि अर्थात् सफलता को प्राप्त होंगे।

१३५—तं न्यान विन्यान सहावे उवन रमाई रे।
सुइ समय उवन वीर! मुक्ति लहाई रे॥

तू भेदज्ञान के स्वभाव से अरहंत के उपदेश में रमण कर। उस उपदेश में रमण करने से हे वीर! तुझे आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी—जाग्रति होगी और समय पाकर तू मोक्षपद को प्राप्त कर लेगा। अरहंत उपदेश ही कल्याणकारी है।

१३६—'जिन' वंदिहउ सुइ नंदिहउ, सुइ रंज रमन नंद सहज मुक्ति जिन। वंदिहउ सुइ नंदिहउ॥

यों तो आत्मा प्रत्येक प्राणीमात्र में है, चारों गतियों में है। किंतु जिस मानव की आत्मा अपने बहिरात्मभावों को छोड़कर अन्तरात्मा होकर कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ हो जाती है उसे 'जिन' कहते हैं। यह जिनपद चतुर्थ गुणस्थान में ही प्राप्त हो जाता है। जो चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त 'जिन' पद कहा गया है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवलियों को 'जिनवर' तथा श्री तीर्थंकर को 'जिनवरेन्द्र' कहते हैं। इस तरह 'जिन' 'जिनवर' 'जिनवरेन्द्र' ये तीन श्रेणियां कही गई हैं—मानी गई हैं।

श्री तारण स्वामी कहते हैं—हे भव्यो! 'जिन' वंदिहउ, सुइ नंदिहउ। अर्थात् स्वयं की आत्मा जिसने कि जिनपद को अपने भेदज्ञान के द्वारा प्राप्त किया है उस 'जिनपद' की वंदना करने पर ही (गुणगान करने पर ही) तुम्हें आनन्द मिलेगा, कल्याण का मार्ग बनेगा, मुक्ति पाओगे। कैसा है वह आत्मा? जिसने कि 'जिनपद' प्राप्त कर लिया है, आनंदरूप है, आनन्द में रमण करने वाला है, और सहज मुक्ति है अर्थात् स्वभाव से ही मुक्तस्वरूप है। हे भव्य! ऐसे 'जिन' की वंदना ही आनन्ददायिनी है।

"वंदिहउ सुइ नंदिहउ,
'जिन' वंदिहउ सुइ नंदिहउ।"

श्री तारण स्वामी ने उपरोक्त प्रकार से—सम्यक्ती हो जाने वाली अपनी आत्मा की वंदना करने वालों को 'जिनवंदना' कही है। साक्षात् श्री अरहंत अथवा उनकी प्रतिमा की वंदना को

जिनवंदना नहीं माना है। यही श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा—जिनपद नहीं शरीर को, जिनपद चेतन माहिं।

धर्म या मोक्षमार्ग कहीं बाहर नहीं है, आत्मा में ही है व आत्मीक अनुभव से ही वह प्राप्त होता है। यही जैन सिद्धांत है।

१३७—चलि चलहु न हो मुक्ति श्री तुम न्याय सहाए।
कललंकृत हों कम्म न उपजैं, ममल सुभाए॥

श्री गुरु कहते हैं भो शिष्यो! चलो, चलो मुक्ति लक्ष्मी से मिलने को, ज्ञान का सहारा लेकर। तथा उपदेश करते हैं कि हे भव्यो! हर समय अपने भावों को निर्मल-पवित्र रक्खो। निर्मल भावों के रखने से इस आत्मा को शरीर में बांधकर रखने वाले कर्मों का बंध नहीं होता है। तथा पूर्व में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा होते, होते समय पाकर यह आत्मा मोक्ष को पा लेती है।

१३८—उव उवनो हो न्यान विन्यानह तत्त्व सहाए। हे भव्य! तात्वज्ञान या तात्विक बुद्धि के द्वारा श्री अरहन्त का उपदेश श्रवण कर के उस में से भेदज्ञान को जाग्रत करो। "भेद-ज्ञान ही मोक्ष का द्वार या प्रथम सीढ़ी है-मूलमन्त्र है।"

१३९—नन्द भाव जो परिनमउ, पद पखलन जिन उत्तु। श्री तारण स्वामी कहते हैं-नन्द कहिए आत्मा, इस आत्मभावानुसार परिणमन करना प्रवृत्ति करना ही सच्चा पाद प्रक्षालन करना है ऐसा अरहन्त ने कहा है। इस तरह के प्रक्षाल करने से ही आत्मा पवित्र-निर्मल होगी।

१४०—विगसउ जिनपउ विगसमउ, पयाचरन पद विंद। हे भव्य! आत्म-आनन्द में आनन्दित हो, प्रफुल्लित हो, आनन्दं परमानन्दं की ध्वनि में मग्न हो। ऐसी आनन्द मग्न प्रफुल्लित भावनाओं में तुम अन्तरात्मा को पा जाओगे। कैसा है? स्वयं आनन्द स्वरूप है और उस पयाचरण कहिए आत्मांचरण के भीतर ही विंदपद-मोक्षस्वरूप परमात्मा का निवास है, उसका दर्शन हो जायगा। प्रत्येक मानव-परमात्मा के दर्शन का इच्छुक है। परन्तु परमात्मा कहां है? इसकी खबर नहीं है। श्री तारन स्वामी कहते हैं तुम्हारे आत्मानन्द में ही वह विराजमान है। जबकि अज्ञानी जन बाहर भाँति-भाँति की कल्पनाओं में ढूँढ़ रहे हैं।

१४१—न्यान सहावे दरसिउ, वीरज अप्प सहाउरिना।
आत्म-बल का दर्शन ज्ञान के द्वारा ही होता है।

१४२—कमल सहावे पत्तु जइ, सिद्ध सरूव स उत्तरिना। हे मुनि! आत्मस्वभाव या आत्म-ज्ञान ही पात्रता है और इस ही पात्रता में तुम्हें सिद्धसरूप की प्राप्ति होगी।

१४३—जं दर्शनमोहे अंध पओ, सुइ परम इष्टि विलयन्तु। मोहान्ध मनुष्य दर्शनमोहनी के रहते तक इष्टस्वरूप जो 'जिनपद' कहिए अन्तरात्मा का दर्शन नहीं होता है।

१४४—भयविनास भवियनं, न्यानी ! अन्मोय नन्द आनन्दं । हे भव्यजन ज्ञानी पुरुषो ! सर्व प्रकार के भयों का नाश एक मात्र आत्मीक आनन्द में लय होने पर ही होता है ।

१४५—वैरागह हो तिविहि संजुत्त, ग्रन्थ मुक्कु निर्ग्रन्थ मुनि । संसार, शरीर और भोग कहिए पंचेन्द्रियों के विषय इन तीनों में वैराग्य होने पर ही परिग्रह का त्याग होना वास्तविक निर्ग्रंथपना है अन्यथा द्रव्यलिंगीपना ही जानो ।

१४६—जिननन्द नन्द आनन्द मश्रो, जिन उवनउ सिद्ध सहाउ । अन्तरात्मानंद के आनन्द से भरभूर आत्मा का होना ही अपनी आत्मा में सिद्धस्वरूप की जाग्रति करने या प्राप्ति करने का एकमात्र उपाय है, कारण है ।

१४७—भयविनस्य भवियनं, अमिय अन्मोय न्यान विन्यानं । भेदज्ञान के द्वारा अमिय कहिए आत्मा में प्रीति करने पर-आत्मानंद में मग्न होने वाले को कोई भय नहीं रहता । वह कर्मसिद्धांत का ज्ञाता होने से भलीप्रकार जानता है कि 'जो भवितव जा जीव की, जा विधान करि होय । जौन क्षेत्र, जा काल में, सो अवश्य करि होय ॥' उसे ऐसा दृढ़ निश्चय रहता है । ऐसा जान कर वह निशंक निर्भय रहता है ।

१४८—संसार उत्पन्न भ्रमण स्वभाव—मनुष्य के अपने मन की चंचलता अथवा राग द्वेष मोह की प्रबलता व संकल्प विकल्प मन में बने रहना इत्यादि केवल मन के दोषों के कारण ही यह प्राणी संसार में उत्पन्न-जन्म मरण कर रहा है ।

१४९—संसार सरणि स्वभाव-संसार परिवर्तनशील है ।

१५०—उत्पन्न हितकार सहकार ति अर्थ-रत्नत्रय कहिए-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र को उत्पन्न करो और इसे ही हितकारी समझ कर उसे साथ में रखो, साथी रहो ।

१५१—केवलि उक्त यह आदि आहि देखउ, नाहीं खांड़ो देखउ । सर्वज्ञ केवली का उपदेश ही जिसमें केवल आत्मधर्म को ही प्रकाशित करना कहा है देखो । यदि आत्मधर्म को नहीं देखोगे तो संसार रूपी खांड़े में भ्रमण करना पड़ेगा । आत्मधर्म ही आदि है-सनातन है-सर्वमान्य है ।

१५२—तद्स्वभाव अर्क न दृश्यते, तद् नर्क । जो आत्म-स्वभावरूपी प्रकाश को नहीं देखते वे संसार के नर्क-दुखों को भोगते हैं । "आत्मप्रकाश यानी आत्मधर्म"

१५३—अर्कस्य विकल विकत्रय । जो मानव अपनी आत्मा में विकलभाव रखते हैं-आर्त ध्यान रखते हैं वे विकलत्रय योनि को प्राप्त होते हैं ।

१५४—अर्कस्य आवरण तद् थावर । जो मानव अपनी आत्मा में मोहरूपी मिथ्यात्व तीव्र आवरण कर लेते हैं वे पच स्थावर योनि को प्राप्त होते हैं ।

१५५—अर्क स्वभाव, न भव भय। आत्मप्रकाश होने पर भव-भय नहीं रहता, वे समय पाकर भवों से छूट जाते हैं।

१५६—सम्यक्त, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व अष्ट गुण हुँति सिद्धाणं। सिद्धों के उपरोक्त आठ गुण कहे हैं। जो इस जीव में भी शक्ति अपेक्षा से हैं किन्तु-मोहनीय, दर्शनावर्णी, ज्ञानावर्णी, अन्तराय, नाम, आयु गोत्र, वेदनीय इन आठ कर्मों से यथाक्रम ढके हुए हैं। कर्मावरण जितना-जितना क्षीण होता जाता है उतने-उतने ये गुण प्रगट होते जाते हैं, कर्मों का सर्वथा अभाव होने पर ये गुण पूर्ण प्रगट हो जाते हैं।

१५७—तिअर्थ अर्क न दृश्यते, भयभीत। जब तक रत्नत्रय का प्रकाश नहीं होता तब तक यह जीव भयभीत रहता है।

१५८—नीच, ऊँच दृश्यते, तद् नीच निगोद खांडो दृश्यते। जो मानव अपने को ऊँच तथा पर को नीच मानने की दृष्टि, मान्यकुल, वर्ण अथवा जाति अपेक्षा से रखता है वह इस अपनी भावना की पराकाष्ठा के फलस्वरूप नीच योनि अथवा निगोदरूप खड्डे तक में जा गिरता है। कर्म की अपेक्षा नीच ऊंच माना है, कुल जाति की अपेक्षा नहीं। सेवा नीचकर्म नहीं, विद्वत्ता उच्चकर्म नहीं। धार्मिकता उच्चकर्म व पापिष्ठता नीचकर्म माना है। हिंसक और दुर्व्यसनप्रवृत्ति अधार्मिकता है, अहिंसक और सदाचारप्रवृत्ति धार्मिकता है। इसी तरह हिंसक, छल कपट पूर्ण व्यापार अधार्मिकता है और अहिंसक, निश्छल तथा न्यायपूर्ण व्यापार धार्मिकता है। कठोरभाव रखना अधार्मिकता और करुणा-दयाभाव रखना धार्मिकता है। जैसा श्री गांधी जी ने कहा था कि भंगी का मैल तो नहाने से छूट जाता है, परन्तु कठोर हृदय पापी पुरुष का मैल छूटना कठिन होता है। श्री तारण स्वामी ने जन्मना नहीं, कर्मणा ही नीच, ऊँचपना माना है, ऐसा ही समस्त जैनाचार्यों ने माना है। जबकि वर्तमान मान्यता केवल जन्मना ही जैनसमाज में क्या देश भर में पाई जा रही है।

१५९—जिन स्वभाव उत्पन्नी, भय विनाश। आत्मज्ञान के होने पर भयों का नाश हो जाता है, निर्भयपना आ जाता है।

१६०—सहकार जिन स्वभाव उत्पन्न, तद् सागर विली। आत्मज्ञान-सम्यक्त होने पर सागरों का-अनन्त भ्रमण छूट जाता है। आत्मज्ञान का ऐसा ही माहात्म्य है।

१६१—देखिउ न कहै, सुनेउ न कहै, हित उपजिउ न कहै, बोले तो न बोले-इत्यादि। ऐसी दशा सम्यक्ती की कही है। उसे संसार की इन किन्हीं भी बातों में रस नहीं रहता। वह तो अपनी आत्ममगनता-आत्मानंद में डूबा रहता है और सुख के सामने इन्द्र तथा चक्रवर्ती के सुखों को भी हेय अर्थात् तुच्छ मानता है, हेय जानता है।

१६२—उत्पन्न आयरन साधन अर्हन्त सिद्ध। सम्यक्ती-पुरुष अपने आत्माचरण की साधना-आत्मध्यान की साधना में अपने आप में अर्हन्त, सिद्ध की भावना भाता है तथा पुरुषार्थ की सिद्धि में स्वयं अर्हन्त व सिद्ध बन जाता है-आत्मा से परमात्मा या नर से नारायण हो जाता है। यही मान्यता जैनधर्म की क्या, प्राय: सभी धर्मों की है। किन्तु कथनशैली तथा साधनाओं में अन्तर हो गया है। इसीलिए यथार्थ मोक्षमार्ग का पाना कठिन हो गया है। नकल की बाहुल्यता ने असल को छिपा दिया है। नकल की मान्यताओं ने असल की मान्यता (आत्म मान्यता) से वंचित कर दिया है। भगवान विराजमान हैं घट में, ढूंढ रहे हैं बाहर। श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं—

केई उदास रहें प्रभु कारण, केई कहें उठि जायं कहीं को।
केई प्रणाम करें घण मूरत, केई पहार चढ़ें चढ़ छींके॥
केई कहें आसमान के ऊपर, केई कहें प्रभु हेठ जमीं के।
मेरो धनी नहिं दूर देशांतर, मोहि में है मोहि सूझत नीके॥

(नाटक समयसार बनारसीदास)

१६३—अर्क भूलै, नर्क ठिदि परैं। आत्मप्रकाश या आत्मज्ञान को भूल कर ही अज्ञानी मानव नर्कभूमि में पड़ रहा है अर्थात् संसार में नारकीय दु:ख भोग रहा है। आत्मप्रकाश, आत्मज्ञान, आत्म--आराधना, आत्म--पूजा, आत्म--भक्ति, आत्म--भावना, आत्माचरण, आत्म-प्रवृत्ति, आत्मा में परमात्मा, घट में भगवान, आत्मा सो परमात्मा, भगवान सरूप आत्मा, हृदय में विराट रूप का दर्शन, सोऽहं, राम में भक्ति, कृष्ण की शरण, जिनवंदना, जिनदर्शन, जिन-पूजा, अनलहक व आध्यात्मिकता इन सब का अर्थ एक ही है। तात्पर्य यह कि १००८ नाम आत्मा के ही हैं, व्यक्तिविशेष के नहीं। भगवान महावीर जैनियों के, भगवान बुद्ध बौद्धों के, भगवान राम, कृष्ण हिन्दुओं के, ईसा ईसाइयों के, और खुदा मुसलमानों के बटवारे में भले ही आजायं; किन्तु १००८ नाम वाला आत्मा किसी के भी बटवारे में नहीं आ सकता। यह तो सूर्य की भाँति बिना भेदभाव के सर्वत्र प्रकाश कर रहा है। जिसमें जितनी बुद्धि, ज्ञान, बल वा साधना हो उतना लाभ इसके प्रकाश का हर कोई ले सकता है और ले रहे हैं। मनुष्य तो क्या, पशु पक्षी भी आत्मप्रकाश से लाभ लेने के अधिकारी हैं और लिया भी है।

अधिक क्या कहें। 'आत्मधर्म मानें मानवधर्म' मानवधर्म मानें आत्मधर्म' यह आत्मप्रकाश की परिभाषा है। और आत्मप्रकाश ही मोक्षमार्ग है। बाह्य क्रियाकाण्ड मोक्ष-मार्ग नहीं पुण्यमार्ग है। भगवान का नाम महावीर नहीं, महावीर नाम तो नामकर्म के उदय से होने वाले उस शरीर का था कि जिस शरीर से छूटने के लिए उन्हें नामकर्म के नाश करने

को तपस्या करनी पड़ी थी, जब कहीं वे उस शरीर से छूट सके थे। शरीर ने जब तक उन्हें नहीं छोड़ा तब तक वे मोक्ष न जा सके। तात्पर्य यह कि भगवान उनकी आत्मा का नाम था और महावीर नाम था उनके शरीर का। यदि हम भगवान के पुजारी हैं तो आत्मा की पूजा करनी होगी, शरीर की नहीं।

१६४—पढ़ै, गुनै, मूढ़ न रह जाय। जो मानव पढ़ने वाली बात को विवेक पूर्वक गुनता है, विचार करता है तथा आगम प्रमाण, अनुमान प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण, इस तरह से उसे तौलता है वह मूढ़ नहीं रहता। "आगम प्रमाण यानी सिद्धांतदृष्टि से" केवल शास्त्र में लिखी होने से नहीं।

१६५—मुक्ति प्रमाण, सो पात्र। श्री तारण स्वामी पात्र की तौल यह बता रहे हैं कि जिस मनुष्य में जितने प्रमाण भावमोक्ष हो वह उतने ही प्रमाण का पात्र है। मात्र वेष की तौल पर पात्रता की तौल नहीं होती। जैसा कि रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है —

मोह रहित जो है गृहस्थ भी, मोक्षमार्ग अनुगामी है।
हो अनगार न मोह तजा तो, वह कुपंथ का गामी है॥

१६६—आपनो आपनो उत्पन्न, निमिष-निमिष लेहु-लेहु। श्री तारण स्वामी कहते हैं भो भव्य पुरुषो! जिसकी अपनी आत्मा से जिस क्षण जो ज्ञान की भावना जाग्रत हो-उत्पन्न हो उसे लेहु-लेहु अर्थात् ग्रहण करो-ग्रहण करो। वास्तव में हर समय साथ रहकर सच्चा उपदेश देने वाली हमारी आत्मा ही है। यदि हम उसकी बात मानते चले जांय तो आत्मकल्याण नियम से होता चला जाय। किंतु मानते नहीं। आत्मा की अपनी चीज एक ज्ञान ही है।

१६७—जिन रंज, जिनराज रंज, न दृश्यते राजू चौदह उत्पन्न। जिन कहिए अंतरात्मा जिनराज-परमात्मा, रंज कहिए आनन्द, जो मानव अन्तरात्मानन्द तथा चढ़ती हुई आनन्द श्रेणी जो परमात्मानन्द या परमानन्द का भोग करते हैं वे मानव फिर इस चौदह राजू वाले संसार को नहीं देखते और न इसमें जन्म ही लेते हैं अर्थात् आत्मा नहीं, मानव जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं।

१६८—पद उत्पन्न दृश्यते, तद् पल्यविली खातिका विलयंति। जो मानव आत्मा में परमात्म-पद उत्पन्न करके उसे देखते हैं, दर्शन कर लेते हैं या पा जाते हैं वे फिर इस पल्यों की आयु वाले संसार में भ्रमण नहीं करते, उनका संसार छूट जाता है।

१६९—सहकार जिन स्वभाव उत्पन्न, तद्सागर विली। जो मानव अपनी आत्मा में अन्तरात्मभाव को उत्पन्न कर उसे अपना सहकारी बना लेता है अर्थात् बहिरात्मा से अंतरात्मा

हो जाता है उसका यह सागरों की आयु बंध करने वाला संसार विलीयमान हो जाता है, संसार भ्रमण छूट जाता है।

१७०—गतिक्षीण, खातिकक्षीण, सागरक्षीण, कालक्षीण, भ्रमणक्षीण संसारनो ढलनि विलयंति-तद् 'मुक्तिस्वभाव' मुक्तिः सिद्धगतिगमनम्। श्री तारणस्वामी 'मुक्तिस्वभाव' का अर्थात् भावमोक्ष या जीवनमुक्त दशा का माहात्म्य कहते हैं कि—जो मानव 'मुक्तिस्वभाव' को उत्पन्न कर लेते हैं उनका सब प्रकार से संसार भ्रमण छूट जाता है और वे भव्य संसार-मुक्त होकर सिद्धगति-मोक्ष धाम में गमन कर जाते हैं।

१७१—मिथ्या सहकार तद् विलखते। जो अज्ञानी मानव मिथ्यात्व के सहकारी अर्थात् मिथ्यात्वी बने रहते हैं वे इस चतुर्गति चौरासी लाख योनियों के दुखों को भोगते हुए अनन्तकाल पर्यन्त भ्रमण करते हुए विलखते रहते हैं।

१७२—राजू तीन सौ तिरतालीस, तत् संसार अनन्त जीव अनन्त भ्रमण स्वभाव। इस ३४३ घनाकार राजू संसार में अनन्त जीव अनन्त भ्रमण अपने मिथ्यातपूर्ण अज्ञान स्वभाव के कारण कर रहे हैं। आचार्य कहते हैं 'जो सरदहै और की और, सो मिथ्यात्व लाभ की दौर' अर्थात् विपरीत मान्यताओं का नाम ही मिथ्यात्व है अतः सम्यग्ज्ञान पूर्वक वस्तु का यथार्थ स्व-रूप जानना चाहिए। (मोक्षमार्गप्रकाश)

१७३—भय विली ऊँच-नीच न दृश्यते, खांडो न दृश्यते। जो मानव कर्मसिद्धांत पर अटल होकर निर्भय रहते हैं व नीच ऊँच की भावना छोड़कर समभाव वाले हो जाते हैं वे संसार की नीचगति रूप खांडे-गड्ढे में नहीं गिरते।

१७४—उत्पन्न उत्पन्न अर्कस्य अर्क। उत्पन्न हुए आत्मप्रकाश से प्रकाश की वृद्धि स्वयं होती जाती है। अग्नि में ईंधन मिलते जाने से जैसे अग्नि बढ़ती जाती है उसी तरह आत्म-प्रकाश में शुभ भावनायें वृद्धि की कारण हैं।

१७५—जिननाथ रमन अर्क रंज रमन आनन्द अर्क, अनन्त उत्पन्न स्वभाव। आत्मा में परमात्मभाव स रमण करने पर आनन्द का प्रकाश होता है अथवा उस प्रकाश में आनन्द जाग्रत होता है, उस आनंद में रमण करने से उस आनंद प्रकाश में अनंत उत्पन्न-अनन्त चतुष्टय उत्पन्न हो जाते हैं।

१७६—समय न्यान सहावेन समय संजुत्ता समय न्यान संजुत्त। आत्मज्ञान स्वभाव से ही आत्मदर्शन होता है। और आत्म-दर्शन होने पर वह आत्मा केवलज्ञानी हो जाती है।

१७७—जिनवर स्वामी तू बड़ो, मैं जिनवर हों भलो। श्री तारन स्वामी अपने इस वचन

में 'सोऽहं' की भावना प्रगट कर रहे हैं। हे जिनवर! तू अपने समवशरण में विराजमान होकर लाखों-करोड़ों देव, मानवों का कल्याण कर रहा है इसलिए संसार में बड़ा है । मैं भी अपने भीतर के इस छोटे से समवशरण में भला हूँ कि जिसमें बैठी हुई मेरी आत्मा आत्मकल्याण कर रही है।

विशेष—भगवान का समवशरण तो निमित्तमात्र ही होता है, उसके द्वारा हम अपना कल्याण करें या न करें। परन्तु सम्यक्ती पुरुष के भीतर का उसका अपना समवशरण तो निश्चित ही उसे मोक्ष पहुँचा देता है। यही तो जैनधर्म की विशेषता है।

१७८—देखत हो रे! सुन समूह, बावरे! हृदय देखो। कैसे प्रेमपूर्ण शब्दों में गुरुदेव शिष्यसमूह से कह रहे हैं कि हे बावरे! बाहर क्या देखते हो? हृदय देखो। अहः! यह कहलाता है गुरुओं का प्रेमपूर्ण हृदय।

१७९—सरन विली, मुक्त विलास। जब शरणभाव विलीयमान हो जाता है, तब मुक्ति में विलास होता है। संसार का शरण तो संसार में डुबा ही रहा है, परन्तु जब तक जो आत्मा भगवान की शरण में हूँ यह मानता है तब तक उसका मुक्ति में अथवा मुक्तभाव में विलास नहीं होता, यही तो जैनधर्म की आश्चर्यजनक एक विशेषता है।

१८०—मुक्त स्वभाव, शल्य शून्य। जहां मुक्त स्वभाव जाग्रत हुआ कि समस्त प्रकार की शल्यों से हृदय शून्य हो जाता है।

१८१—त्रैलोक्य मण्डन स्वभाव पयपूज्य उत्पन्न चतुष्टय। तीन लोक को शोभायमान करने वाली जो सम्यक्त स्वभाव वाली आत्मा, वही पूज्य है तथा वही चार अरहंत गुणों को उत्पन्न करने में सामर्थ्यवान् है।

१८२—अयम् अयम् अयम् जयं जयं जयं, रयन तीन जय जय जय संसार तो आवहि जाहि। श्री गुरु महाराज कहते हैं हे भाई! यह संसार तो आवागमन स्वभावी है इसमें संसारी प्राणी आ जा ही रहे हैं; तू तो सम्यग्दर्शनरूप अपनी आत्मा, सम्यग्ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा और सम्यक्चारित्रस्वरूप अपनी आत्मा की उन्नति मन, वचन, काय से कर, रत्नत्रय की वृद्धि मन, वचन, काय से कर। यही तेरा कर्तव्य है, कल्याणमार्ग है।

१८३—चतुरंग सेना जयन कमल। हे भव्य! तेरी आत्मा की जो चतुरंग सेना-अनंतदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्तसुख, इनकी वृद्धि कर। दर्शनावर्णी, ज्ञानावर्णी, अंतराय और मोहनीय इन चार कर्मों के नाश करने का पुरुषार्थ कर।

१८४—ममात्मा गुणं सुद्धं, नमस्कारं सास्वतं ध्रुवं। श्री तारण स्वामी अपनी ही आत्मा

के जो साश्वत व ध्रुव गुण हैं उन्हीं को नमस्कार करते हैं। क्योंकि उन्हें आत्मा के ही अपने गुण प्राप्त करना अभीष्ट था। अपने ही गुण हमें मोक्ष पहुँचाने में समर्थ होते हैं, परके नहीं। भगवान महावीर पूज्यदृष्टि से सब कुछ हैं किन्तु वस्तुत: तो पर ही हैं। उनके गुण उनके लिये व हमारे गुण हमारे लिये उपयोगी हैं, यही जैन सिद्धांत है।

१८५—चेतना लख्यनो धम्मो, चेत्यन्ति सदा बुधै। ध्यानस्य जलं सुद्धं, न्यानं स्नान पंडिता॥

अपनी जो चैतन्य लक्षण आत्मा उस आत्म-धर्म का ही हे बुद्धिमानो ! सदैव चिन्तन करो। तथा ध्यान-रूपी जल से स्नान करो, यही सच्चा धर्म का चिंतन व स्नान करना है। पंडितों के करने योग्य ऐसा ही ध्यान, स्नान व आत्म-चिंतन धर्म जानना।

१८६—प्रक्षालितं अशुभ भावना। अशुभ भावनाओं का त्याग करो।

१८७—वस्त्रं च धर्मसद्भावं, आभरनं रत्नत्रयं। मुद्रका सम मुद्रस्य, मुकुटं न्यानमयं धुवं॥

हे भव्यो ! सद्भावरूपी धर्म के वस्त्र पहिनो, रत्नत्रय के आभूषण पहिनो, समतारूपी मुद्रिका व ज्ञानरूप मुकुट बांधो। इस तरह की सजावट ही मोक्षमार्ग है।

१८८—वैराग्य तिविहि उवन्नं। संसार, शरीर, भोगों से वैराग्यवान बनो।

१८९—दर्शन मोहंध विमुक्कं, रागदोष च विषय गलियं च। हे भव्य ! मोह, राग, द्वेष तथा विषय कषायों का त्याग करो।

१९०—संसार शरण नहु दिस्टं, नहु दिस्टं समल प्रजाव संभावं। हे भव्य ! संसार का शरण और पर्यायिक मैलेभाव, ये दु:खदायक हैं, मोक्षमार्ग में बाधक हैं इनकी ओर दृष्टिपात मत करो।

१९१—श्री तारण स्वामी ने उवनरली की तरह चौबीस अर्करली गाथा श्री ममलपाहुड़ ग्रन्थ (अध्यात्मवाणी) में लिखी हैं—

> उव उवन उवन उव उवनरली, उव उवन समय रलि मुक्ति मिली।
> उव उवन उवन 'कलिकमल' रली, उव कलन कमल रलि मुक्ति मिली॥
> उव उवन चरन उव चरनरली, उव चरन कमल रलि मुक्ति मिली।
> उव उवन रमन उव रमनरली, उव रमन कमल रलि मुक्ति मिली॥

उवन समय–अन्तरआत्म उपदेश, कलिकमल–आत्मध्यान, चरन कमल–आत्मचारित्र, रमन कमल–आत्मरमण, अन्मोय कमल–आत्मप्रीति. इस तरह लखनरली, हंसरली, विंदरली, अलखरली, आनन्दरली, अर्करली इत्यादि भेदों द्वारा आत्मप्रकाश करने का आध्यात्मिक मनन किया है और यह भाव दर्शाया है कि जिस प्रकाश को प्रकाशित करके चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। हे भव्य ! वह प्रकाश तेरी आत्मा में भी है, तू उसे प्रकाशित करके स्वयं तीर्थंकर बन सकता है। अत: स्वयं तीर्थंकर बनने का उद्यम कर, पुरुषार्थ कर। तीर्थंकरपद व मोक्षपद पुरुषार्थ पर निर्भर है।



निश्चय तथा व्यवहार धर्म में भी—

सच्ची जिन-पूजा का स्वरूप

श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने रयणसार जी में कहा है—

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदोभेदं ॥ ४ ॥
भयविसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचऽगुरुभत्तो ॥ ५ ॥
णियसुद्दप्पणुरत्तो बहिरप्पावच्छवज्जिओ णाणी ।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खी होइ सद्दिट्ठी ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यक्तरत्न ही सार है, यही मोक्षरूप महावृक्ष का मूल कहा है। हे भव्य ! निश्चय और व्यवहार ऐसे इसके दो भेद जानो। सात भय, सात व्यसन, शंकादिक पच्चीस दोष रहित तथा संसार, शरीर, भोगों से विरक्तभाव और निःशंकादिक आठ गुणों सहित पंच परमेष्ठी में भक्ति-भावना रखना शुद्ध दर्शन है। जो विचारशील भव्यआत्मा अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव में अनुरक्त (तन्मय) होता है और परपदार्थ-जन्य पुद्गलों की शुभाशुभ पर्यायों से विरक्त होता है, जो श्री जिनेन्द्र भगवान, निर्ग्रंथ गुरु तथा जिनधर्म को श्रद्धाभाव भक्ति-पूर्वक मानता है वह संसार के समस्त प्रकार के दुःखों से रहित सम्यग्दृष्टि है।

मय मूढमणायदणं संकाइ वसण भयमईयारं ।
जेसिं चउदालेदो ण संति ते हुंति सद्दिट्ठी ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनके आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ शंकादि दोष, सात व्यसन, सात प्रकार के भय, पांच अतीचार; ये चवालीस दूषण नहीं हैं वे पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं।

उद्दयगुणवसणभयमलवेरग्गइचारभत्तिविग्घं वा ।
एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ॥ ८ ॥

अर्थ—आठ मूलगुण, बारह उत्तरगुण (बारह गुणव्रत), सात व्यसन तथा सम्यक्त के पचीस दोषों का परित्याग, बारह भावनाओं का चिंतवन, सम्यग्दर्शन के पंचातिचारों का त्याग और भक्ति-भावना तथा सात भयों का न होना, यह ७७, इस प्रकार दर्शन को धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि श्रावक के सतहत्तर गुण हैं।

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोयपरिचित्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुवा सिवसुहं पत्ता ॥९॥

अर्थ—देव, गुरु, शास्त्र में भक्ति, संसार शरीर भोगों से है विरक्त भावना जिनकी व रत्नत्रययुक्त, ऐसे पुरुष शिवसुख को पाते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से रत्नत्रय की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है तथापि व्यवहार रत्नत्रय को धारण किये बिना मोक्षमार्ग की व्यक्तता नहीं है। जब तक सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं है तब तक साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर भी एक सम्यक्चारित्र के बिना अर्द्ध पुद्गल परावर्तनकाल पर्यन्त परिभ्रमण हो सकता है। परन्तु यथाख्यातचारित्र के होने पर स्वल्प समय में ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इसलिये मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये व्यवहार रत्नत्रय धारण करने की परमावश्यकता है।

दाणं पूजा सीलं उववासं बहुविहं पि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्म विणा दीहसंसारं ॥१०॥

अर्थ—दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास और अनेक प्रकार के व्रत व मुनिलिंग धारण आदि सब एक सम्यग्दर्शन होने पर मोक्षमार्ग के कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शन के बिना जप, तप, दान पूजादि सब कारण संसार को ही बढ़ाने वाले हैं।

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥११॥

अर्थ—श्रावक का मुख्य धर्म दान, पूजा व मुनि का ध्यान अध्ययन है। इनके बिना कोई श्रावक या मुनि नहीं हो सकता।

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगु ण बहिरप्प जो पयंगो सो ।
लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ न संदेहो ॥१२॥

अर्थ—जिसमें न दान, न धर्म, न त्याग, न नीतिपूर्वक भोग गुण हों ऐसा बहिरात्मा पतंग कीट की तरह लोभ-कषायाग्नि में जलकर मरता है।



पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी
व श्री देवी जी

(श्री सेमरखेड़ी जी में
श्रीमन्त सा० के मेले के समय)



जि० भ० श्रीमन्त
सेठ सा० सपत्नीक

(श्री सेमरखेड़ी जी क्षेत्र की
वेदी स्थापन कर रहे हैं)

जिणपूजा मुणिदाणं, करेइ जो देइ सत्तिरूवेण ।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥१३॥
पूया फलेण तिल्लोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥ १४ ॥

अर्थ—जो श्रावक जिन-पूजा करता है व अपनी शक्ति अनुसार सुपात्रों को चारों प्रकार का दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्षमार्गी है । वह पूजा के (जिनपूजा के) फल से तीन लोक के देवताओं द्वारा पूज्य होता है तथा शुद्ध मन से दिये हुये सुपात्रदान के फल से तीनलोक के सारभूत सुखों को भोगता है, ऐसा निश्चय जानो ॥ १३-१४ ॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्री रयणसार जी ग्रन्थ की इन दोनों (१३-१४ वीं) गाथाओं में बताया है कि जिनपूजा करने वाला सम्यग्दृष्टी श्रावक मोक्षमार्गी व तीनलोक के देवताओं द्वारा पूज्य होता है तथा शुद्ध मन से दिये हुए सुपात्रदान के फल से तीनलोक के सारभूत सुखों को भोगता है, ऐसा निश्चय जानो ।

इस पर ही हमें विचार करना है कि जिनपूजा क्या है ? कि जिस जिनपूजा करने वाला श्रावक तीन लोक के देवताओं द्वारा पूज्य होता है । क्या अष्टद्रव्य से भगवान की प्रतिमा की पूजा करने से हम तीन लोक के देवताओं द्वारा पूज्य हो जायँगे ? क्या इसी पूजा से हम सम्यग्दृष्टि श्रावक हो जायँगे ? यदि ऐसा ही माना जाय तब तो सम्यग्दृष्टिपना प्राप्त करना और अरहन्तपद पा लेना (क्योंकि अरहन्त भगवान ही तीनलोक के देवताओं द्वारा पूज्य होते हैं तब तो सम्यग्दृष्टिपद और अरहन्तपद पालेना) बड़ा ही सस्ता और सुगम हो गया व आचार्यों ने जो यह कहा है कि इस पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि पुरुष विरले ही (करोड़ों में एक ही) हैं तब तो यह आचार्यवाक्य यथार्थ सा नहीं लगता, क्योंकि पूजा करने वाले तो हमें हजारों प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं । और यदि आचार्य वचन मिथ्या नहीं, सत्य ही होते हैं तब हमें जिनपूजा के मर्म को समझना होगा कि 'जिनपूजा' क्या है ? किसे कहते हैं ? जिसको करने वाला श्रावक सम्यग्दृष्टि पद और अरहन्तपद पाकर तीनलोक के देवताओं द्वारा पूज्य होकर मोक्ष पा लेता है, जैसा कि कहा गया है—

आत्मा के तीन भेद आचार्यों ने कहे—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा । बहिरात्मा उसे कहते हैं जो संसारी प्राणी मोह में, मिथ्यात्व में डूबे हैं । अन्तरात्मा उन्हें कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि होजाते हैं व संसार शरीर तथा भोगों से उदास होकर जिनके आत्मकल्याण की भावना जाग्रत हो जाती है । इस अन्तरात्मा के भी तीन भेद होते हैं । १-अव्रतसम्यग्दृष्टि जो कि चौथे गुण-

स्थान वाला होता है, जिसमें संसार से सच्ची उदासीनता आ जाती है और वह गृहस्थ होने पर भी "गेही पै गृह में न रचै, ज्यों जलमें भिन्न कमल है; नगरनारि को प्यार यथा कादे में हेम अमल है" ऐसी परिणति जिसकी बन जाती है। यहीं से उसे 'जिन संज्ञा' प्राप्त हो जाती है, जिसके लिये समयसार जी ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने तथा समयसार नाटक ग्रन्थ में श्री पं० बनारसीदासजी ने ऐसे उदासीन चौथे गुणस्थान वाले श्रावक को 'भगवान का छोटा पुत्र' कहा है-

भेदविज्ञान जग्यौ जिनके घट, शीतल चित्त भयौ जिमि चन्दन।
केलि करैं शिवमारग में, जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्य स्वरूप सदा जिन्हके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात-निकंदन।
शांत दशा तिन्हकी पहिचानि, करैं कर जोर बनारसि बंदन॥६॥

आत्मकल्याणार्थी सज्जनो! इसे समझो और भगवान के छोटे पुत्र (भगवान के प्रेमी अथवा आगे चलकर स्वयं भगवान) बनो, तथा अपनी परणति (भले ही तुम आज गृहस्थ हो तो भी) ऐसी बनाओ कि—

स्वारथ के सांचे, परमारथ के सांचे, चित्त सांचे, सांचे बैन कहें, सांचे जैनमती हैं।
काहू के विरुद्धि नांहि, परजाय-बुद्धि नांहि, आतमगवेषी, न गृहस्थ हैं न जती हैं॥
रिद्धि-सिद्धि-वृद्धि दीसै घट में प्रगट सदा, अन्तर की लच्छि सों अजांची लच्छपती हैं।
दास भगवन्त के, उदास रहैं जगत सों, सुखिया सदैव, ऐसे जीव समकिती हैं॥७॥

जाके घट प्रगट विवेक गनधर कौ सो, हिरदै हरख महामोह कौं हरतु है।
सांचौ सुख मानै निज महिमा अडोल जानैं, आपुही में आपनौ सुभाव ले धरतु है॥
जैसे जलकर्दम कतक फल भिन्न करै, तैसे जीव अजीव विलच्छनु करत है।
आतम सकति साधै, ज्ञान कौ उदौ आराधै, सोई समकिति भवसागर तरतु है॥८॥

नाटक समयसार छन्दोबद्ध पं० बनारसीदास कृत के प्रथम स्तुति अध्याय में उपरोक्त तीन सवैयों में ही बनारसीदास जी ने कहा है कि—एक गृहस्थ ही क्यों न हो वह भी भेदज्ञान प्राप्त करके सम्यक्ती होकर भगवान के छोटे पुत्र जैसा बनकर मनुष्य तथा देवों द्वारा पूज्य व नमस्कार का पात्र बन सकता है। ऐसे समकिती पुरुषों को श्री पं० बनारसीदास जी जो कि पंडित होने पर भी आज आचार्यकोटि जैसे विद्वान व मान्य समझे जाते हैं, उन्होंने भी हाथ जोड़कर बंदना की है। और भी सुनिए, जैनधर्म में एक बंदना है—

प्रथम प्रणमि अरहन्त, बहुरि श्री सिद्ध नमिज्जे, आचारज, उवज्झाय, साधु पद वंदन किज्जे।
साधु सकल-गुणवंत-शांतिमुद्रा लखि वंदों, श्रावक पडिमा धरण चरण लखि पाप निकंदों॥
सम्यक्त्वंत स्वभाव धर जीव जगत में होहिं जित, तित तित त्रिकाल वंदत भावसहित सिर नाय नित॥

इसमें पंच परमेष्ठी, प्रतिमाधारी श्रावक तथा सभी सम्यक्ती जीवों को चाहे वे देवयोनि में हों, मनुष्य हों अथवा पशु व नर्क में भी क्यों न हों, सबको वंदना की गई है।

हां, तो अब आप समझिए कि भेदज्ञानी ऐसी परणति वाले चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रावक को पंच परमेष्ठी और ऐलक-क्षुल्लकादि प्रतिमाधारी श्रावकों के साथ में वंदना की गई है। क्योंकि सम्यक्त का ऐसा ही माहात्म्य जैनधर्म में है।

ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक (गृहस्थ) जघन्य अन्तरात्मा है व प्रतिमाधारी श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती से ग्यारहवें गुणस्थान वाले मुनीश्वर मध्यम अन्तरात्मा तथा बारहवें गुणस्थान यथाख्यातचारित्र वाले मुनिराजों को उत्तम अन्तरात्मा कहा है। परमात्मा के दो भेद सकल परमात्मा अरहन्त व निकल परमात्मा श्री सिद्ध भगवान को, इस तरह से श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है।

प्रकरण है कि जिनपूजा क्या है, जिस जिनपूजा के फल से हम तीनलोक के देवताओं द्वारा पूज्य हो जाते हैं ? वही इसमें बताया गया है कि—चौथे गुणवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक को 'जिनसंज्ञा' प्राप्त हो जाती है, भले ही वह गृहस्थ हो। यानी यदि हम गृहस्थ हैं और हमने सम्यक्त प्राप्त कर लिया है तो हमारी आत्मा 'जिन' हो गई, क्योंकि वहीं से यह हमारी आत्मा जिनपद वाली हो जाती है कि जहां हमें सम्यक्त हुआ और उसके होते ही संसार से उदासीनता आई तथा हमारी क्रोध, मान, माया व लोभ कषाएँ उपसम (मन्द) होने लगीं तथा सम्यक्त के प्रभाव से अविपाकनिर्जरा होने लगी अर्थात् बिना रस दिये ही कर्म खिरने लगे; मानो हमारी आत्मा स्वयं 'जिन' हो गई। अब हमें करना है जिनपूजा। इसके पहिले यह बतादें कि 'जिन' की भी तीन श्रेणी हैं। पहली जिन, दूसरी जिनवर, तीसरी जिनेन्द्र। जिनश्रेणी चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त अर्थात् केवलज्ञान नहीं हुआ वहाँ तक के मुनि अथवा श्री गणधर सब ही 'जिन' हैं। जिन्हें केवलज्ञान हो गया ऐसे समस्त ही सामान्य केवली जिनवर हैं तथा उन सबमें इन्द्र के समान श्री तीर्थंकर भगवान 'जिनेन्द्र' हैं। अब हमें जिनेन्द्र-पूजा नहीं, जिनवर-पूजा नहीं, 'जिनपूजा' करने को श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जो श्रावक 'जिनपूजा' करता है वह तीनलोक के देवों द्वारा पूज्य होता है।

यह पहले बता दिया है कि अभी हम जो अष्टद्रव्य से अरहन्त अथवा जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं इस पूजा करने से हम तीनलोक के देवों द्वारा पूज्य नहीं हो सकेंगे अर्थात् अरहन्त पद नहीं पा सकेंगे, क्योंकि तीनलोक के देवों द्वारा पूज्य वे ही होते हैं। जबकि सम्यक्ती केवल विनय-नमस्कार का पात्र होता है दूसरों के द्वारा, उस श्रेणी का सर्वोत्कृष्ट पूज्य नहीं होता जिस सर्वोत्तम श्रेणी में श्री अरहन्त व श्री तीर्थंकर होते हैं, जिनकी पूजा व प्रभावना देव

सहित इन्द्र भी करते हैं। तो मानलो आज हम सम्यक्ती हैं तब तो विनय के पात्र हैं। और हमें 'जिनपूजा' करके तीनलोक के देवों द्वारा पूज्य अरहन्त बनना है तो कैसे बनेंगे। उस मर्म को जानना है तो वह मर्म जानने के लिये 'जिन' तथा 'पूजा' इन दोनों का क्या अर्थ है यह जानें। जो 'जिन' का अर्थ तो आप उपरोक्त प्रकरण में समझ चुके हैं कि हमारी सम्यक्त प्राप्त आत्मा ही हमारे लिये और श्री मुनिराजों को सम्यक्त प्राप्त आत्मा उनके लिये जिन कहलाई। एक बात। दूसरा अर्थ 'पूजा' का केवल इतना ही है कि उत्तम गुण, जो गुण कि कल्याणकारी-मोक्षमार्ग में लगाकर इस आत्मा को मोक्ष पहुँचा दें उन ऐसे भगवान के गुण, मुनिराजों के, ऐलक क्षुल्लकादि प्रतिमाधारी श्रावकों के गुण तथा हमारी आपकी स्वयं की आत्मा में उत्पन्न हुआ जो सम्यक्त, कि जिस सम्यक्त के होने पर हमारे समस्त गुण कल्याणकारी होकर मोक्षमार्ग में लगा देते हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अनुकूलता होने पर मोक्ष पहुँचा देते हैं। उन दूसरों के व अपने स्वयं के गुणों को पूज्यदृष्टि से देखना, उन गुणों की विनय करना, भक्तिभाव रखना तथा वृद्धि के लिये अथवा प्राप्ति के लिये आराधना करना, यह सब ही भेद पूजा के जानना।

अतः अपनी जिनस्वरूप जो आत्मा है उसमें उत्पन्न हुआ जो सम्यक्त और उसके आश्रित उत्पन्न हुए सम्यक्त के जो निशंकितादि अष्टगुण तथा संवेगादि आठ लक्षण इनको कल्याणकारी जानकर इन्हें पूज्य दृष्टि से देखना, इन्हीं गुणों की विनय तथा भक्तिभाव सहित वृद्धि के लिये आराधना करते रहना और उन्हीं अपने भीतर उत्पन्न हुए सम्यक्त गुणों की संभाल के लिए बारह भावना (अनित्यादिक) सदैव भाते रहना यानी चित्त में रखना और इन्हीं अपनी आत्मा जो कि सम्यक्त गुण से विभूषित होने से 'जिन' बन गई है उस जिनपद की वृद्धि के लिये हमारी आत्मा वृद्धि करते हुए जिनपद से जिनेश्वरपद अथवा जिनेन्द्रपद को प्राप्त करे, इसलिये दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं को प्रतिदिन प्रतिक्षण भाते रहना।

बन्धुओ ! यही हमारी आपकी सच्ची जिनपूजा है। हमारी आपकी ही नहीं, यही 'जिनपूजा' श्री मुनिराजों की है। इसी को 'जिनपूजा' कहो, चाहे आत्मपूजा अथवा आत्म-सेवा कहो, सब एकार्थवाची वाक्य हैं। कुछ भी कहो।

आप कदाचित कहो कि वाह, यह तो खूब बताई कि देवों के देव अरहंतदेव की सेवा-पूजा तो छोड़ दें और अपनी ही आत्मा की सेवा-पूजा करने लगें ! इसका समाधान यह है कि यह बात मैंने नहीं, सभी आचार्यों ने बताई है। इसके हजारों प्रमाण अपने जैनशास्त्रों में हैं, उन्हीं में से दो चार प्रमाण यहां देता हूँ।

देवन को देव (अरहंतदेव) सो तो सेवत अनादि आयौ।
निज देव (अपनी आत्मा) सेए बिनु शिव न लहतु है ॥ (ज्ञानदर्पण)

इसका अर्थ स्पष्ट है कि-हम आप-अरहंतदेव की पूजा जिस तरह आज कर रहे हैं ऐसी तो अनादिकाल से हजारों क्या लाखों जन्म में करी, मूर्ति के सामने तो क्या साक्षात भगवान के सामने भी की, परन्तु मोक्ष न पाई ! आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! निजदेव कहिए अपने आत्म-देव की पूजा किए बिना मोक्ष नहीं पाओगे ।

देव भगवानसौ सरूप लखैं घट ही में, ऐसे ज्ञानवान भवसिंधु के तरैया हैं ।
वीरज अनंत सदा सुख कौ समुद्र आप, धरम अनंत तामैं और गुण गाइए ॥
ऐसो भगवान-ज्ञानवान लखै घट ही में, ऐसो भाव भाय दीप अमर कहाइए ।
आप अवलोके बिन कछु नाहीं सिद्धि होत, कोटिन कलेशनि की करौ बहु करणी ॥
क्रिया पर किए परभावन की प्रापति ह्वै, मोक्षपंथ सधै नाहीं बंध ही की धरणी ।
कारण तैं कारिज की सिद्ध है अनादि ही की, आत्मीक ज्ञान तैं अनंत सुख पाइए ॥
आडंबर भारतैं उद्धार कहुँ भयौ नाहीं, कही जिनवाणी माहिं आप रुचि तारणी ।
ज्ञानमई मूरति में ज्ञानी ही सुथिर रहै, करै नहिं फिर कहुँ आन की उपासना ॥

इस तरह यह ज्ञानदर्पण में बहुत विस्तार से कहा है और कहा है कि हे भाई ! 'अनुभौ अनूप रसपान लै अमर हूजे ।' और अधिक कहा लों कहें । इस तरह 'जिनपूजा' का मर्म समझ कर यदि हम ऐसी जिनपूजा जो कि उपरोक्त प्रकार की बताई गई है तब तो निश्चय समझिए कि हम इस तरह की पूजा करने से श्री कुंदकुंद स्वामी के कहे अनुसार 'जिनपूजा' के पुण्य के फल से तीन लोक के देवों द्वारा पूज्य हो सकेंगे और यदि इस तरह की जिनपूजा न करके जिस तरह की की जा रही है तो फिर तीन लोक के देवों द्वारा पूज्य होने वाली झूंठी आशा को छोड़ दीजिए । ऐसा एक नहीं सभी आचार्यों का कहना है, सो विद्वानों से समझ लीजिए ।

अब आपके चित्त में एक बात यह उठ सकती है कि कहां इतने बड़े अरहंत भगवान जो कि अब मोक्ष में विराजमान हैं और कहां हमारी यह संसारी आत्मा जोकि कर्मों में फंसी हुई पापों में डूबी है और रागद्वेष मोह में डूब कर महान मैली है, उन भगवान की तरह इस अपनी आत्मा को कैसे मानलें और भगवान की पूजा छोड़ कर इस अपनी आत्मा की पूजा करने लगें ? आपके इस प्रश्न का समाधान आपको आचार्यों के कहे अनुसार किये देता हूँ—

सवैया—केई उदास रहें प्रभु कारन, केई कहें उठि जांहि कहीं को ।
केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति, केई पहार चढ़ें चढ़ छींके ॥
केई कहें असमान के ऊपर, केई कहें प्रभु हेठि जमी के ।
मेरो धनी (भगवान) नहिं दूर दिशान्तर, मोहि में है मोहि सूझत नीके ॥

यह श्री कुंदकुंद स्वामी का कहना है जो नाटक समयसार में लिखा है ।

जो जिन सो आतम लखौ, निश्चय भेद न रञ्च ।
यही सार सिद्धांत का, छोड़ो सर्व प्रपंच ॥
जिनवर अरु शुद्धात्म में, किंचित् भेद न जान ।
ये ही कारण मोक्ष को, ध्यावो श्रद्धा ठान ॥
आतम परमातम विषै, शक्ति-व्यक्ति करि भेद ।
नातर उभय (आत्मा-परमात्मा) समान हैं, कर निश्चै तजि खेद ॥

यह श्री योगीन्द्राचार्य ने समयसार में कहा जो स्वानुभवदर्पण में है ।

चेतन रूप अरूप अमूरति, सिद्ध समान सदा पद मेरो ।
ऐसो चिदानंद याही घट में निकट तेरे, ताहि तूं विचार आर सब धंध है ॥
दोहा—तजि विभाव हूजे मगन, शुद्धातम पद मांहि ।
एक मोक्षमारग यहै, और दूसरो नांहि ॥
दोहा—जे विवहारी मूढ़ नर, परजै बुद्धि जीव ।
तिनके बाहिज क्रिया विषैं, है अवलम्ब सदीव ॥

(नाटक समयसार)

शुभराग में धर्म नहीं होता, केवल पुण्य का ही बंध होता है ।

भव्यो ! कल्याण करने के लिए ही धर्म का सेवन किया जाता है । धर्म उसे ही कहते हैं जो उत्तम सुख को प्राप्त करावे । उत्तम सुख मोक्ष में कहा गया है, स्वर्ग सुखों को उत्तम सुख नहीं कहा । स्वर्ग सुख तो इस जीव ने अनन्त वार भोगे फिर भी आवागमन बना रहने से मनुष्य, तिर्यञ्च तथा नारक गतियों में रुलता रहा और अब भी रुल रहा है, और रुलता ही रहेगा जब तक कि मोक्षसुख पाने वाले धर्म को धारण नहीं करेगा ।

मोक्ष का मूल कारण एकमात्र 'सम्यक्त्व' आचार्यों ने कहा है और हम आप भी जानते हैं इसमें किसी का मतभेद नहीं । अतः सम्यक्त्व से मोक्ष, और धर्म से सम्यक्त्व होता है । पुण्य से सम्यक्त्व नहीं होता, क्योंकि इस जीव ने पुण्य तो अनन्त बार किया जिसके फलस्वरूप स्वर्गसुख भोगे परन्तु सम्यक्त न हुआ । निष्कर्ष यह निकला कि सम्यक्त्व और पुण्य दोनों एक नहीं दो प्रथक् प्रथक् मार्ग हुये । पुण्य करते करते हमें सम्यक्त्व हो जायगा यह मान्यता न रही । ठीक इसी आशय को स्पष्ट करने वाला साहित्य और प्रवचन श्री कानजी स्वामी का प्रकाशित हो रहा है जो उन्होंने भगवान कुन्दकुन्द स्वामी के साहित्य-समुद्र को मंथन करके 'धर्मरत्न' प्राप्त किया

है। वे कह रहे हैं कि हे भाई! पुण्य तो अनंतीवार अनन्त जन्मों में किया, खूब किया, और फिर भी करते रहे तो आत्मकल्याण न होगा, जैसा कि अभी तक नहीं हो सका है। अतः इस भ्रम को छोड़ दो कि पुण्य करते करते आत्मकल्याण हो जायगा। अब तो यदि आत्मकल्याण करना चाहते हो और संसार भ्रमण से छूटना चाहते हो तो धर्म करो, धर्म करो, यही बार बार कह रहे हैं और समझो कि धर्म क्या है, और पुण्य क्या है ?

भगवान में शुभराग करके भगवान की पूजा करना धर्म नहीं है, पुण्य है। जबकि सम्यक्त्व प्राप्त करना धर्म है जो कि धर्म मोक्षप्रदायक होगा। अतः मोक्षप्राप्ति के लिये धर्म करना होगा, जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी। जिस सम्यक्त्व के श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने दो भेद बताए-व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व, क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व का कारण है, व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त न होगा। जो यहीं से यह बात चली कि बिना व्यवहार के निश्चय नहीं होता। पुण्य के लिये यह बात लागू नहीं होती कि व्यवहार पुण्य से निश्चय पुण्य होगा। क्योंकि 'पुण्य' में दो भेद नहीं हैं कि—'व्यवहार पुण्य', और 'निश्चय पुण्य'।

बस, यहीं से जैनधर्म के मर्म को समझने में भूल हुई और हो रही है कि भगवान की पूजा को व्यवहार पुण्य मानकर निश्चय पुण्य को बात की जाने लगी कि व्यवहार पुण्य करते करते निश्चय पुण्य हो जायगा और निश्चय पुण्य से हमारी आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेगी।

यह भूल साधारण भूल नहीं, इस भूल ने मोक्षमार्ग ही रोक दिया, मानो जल मंथन-करते करते घृत पाने की आशा लगाली, जिस आशा की ओर से मोड़ना कठिन हो रहा है। पुण्य-दृष्टि की बहुलता के कारण धर्मदृष्टि का लोप हो रहा है, जिसके कारण धर्म दृष्टि वाली बात स्वयं दिखाई देना तो दूर रही आचार्य ग्रन्थों को पढ़ते हुए तथा श्री कानजी स्वामी जैसे परम आध्यात्मिक वेत्ताओं के उपदेशों द्वारा भी नहीं दिखाई देती।

यदि हमें इस भूल को दूर करके मोक्षमार्ग को पाना है, तो जैनधर्म के इस मर्म को समझना होगा कि धर्म और पुण्य यह दोनों प्रथक् प्रथक् मार्ग हैं, एक ही नहीं।

पुण्य—स्वर्ग का मार्ग है, जबकि धर्म मोक्ष का मार्ग है। पुण्य मार्ग पर चलते चलते कभी भी मोक्ष न पायेंगे जब तक कि धर्म का मार्ग ग्रहण न करेंगे। अतएव पुण्य मार्ग में निश्चय और व्यवहार नहीं, धर्म मार्ग में निश्चय और व्यवहार कहा गया है, और धर्म का ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। यह मान्यता दृढ़ करके सम्यक्त्व मार्ग पर चलने के लिये सम्यक्त्व के निश्चय और व्यवहार के भेद को जानना होगा। जिसे कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने दर्शन पाहुड़ गाथा १९ व २० में कथन किया है, कि—

छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥
जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

भावार्थ—छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व को शास्त्रस्वाध्याय के द्वारा जानकर इनमें श्रद्धान करने वाला सम्यक्त्वी है, तथा जीव आदि जे पदार्थ तिनको श्रद्धान करने वाला ऐसा सम्यक्त्वी श्री जिन भगवान ने व्यवहार सम्यक्त्वी कहा और जब वह सम्यक्त्वी अपने सम्यक्त्व के द्वारा निश्चय तैं अपनी आत्मा ही का श्रद्धान करे उसे निश्चय सम्यक्त्वी कहा है।

स्पष्टीकरण—मात्र जीवादि तत्त्वों के भेदानुभेद को पांडित्य द्वारा जान लेना, उसका व्याख्यान कर देना तथा जानने का आधार पुस्तकादि लिख देना, इतने भर से ही हम व्यवहार सम्यक्त्वी हो गए ऐसा न मान लेना, प्रत्युत इनके भेदानुभेद का हृदयंगम होकर तदनुसार हमारी वृत्ति बन जाय और उस वृत्ति के अनुसार हमारी प्रवृत्ति हो जाय कि जिस हमारी प्रवृत्ति में संसार की असारता जानकर संसार शरीर और भोगों से आन्तरिक अरुचि हो जाय और क्षण-प्रतिक्षण केवल त्याग की भावना रहने लगे, जितना त्याग कर सकें उतना करते जाएँ और जिस करने में आज असमर्थता दिखाई देती हो उस सामर्थ्य प्राप्ति के लिये हम प्रयत्नशील रहें, जैसा कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा २२ में कहा है कि—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।
केवलि जिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥

भावार्थ—जो करने कूं (जितना त्याग करने की) सामर्थ्य होय सो त्याग करके उस त्याग की उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ श्रद्धान एक यही रहे कि—

कब गृहवास से उदास होय वन सेऊँ, वेऊँ निज रूप रोकूँ गति मन-करी की ।
रहि हौं अडोल एक आसन अचल अंग, सहि हौं परीषह शीत, घाम, मेघ झरी की ॥
सारंग समाज आन कब धों खुजावें खाज, ध्यान दल जोरि, जीतूँ सेना मोह अरी की ।
एकलविहारी यथाजात लिंग धारी, कब होऊँ इच्छाचारी बलिहारी वा घरी की ॥

ऐसी ओत-प्रोत भावना हममें जाग्रत रहे, तब जानना कि हम सम्यक्त्वी हैं और ऐसे सच्चे सम्यक्त्वी को ही व्यवहार सम्यक्त्वी तब तक कहा गया है जब तक कि वह स्वरूपाचरण चारित्र की इस दशा को प्राप्त न हो जाय, जिसमें कहा गया है—

जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब ।
जिन परम पैनी, सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया ।
वर्णादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया ।।
निज मांहि निजके हेतु, निजकर, आपको आपै गह्यो ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यो ।।
जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को न, विकल्प वच भेद न जहाँ ।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ ।।
तीनों अभिन्न अखिन्न लखि शुध,-उपयोग की निश्चल दशा ।
प्रगटी जहां दृग-ज्ञान-व्रत ये, तीनधा एकै लशा ।।
परमाणनय निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै ।
दृग-ज्ञान-सुख बल मय सदा, नहिं आन भाव जु मो विषै ।।
मैं साध्य साधक, मैं अवाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं ।
चित पिंड चंड अखंड, सुगुन-करंड, च्युत पुनि कलनितैं ।।
यों चिंत्य निज में थिर भए, तिन अकथ जो आनंद लह्यो ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो ।।

इस अवस्था में (स्वरूपाचरण चारित्र में) आ जाय तब वह निश्चय सम्यक्त्वी कहा गया है । तात्पर्य यह कि द्रव्यादि तत्वों के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम करके जिसने चौथे गुणस्थान को जो कि अव्रतसम्यग्दृष्टि कहा गया है, से वह व्यवहारसम्यक्त्वी कहा जाता है और इस व्यवहारसम्यक्त्व की वृद्धि करके पुरुषार्थ द्वारा पांचवां गुणस्थान जो कि व्रती श्रावक का जिसमें कि ग्यारह प्रतिमाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ अर्थात् उत्तमोत्तम श्रावक, ऐलक पद प्राप्त करना कहा है । तत्पश्चात् पुरुषार्थ द्वारा छटवां गुणस्थान मुनिपद को प्राप्त करके ध्यान की जो अवस्था ७वें गुणस्थान से लगाकर ११ वें गुणस्थान पर्यन्त की है, यहां तांई वह व्यवहारसम्यक्त्वी ही है, और इस व्यवहार पुरुषार्थ के द्वारा जब वह बारहवें गुणस्थान यथाख्यातचारित्र को प्राप्त कर लेता है कि जिस यथाख्यातचारित्र में—"यों चिंत्य निजमें थिर भए, तिन अकथ जो आनंद लह्यो । सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द के नाहीं कह्यो ।।" तब निश्चय सम्यक्त्वी जानना । कि जिसके होते ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । प्रयोजन यह कि यथाख्यातचारित्र बारहव गुणस्थान के न होने तक चौथे गुणस्थान अव्रतसम्यग्दृष्टि से लगाकर ११वें गुणस्थान तक की मुनि अवस्था वाले जीव सब व्यवहार सम्यक्त्वी जानना और सिर्फ एक बारहवें गुणस्थान वाले को निश्चय सम्यक्त्वी जानना कि जिसके होते ही केवलज्ञान हो जाता है । ध्यान रहे कि गाथा १६ व २० में द्रव्यादि तत्त्वों को श्रद्धान करने वाला सम्यक्त्वी कहा तथा गाथा २२ में शक्ति अनुसार वाली

बात कही, परन्तु इनके बीच में गाथा नं० २१ में कहा है कि—

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

अर्थ - ऐसे जो (पूर्वोक्त प्रकार) जिनेश्वर देव द्वारा कहा गया दर्शन है सो गुणों में और दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन रत्ननि में सार है उत्तम है, और मोक्ष मन्दिर के चढ़ने कूँ प्रथम सीढ़ी है । सो आचार्य कहैं हैं—हे भव्य जीव हो ! तुम याकूं अन्तरंग भाव से धारण करो, बाह्य क्रियादिक करि धारण किया तो परमार्थ नाहीं, अन्तरंग की रुचिकर धारणा ही मोक्ष का कारण है ।

सारांश—ऐसे दर्शन कौं भगवान जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष की प्रथम सीढ़ी कहा, न कि प्रतिमा के दर्शन को । इसी तरह उपरोक्त प्रकार व्यवहार व निश्चयसम्यक्त्व कहा, न कि मात्र द्रव्यादि तत्त्वों को जान लेने से व्यवहार व श्रद्धान कर लेने को निश्चय सम्यक्त्व कहा और उपरोक्त प्रकार ही व्यवहार व निश्चय कहा, न कि श्रावक का व्यवहार धर्म और मुनि का निश्चय धर्म कहा जैसी कि मान्यता सर्व साधारण जनों में हो गई है । जहाँ तक पुरुषार्थ द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति आत्मोन्नति की साधना है वह सब व्यवहारधर्म या व्यवहारसम्यक्त्व है, क्योंकि यह पहिले कह दिया गया है कि धर्म व सम्यक्त्व एक ही बात है जबकि पुण्य इनसे बिल्कुल ही अलग व दूसरी चीज है । और जब आत्मसिद्धि-पूर्ण-परिपूर्ण आत्मलीनता हो जाती है कि जिसे आचार्यों ने बारहवां गुणस्थान यथाख्यातचारित्र कहा है वह निश्चयधर्म या निश्चयसम्यक्त्व जानना ।

हाँ, स्वाध्याय में—व्यवहारस्वाध्याय व निश्चयस्वाध्याय यह दो भेद हैं । श्री जैन शास्त्रों को पढ़ना व्यवहारस्वाध्याय है, व उनके द्वारा द्रव्यादि तत्वों के स्वरूप को जानना व्यवहारस्वाध्याय है । मुनि श्रावक की क्रियाओं एवं पुण्य-पाप के स्वरूप को जानना व्यवहारस्वाध्याय है जबकि गाथा १६ में कहे अनुसार द्रव्यादि तत्त्वों को जानकर उनके यथार्थ स्वरूप में श्रद्धान उत्तरोत्तर आत्मानुभव बढ़ता जाना ही निश्चयस्वाध्याय है । जिसके द्वारा—

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी, दिन दिन रीति गहै समता की ।
छिन छिन करै सत्य कौ साकौ, समकित नाम कहावै ताकौ ॥

स्वाध्याय करते हुए ऐसी दशा में प्रवेश होना और समताभाव बढ़ता जाना तथा आनन्द मग्नता होने लगना यह सब निश्चयस्वाध्याय है । सोने से सोने के पात्र और चांदी से चांदी के पात्र बनते हैं, चांदी से कभी भी सोने के पात्र नहीं बन सकते हैं, ठीक इसी प्रकार धर्म से मोक्ष व पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति जानना । पुण्य से कभी भी मोक्ष न होगा, चाहे करोड़ों जन्म तक करते रहो । हां, पाप को त्यागकर पुण्य करना-इस दृष्टि से पुण्य अच्छा है कि पाप से नर्कादि

के दु:खों को भोगना पड़ता है जबकि पुण्य से जो वह भी वास्तविक पुण्य हो (पुण्य के धोखे में पाप न हो क्योंकि प्राय: अज्ञानी जीव पुण्य के धोखे में पाप करते हुए अपने को पुण्यात्मा मान रहे हैं) उससे मनुष्य व देवादि के सुख मिलते हैं कि जिससे मोक्ष तो क्या मोक्षमार्ग का भी रंचमात्र सम्बन्ध नहीं। अत: धर्म और पुण्य इन दोनों के स्वरूप को समझो, ठीक ठीक समझो, धर्म समझकर पुण्योपार्जन में ही यह मनुष्य-जन्म पूरा न कर दो, जिस मनुष्य-जन्म से धर्म के द्वारा मोक्षमार्ग बनाया जा सकता है। यदि इस जन्म में हमने मोक्षमार्ग पर चलना प्रारंभ कर दिया तो मानों मोक्ष की ओर हम चल पड़े हैं। भले ही चलने में १, २, ४ भव लग जावें, किंतु निश्चित ही हम मोक्षमहल को प्राप्त कर लेंगे, अवश्य कर लेंगे। जबकि पुण्य करोड़ों जन्मों से करते चले आ रहे हैं, वह भी इतना कि साक्षात् भगवान के दर्शन समोशरण में करके पुण्य मिला, फिर भी आज तक मोक्ष न पाया; संसारी ही बने हैं और इसी तरह पुण्य को मोक्ष की पहली सीढ़ी मानते हुये करोड़ों जन्म भी पुण्य करते हुए मोक्ष न पा सकेंगे, संसारी ही बने रहेंगे।

अन्त में आत्महित की दृष्टि से हमें यही मानना होगा कि वस्तु-स्वभाव के न्याय से आत्मा का स्वभाव ही धर्म है, जिस आत्मधर्म को पाने के लिये सम्यक्त ही मूल कारण है। उस सम्यक्त की प्राप्ति के लिये शास्त्र स्वाध्याय ही एकमात्र कारण है, जिस शास्त्र स्वाध्याय से द्रव्यादि तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान होता है और दूसरे किसी भी कारण से नहीं। भगवान की मूर्ति तो क्या साक्षात् भगवान के दर्शन से भी सम्यक्त नहीं हो सकता, फिर भी हम कहां अटक रहे हैं?

सर्व साधारण पुरुष भले ही यह सुनकर चौंक उठें कि—अरे साक्षात् भगवान के दर्शन से भी सम्यक्त नहीं होता और मिथ्यात्व नहीं छूटता है। परन्तु जिन्हें सिद्धांत ज्ञान है वे इसे भली प्रकार जानते हैं। यही बात वैराग्य के सम्बन्ध में है कि मूर्ति तो क्या साक्षात् भगवान के दर्शन करने पर भी वैराग्य नहीं होता। यदि ऐसा होता तो समोशरण में पहुँचने वाले सभी को वैराग्य हो जाया करता, आप कहीं से चलें, आना यहीं पड़ेगा कि शास्त्र स्वाध्याय से, भगवान अथवा आचार्यों के उपदेश से इस तरह स्वाध्याय के जो ५ भेद (पठन, प्रश्न, श्रुतचिन्तवन, प्रवर्तन, उपदेश) कहे उनके द्वारा द्रव्यादि तत्त्वों का स्वरूप जानकर उन पर श्रद्धान करने पर ही सम्यक्त होगा, सम्यक्त होने पर ही मोक्षमार्ग बनेगा, मोक्षमार्ग पर आत्मपरिणाम उत्तरोत्तर निर्मल पवित्र होते जायेंगे, जितने २ परिणाम निर्मल होते जायेंगे उतनी २ विभाव परिणति कम होती जायगी और शुद्धात्मा में मगनता बढ़ती चली जायगी, बस एकमात्र यही मोक्षमार्ग है दूसरा कोई मोक्षमार्ग हो ही नहीं सकता।

तजि विभाव हूजे मगन, शुद्धातम पद मौंहिं।
एक मोक्षमारग यहै, और दूसरो नौंहिं ॥

ध्यान रहे कि—'व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग' इस तरह से मोक्षमार्ग दो नहीं होते, यह तो एक ही होता है। तथा गृहस्थ के लिये या गृहस्थ का मार्ग व्यवहारमोक्षमार्ग है, पर होता होगा और मुनियों के लिये या मुनियों का निश्चय मोक्षमार्ग है ऐसा भी न जानना। यदि समझपूर्वक मोक्षमार्ग पर चला जाय तो एक गृहस्थ सच्चा मोक्षमार्गी है यदि न समझी से चला जाय तो गृहस्थ तो क्या मुनि भी संसारमार्गी-कुपंथ का गामी है। जैसा कि श्री रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में कहा है कि—

मोह रहित जो है गृहस्थ भी, मोक्षमार्ग अनुगामी है।
मुनि होकर भी मोह न छोड़ा, वह कुपंथ का गामी है॥

यदि आप कहें कि छहढाला की तीसरी ढाल में दौलतराम जी ने तो कहा है कि—

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमाँहि न तातें, शिवमग लाग्यौ चहिये॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरन शिवमग, सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो॥१॥
परद्रव्यनतें भिन्न आपमें, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप को जानपनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है॥
आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित सोई।
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई॥ २॥
जीव अजीव तत्त्व अरु आश्रव, बंधरु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों को त्यों सरधानौ॥
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानौ।
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दृढ़ प्रतीत उर आनौ॥ ३॥

इस तरह निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्ग कहे। यदि आप कहें कि तब नाटक समयसार ग्रन्थ में पं० बनारसीदास जी ने अथवा श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षमार्ग एक ही क्यों कहा? सो यह तो पहिले कह चुके कि द्रव्यादितत्वों का श्रद्धान व्यवहारसम्यक्त अथवा व्यवहार-मोक्षमार्ग है, जबकि आत्मा जो कि रत्नत्रयरूप से अपने आपमें परिपूर्ण शुद्ध है उसमें पूर्ण-परिपूर्ण तल्लीनता निश्चयसम्यक्त या निश्चयमोक्षमार्ग है, जैसाकि दौलतराम जी ने उपरोक्त दो व तीन नं० की चौपाइयों में कहा है, परन्तु पहली चौपाई में व्यवहार और निश्चय इन दोनों का मुंह एक ही दिशा में करके बांध दिया है कि—'दुविधि विचारो', किन्तु—जो व्यवहार निश्चय का कारण हो, अर्थात् जैसा ऊपर बहुत विस्तार से बताया जा चुका है कि—सम्यक्ती जीव चौथे

गुणस्थान से व्यवहारसम्यक्ती होकर ग्यारहवें तक, जहां तक कि उसे पुरुषार्थ करना है व्यवहार सम्यक्ती जानना, व बारहवें में पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाने पर निश्चयसम्यक्ती जानना कि जिससे केवलज्ञान की जाग्रति हो जाती है; इस तरह कहने के लिए ही २ भेद हुये किन्तु एक ही दिशा में चलने से वास्तव में दोनों एक ही कहलाये ऐसा जानना चाहिये।

न कि ऐसे दो भेद कि भगवान की पूजा, दान-पुण्य, एकात उपवास, तीर्थ यात्रा, भगवान अथवा भगवान की प्रतिमा का दर्शन, त्यागी मुनि इत्यादि को आहार अथवा धर्म-प्रभावनादि कार्यों से हमें पुण्य बंध रहा है यह व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन है। और जब जो कोई या हम मुनि हो जाते हैं, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। हां, सच्चे देव अरहंत, सच्चे निर्ग्रंथ गुरु और दयामयी धर्म का जो स्वरूप श्री कुन्दकुन्दादि सभी आचार्यों ने बताया है उनकी मान्यता, जैनधर्म की प्रभावना को प्रकाशित करने वाली धर्मप्रभावनादि दान-पुण्य उपवासादि सो भी समता और विवेकपूर्वक किए जाने पर पुण्यबंध करने वाले हैं।

किन्तु ध्यान रहे कि— पुण्यबंध के भी दो भेद हैं, पुण्यानुबंधी पुण्यबंध और पापानुबंधी पुण्यबंध सम्यक्ती जीव को सातिशय पुण्यबंध तथा समता व विवेकपूर्वक करने वाले को पुण्यानुबंधी पुण्यबंध ऐसे सामान्य भेद से यह दो रूप तो पुण्यानुबंधी पुण्यबंध के जानना तथा अविवेकपूर्वक मानादि कषायों की पूर्ति हेतु किये गये पुण्य कार्यों में पापानुबंधी पुण्य बंधता है।

विशेष—श्री तीर्थंकरादि केवली पुरुषों का सातिशय पुण्य है, तथा जिनके पुण्य का उदय है और उस पुण्य के उदय में जो सम्यक्त प्राप्त करने वाले पुरुषार्थ में सफलीभूत हो जाते हैं उनका भी पूर्व पुण्य तथा सम्यक्ती होने पीछे बांधा हुआ पुण्यबंध सब सातिशय पुण्य हो जाता है, इसे और भी सरलता से ऐसा समझो कि—दर्शनविशुद्धि भावना की परिपूर्णता में तो श्री तीर्थंकर गोत्र जैसा महानतम सातिशय पुण्य का तथा दर्शनविशुद्धि भावना की साधारणता में उसके अंश प्रमाण सातिशय पुण्यबंध होता है। दृष्टांत के लिये--जैसे तीर्थंकरों की अपेक्षा सामान्य केवलियों का।

पुण्यानुबंधी पुण्य उसे कहते हैं कि जिस पुण्य के उदय में मनुष्य नूतन पुण्यबंध के पुण्य कार्य करता रहे, जैसे धर्मप्रभावना, पात्रदान, परोपकार, शीलव्रतादिकों का पालन, यथाशक्ति चारों दान, तीर्थयात्रा तथा पात्रों की वैयावृतादि। पापानुबंधी पुण्य उसे कहते हैं जिस पुण्य के उदय में मनुष्य अपने पुण्य के बल के द्वारा पापोपार्जन करने वाले पाप कार्य करता रहे—जैसे कुशीलादि सप्त व्यसनों का सेवन, पांचों पापों में प्रवृत्ति, व्यवहार में लेन देन में कठोरता व कषाय भावों की वृद्धि, बहु आरम्भ परिग्रह आदि।

अधिक क्या लिखें—मनुष्य जन्म पाने की सार्थकता एवं उत्तमता तो एकमात्र यही है कि हम सम्यक्त प्राप्त करलें और सातिशय पुण्यबंध लेकर परभव में जावें और दूसरे ही अथवा २-४

भवों में संसार से छूट जावें । मध्यमता यह है कि पुण्यानुबंधी पुण्य साथ लेकर सुख-साता देने वाली मनुष्य तथा देवगति को प्राप्त करें और पापानुबंधी पुण्य और पापानुबंधी पाप करने वाले जघन्य तथा निकृष्ट मनुष्यों को तो दुखदायक गतियों के सभी द्वार खुले हैं ।

धर्मायतन तथा जिनप्रतिमा का सच्चा स्वरूप

श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित श्री 'रयणसार' जी ग्रन्थ—

इसमें सर्व प्रथम गाथा—मंगलाचरण की में ही कहा है कि इस रयणसार को श्रावक और मुनिधर्म (दोनों के लिए) पालने वालों को कहूँगा । जो इसमें तो श्रावकों के लिए अष्ट द्रव्य से प्रतिमा पूजन का उपदेश होना ही चाहिए था, किन्तु कहीं रञ्चमात्र जिक्र भी नहीं किया गया, तब कैसे मान लिया जाय कि श्री कुन्दकुन्दाम्नाय में यह मान्यता कल्याणकारी है ।

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणंति सुद्देण ।
बोच्छामि रयणसारं सायारणयारधम्मीणम् ॥१॥

अर्थ—त्रियोगशुद्धि पूर्वक भगवान वर्द्धमान को नमस्कार करके गृहस्थ और मुनि के धर्म का व्याख्यान करने वाला 'रयणसार' कहूँगा ।

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारूक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदोभेदं ॥ ४ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ही समस्त रत्नों में सारभूत रत्न है और वही मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल है । उसके (सम्यग्दर्शन के) निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन इस प्रकार दो भेद जानना ।

इसके गाथा ६६ ताईं लगातार श्रावक (गृहस्थ) धर्म का उपदेश है जिसमें श्रावकों की ५३ क्रियाएं, ७० गुण, पात्रों को ४ दान इत्यादि सभी बातों को अच्छी तरह बताया । परन्तु, कहीं भी प्रतिमा का और अष्ट द्रव्य का नाम भी नहीं आया, यहां तक कि गाथा ३२ से ३७ तक में यह तो बताया कि जो धर्म, दान, पाठशालादि के धन को अपहरण कर लेता है अथवा धर्मकार्यों में अन्तराय करता है उसे तीव्र पापबंध होता है, जिसके फल से कोढ़ी इत्यादि दुख व नरकगति के दुख भोगता है। बन्धुओ ! निष्पक्ष विचार करो कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी को इसमें अवश्य ही अष्टद्रव्य खाने वालों को भी पापबंध होता है यह लिखना था ।

बल्कि गाथा ५६ में यह लिखा है कि—इस भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी पंचमकाल में मिथ्यात्वी मनुष्य अधिक हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और मुनीश्वर दुर्लभ हैं। इसके आगे गाथा ६१ में लिखा

है कि अशुभभावों से नर्कादि दुर्गति होती है, शुभभावों से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते हैं। दुःख और सुख की प्राप्ति अपने शुभाशुभ भावों पर ही निर्भर है। हे भव्य! जो तुझे रुचै सो कर। अन्त में ६६ वीं गाथा में कहा कि—सम्यग्दर्शन से शुभगति और मिथ्यात्व से दुर्गति नियम से होती है, इसलिये हे भव्य ! जो तुझको रुचै-अच्छा लगे सो कर, अधिक क्या कहूं ?

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥१८॥

अर्थ—जो भव्यात्मा अपने (नीतिपूर्वक संग्रह-कमाए हुये धन को) द्रव्य को श्री जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए सात क्षेत्र में वितरण (खर्च) करता है वह पंचकल्याण की महाविभूति से सुशोभित त्रिभुवन के राज्यसुख को प्राप्त होता है।

सप्त क्षेत्र कौन कौन हैं उनको बताने वाली गाथा जो अष्टपाहुड़ में है—

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा, दंसणं च जिणविंवं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा, णाणमादत्थं ॥ ३ ॥

अर्थ—आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनविंव, जिनमुद्रा, ज्ञान, कि जिससे आत्मा का प्रयोजन-कल्याण-सुख हो, ऐसे यह सात क्षेत्र जिस तरह वीतराग भगवान ने कहे हैं तैसे जानना-मानना। क्योंकि धर्ममार्ग में कालदोष तें अनेक मत भये हैं तिनिमें आयतन आदि विषै विपरीतता भई है, इनका सांचा स्वरूप तो लोग जाने नाहीं आर धर्म के लोभी भये जैसो बाह्य प्रवृत्ति देखें तिसमें ही प्रवृत्ति करने लगें तिनको संबोधन के लिये यह बोधपाहुड़ रचा है।

इस लेख से बिल्कुल ही स्पष्ट हो गया कि भगवान ने जो स्वरूप धर्मायतन, जिनप्रतिमा, जिनदर्शन, जिनविंव तथा चैत्यगृह कहा था उसे मिथ्यादृष्टियों ने दूसरो तरह से बताकर अज्ञानी लोगों को उसमें प्रवृत्ति करादी—फंसा दिया।

रयणसार की गाथा नं० १८ स्पष्ट श्रावकों के लिये कह रही है कि श्रावकों को अपनी न्यायोपार्जित द्रव्य को (धन को) भगवान वीतराग के कहे गए सात क्षेत्रों में दान, पुण्य करके (खर्च करके) पुण्योपार्जन करना चाहिये न कि मिथ्यादृष्टियों के बताए हुये सात क्षेत्रों में। सात क्षेत्रों का स्पष्टीकरण अर्थात् वास्तविक स्वरूप समझकर उनमें किया हुआ दान सुदान होगा, सुपात्र दान होगा, जैनधर्म की सच्ची प्रभावना करने वाला होगा कि जिसके पुण्य फल से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होगी, जबकि इसके विपरीत मिथ्यात्व बढ़ाने वाले कार्यों में खर्च करने से वह कुदान हो जाने से दुर्गतिबंध का कारण होगा, ऐसा जानकर दान, पुण्य व धर्म कार्य में भी विवेक से खर्च करना चाहिये।

आयतन—नाम जामें बसिये, निवास करिये ताका नाम है। सो जामें धर्म स्वरूप आत्मा निवास करे ताकूं धर्म पद्धति से धर्मायतन कहिये है। जो केवली कूं सिद्धायतन और विशेष तथा सामान्य मुनियों को जो कि रत्नत्रयधारी हैं उन्हें धर्मायतन कहा है।

भेषधारी, पाखण्डी, विषय कषायन में आसक्त, परिग्रहधारी धर्मायतन नाहीं तथा जैनमत में भी जे सूत्र विरुद्ध प्रवर्त्तें हैं ते भी आयतन नाहीं, सर्व अनायतन हैं। तात्पर्य यह कि मोक्षमार्गी जो आत्मायें वे जिस शरीर में निवास कर रहीं हों सो ही धर्मायतन है, संसारमार्गी सब अनायतन हैं। मोक्षमार्गी—

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर आतम ज्ञानी।
द्विविध संग बिन शुध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी॥
मध्यम अन्तर आतम हैं, जे देशव्रती आगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिवमग चारी॥

इस प्रकार जो भी अन्तर आत्माएँ वह तथा केवली भगवान सो धर्मायतन जानकर इनकी यथाभक्ति विनयपूर्वक धन को खर्च करना, वैयावृत करना, स्थितिकरण करना, सेवा संभाल करना सो ही सुपात्रदान है।

शंका—मुनि अवस्था तक तो वैयावृत व दान का योग बन सके परन्तु सिद्ध आयतन जो केवली उनके प्रति दान व वैयावृत कैसे होय?

समाधान—केवली भगवान का कहा हुआ जो धर्म का उपदेश अर्थात् जिनशासन उसकी प्रभावना करना, प्रचार करना कि जिससे दूसरे जीव मनुष्य उसे पालन करके अपना आत्म-कल्याण करें व दूसरे सब जीवों की जिससे रक्षा हो यही भगवान केवली की सच्ची वैयावृत व सुपात्र दान है। दान की तीन श्रेणी—सुपात्रदान, दान और कुदान।

सुपात्रदान—जिस हमारे चारों प्रकार के दान को पाकर पाने वाली आत्माएँ अपने आत्म-स्वरूप की स्थिरता को प्राप्त हों, उसमें दृढ़ हों, उसमें प्रगति करें और दूसरों का कल्याण करें।

दान—जिसे पाकर वे दुख से छूटें, धर्म में रुचिवान हों, धर्म प्रभावना करें और ज्ञान प्राप्त करें तथा चारित्रवान बनें।

कुदान—जिसे पाकर वे मिथ्यात्व का पोषण करें, पापों में प्रवर्तें; स्वयं दुखी हों, दूसरों को दुखी करें, धर्म की अप्रभावना करें और को कुमार्ग पर लगावें, अपने कुमार्ग का अनुमोदन व समर्थन प्राप्त करें अथवा दातार निदान भाव से दान दे यह सब कुदान है।

अतः केवली को सिद्धायतन व मुनियों को धर्मायतन कहा सो भगवान जो यह धर्मायतन

कहे इनहीं की विनय, प्रशंसा, स्तुति करना व इनहीं का आश्रय लेना धर्मात्मा पुरुषों को योग्य है। यह बोधपाहुड़ ग्रन्थ निर्माण करने का आशय है। बहुरि जामें ऐसे (सच्चे आयतन स्वरूप) मुनि बसें ऐसे क्षेत्र कूं भी आयतन कहिये है सो यह व्यवहार है ॥७॥ बोधपाहुड़-पं० जयचन्द जी।

यहां विचार करो कि—सर्वप्रथम तो श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भगवान की प्रतिमा को धर्मायतन नहीं कहा, दान के सात क्षेत्रों में 'प्रतिमा पूजन अष्टद्रव्य से' करने को सात क्षेत्रों में नहीं गिना तब गृहस्थ जो द्रव्य का खर्च प्रतिमापूजन प्रतिष्ठादि में करते हैं वह कौन से क्षेत्र में समझा जाय ? तथा जिस शरीर को बौद्धमत ने धर्मायतन मानकर प्रतिमा की मान्यता की उनकी उस मान्यता को तो कल्पित कहा सो ठीक ही है, फिर क्या वही कल्पितपना दि० प्रतिमा में लागू नहीं होता ? क्योंकि सैद्धांतिक न्याय तो सबके सम्बन्ध में एकसा ही होता है, दो प्रकार का नहीं। तथा ऊपर जो सच्चे मुनिराजों के बसने के स्थान वसतिकादि क्षेत्र को धर्मायतन व्यवहार से माना, उस व्यवहार का विशेषरूप यहां तक भी माना जा सकता है कि जिस स्थान में धर्मात्मा पुरुष बैठकर एकत्र होकर धर्म की साधना करें ऐसे मन्दिर स्थान को भी व्यवहार धर्मायतन कहा जा सकता है, धर्मस्थान कहा जा सकता है, क्योंकि धर्मसाधन का स्थान है, जहां बैठकर शास्त्र स्वाध्याय करके शास्त्रप्रवचन सुनकर ज्ञानी पुरुषों द्वारा तत्त्वचर्चा सुनकर के अथवा परस्पर में तत्त्व-चर्चा करके व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से भगवान के गुणगान करके व उनके शरीराश्रित नहीं प्रत्युत आत्माश्रित गुणों की स्तुति करके अपने आप की आत्मा में आत्मज्ञान की प्राप्ति की जाती है व संसार, शरीर, भोगों को दुखदायी व नाशवान समझकर वैराग्यभावना जाग्रत हो सकती है। तात्पर्य यह कि चैत्यगृह वास्तव में तो श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने चैतन्य आत्मा को जानने वाले जो पंच महाव्रती मुनिराज कि जिनके शरीर में-देह में आपापर को जानने वाली भेद-ज्ञानी निःपाप शुद्ध ज्ञानमयी आत्मा विराज रही है उनको चैत्यगृह कहा है। इसे भी हम आयतन की भांति व्यवहारदृष्टि से यह जानकर कि जिस स्थान में बैठकर हमें भेदज्ञान प्राप्त होकर अपनी चैतन्य आत्मा का ज्ञान होता है वहां पर बैठकर हम आत्मा का ध्यान करते हैं और अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं तथा त्याग वैराग्य की भावना उत्पन्न होकर पंच महाव्रती बनते हैं, इससे ऐसे धर्मस्थान को व्यवहार से चैत्यगृह या चैत्यालय कहा गया है व कह सकते हैं, न कि प्रतिमा के स्थान को। क्योंकि यदि श्री कुन्दकुन्द स्वामी को प्रतिमा के स्थान को चैत्यगृह या व्यवहार चैत्यगृह ही मानना होता तो वे अवश्य ही कहते। क्योंकि जब उन्होंने श्रावक और मुनि तथा निश्चय और व्यवहार इन सबका वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है तो क्या वे इन सब व्यवहार की मान्यताओं का वर्णन स्पष्ट नहीं कर सकते थे ? जिन्होंने श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित ग्रन्थों का अध्ययन किया है वे सभी विद्वान् भलीभाँति जानते हैं कि श्री कुंदकुंद स्वामी ने दोनों नयों की कथनी की है। नहीं जानने वाले कुछ भी कहें। इस तरह आयतन तथा चैत्यग्रह का स्वरूप जानना।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं बोधपाहुड़ की दूसरी गाथा में कहा कि—

सकलजनबोधनार्थं, जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम् ।
वक्ष्यामि समासेन च षट्कायहितंकरं शृणु ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य कहे हैं जो मैं छह काय के जीवनि कूँ सुख का करने वाला जिगमार्ग विषैं जिनदेव ने जैसा कहा तैसा समस्त लोकनि का हित का है प्रयोजन जामें ऐसा ग्रन्थ संक्षेप करि कहूँगा ताकूं हे भव्य जीव ! तुम सुनो ।

इस गाथा से बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि—श्री कुन्दकुन्द स्वामी के कथन में श्रावक तथा मुनि इन दोनों की मान्यता वाली सभी बातें आगई। हम अपनी तरफ से व्यवहार कहकर उनकी आज्ञा के बाहर नहीं चल सकते । यदि अपने को कुन्दकुन्दाम्नायी मानते हैं तो और अधिक प्रमाण क्या दें ?

अरहन्त तथा सिद्धों का स्वरूप जानना परमावश्यक है

ण वि जाणई जिणसिद्धसरूव तिविहेण तह णियप्पाणं ।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे ॥१२४॥

अर्थ—जो मुनि न तो भगवान अरहन्तदेव का स्वरूप जानता है, न भगवान सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप जानता है और न बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से अपने आत्मा का स्वरूप जानता है वह मुनि यदि तीव्र तपश्चरण करै तो भी वह इस जन्म-मरणरूप महासंसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है ।

भावार्थ—पंच परमेष्ठी का तथा आत्मा का स्वरूप जानना सम्यग्दर्शन का साधन है । जो इनका स्वरूप नहीं जानता वह सम्यग्दर्शन को भी प्राप्त नहीं कर सकता तथा बिना सम्यग्दर्शन के तीव्र तपश्चरण करने पर भी वह संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है । यहां इस बात के विचारने की आवश्यकता है कि-सर्व साधारण में ऐसी जो मान्यता है कि वीतराग मूर्ति के दर्शन से अरहन्त भगवान के स्वरूप की तथा पीतल में जो आकार बनाकर सिद्ध की मान्यता है उससे सिद्ध भगवान के स्वरूप की याद आती है, जानकारी होती है। कहां इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द जी यह कह रहे हैं कि जिन मुनियों को अरहन्त तथा सिद्धों के स्वरूप की व तीन भेद से आत्म-स्वरूप की खबर नहीं होती वे मुनि दीर्घकाल तक संसार परिभ्रमण करते रहते हैं तो मालूम हुआ कि उनके (अरहन्त सिद्ध के) स्वरूप को जानना कोई गहरी बात है, इतनी सरल बात नहीं है

कि मूर्ति-दर्शन से अरहन्त, सिद्ध का स्वरूप याद आ जाता हो। तब यह मान्यता निराधार व कल्पित सिद्ध हुई कि जो बात मुनि तक को तो कठिन बताई जा रही हो और श्रावक वह भी पढ़े, बिना पढ़े और स्त्री बच्चों को सरल हो।

अतएव अरहन्त सिद्ध का वास्तविक स्वरूप यदि जाना जा सकता है तो केवल शास्त्राध्ययन से ही जाना जा सकता है, मूर्ति से तो जीवन भर बैठे हुए भी नहीं जाना जा सकता कि दर्शन करते रहें और जान जाएँ।

ज्ञानवान-विवेकी सज्जनों को इस पर गहरा विचार व मनन करना चाहिये अन्यथा मृग-मरीचिका जैसी भूल न बनी रहे कि आशा २ में जीवन चला जाय और आत्मकल्याण का सच्चा मार्ग हम न पा सकें।

बोधपाहुड़ गाथा २४ में—देव वाकूं कहिए दीक्षा जाकैं होय। गाथा २५ में कहा कि—देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं। देव है सो नष्ट भया है मोह जाका ऐसा है सो भव्य जीवनिकें उदय करने वाला है। २६ में—णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई। ३० में—हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहन्तो। गाथा ३१ में तो स्थापना का बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है कि— गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण बहुरि जीवस्थान इन पांच प्रकार करि अरहन्त पुरुष की स्थापना प्राप्त करनी अथवा ताकूं प्रणाम करना। इस अर्थ के सामने अब कहां यह गुंजाइस रह जाती है कि चार निक्षेप में एक स्थापनानिक्षेप कह कर प्रतिमा की स्थापना करके उसे प्रणाम करना और प्राणप्रतिष्ठा करके अरहन्त मानना। जिस प्राणप्रतिष्ठा (मंत्र के द्वारा उसमें प्राण डालना) को आज बड़े बड़े वैज्ञानिक कि जिन्होंने आश्चर्यजनक चमत्कार दिखा दिये वे किसी धातु, पाषाण, काष्ठ इत्यादि में प्राण प्रतिष्ठा न कर सके जो प्राण प्रतिष्ठा हमारे प्रतिष्ठाचार्य मात्र पांच पचास रुपये में ही कर देते हैं। बाकी गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति जीव फिर भी यह ४ बाकी रह जाते हैं जबकि श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिसमें पांच हों उसे ही अरहन्त जानकर प्रणाम करना।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहन्तो।
चउतीसअइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठपडिहारा ॥३२॥

गाथा ३३ में कहा कि—चौदह मार्गणा अपेक्षा अरहन्त की स्थापना जानना, जिन चौदह मार्गणाओं में पहली 'गति मार्गणा' से मनुष्यगति हो, अब जहां पहली मार्गणा में ही ० हो वहां और की चर्चा तो व्यर्थ ही है।

गाथा ३४ में—आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास, भाषा इन छह पर्याप्ति गुण करि समृद्ध सो उत्तमदेव अरहंत हैं।

गाथा ३५ में—पांच इन्द्री, मन, वचन, काय (यह तीन बल) श्वासोच्छ्वास, और आयु प्राण-यह १० प्राण करि अरहंत का स्थापन है। प्रतिष्ठाचार्य महोदय १० प्राणों में से इन दसों की ही या किन किन प्राणों की प्राणप्रतिष्ठा करते हैं ?

तात्पर्य यह कि गाथा २८ से ४१ तक चौदह गाथाओं में चारों निक्षेप का वर्णन करते हुये यह बताया कि इस प्रकार जामें होंय सो ही अरहंत प्रणाम करवे योग्य है, अन्यथा नहीं।

नोट—द्रव्यापेक्षा १० और नहीं तो-काय, वचन, श्वासोच्छ्वास, आयु यह ४ प्राण कहे।

इस तरह जो यथार्थ स्वरूप अरहंत का था का वर्णन श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है प्राकृत भाषा में, जिसमें कहीं रञ्चमात्र भी गंध इस बात की नहीं है कि यह तो निश्चय कथन है और व्यवहार में काष्ठ, पाषाण, धातु की प्रतिमा मानना-पूजना योग्य है।

अब जब टीकाकारों ने अथवा वर्तमान के पंडितों ने कि जिन्होंने ग्रंथों को छपाया अपनी तरफ से बिना किसी प्रमाण दिए लिख दिया कि यह तो निश्चय कथन है, क्योंकि मूर्ति का अस्तित्व ही समाप्त प्राय: उन्हें दिखाई दिया; किन्तु उनका लिखना तो पानी में तेल की तरह स्पष्ट दिखाई देता है। श्री कुन्दकुन्द स्वामी की चमकती हुई निर्मल चांदनी तथा शीतलता में कोई अन्तर नहीं आया। श्री कुन्दकुन्द स्वामी की जय तथा कुन्दकुन्द स्वामी के सिद्धांत को मान कर उसका ही प्रकाश करने वाले आचार्य मण्डल की जय कि जिन्होंने उनके सिद्धांत को अक्षुण्ण रक्खा और अध्यात्मधर्म जो कि जैनधर्म का प्राण है उस प्राण की जीवन-ज्योति को बुझने से बचा लिया, अन्यथा भट्टारकों ने तो प्राण-घातक प्रहार कर ही दिया था। जिन भट्टारकों के संबंध में व उनको मानने वालों के सम्बन्ध में स्वयं श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने खेदपूर्वक यह वचन कहे कि—

जे दंसणेसु भट्ठा पाए ण पडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥१२॥
जेपि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणमोअमाणाणं ॥१३॥

अर्थ—जे पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं और दूसरे दर्शनधारकों से अपने पग पड़ावें, नमस्कार करावें ते परभव विषें लूला व मूक होंय हैं तथा फिर उन्हें ज्ञानप्राप्ति दुर्लभ हो जाय है।

तथा जे उन्हें दर्शनभ्रष्ट जान कर भी लज्जा, भय, गर्व की इच्छा से उनके पग पड़ते हैं उन्हें भी परभव में बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ हो जाय है। क्योंकि पाप की अनुमोदना करना भी पाप करने व कराने वाला हो जाय है।

अचेतन जिनप्रतिमा और जिनविंब को—
श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अमान्य ठहराया।

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥७॥ (मोक्षपाहुड)

अर्थ—बहिरात्मा कूं मन, वचन, काय कर छोड़ि अन्तरात्मा का आश्रय लेय करि परमात्मा कूं ध्याइये, यह जिनवरेन्द्रदेव ने उपदेश्या है।

निजदेहसदृशं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन।
अचेतनमपि गृहीतं ध्यायते परमभावेन ॥९॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि पुरुष अपनां देह सारिखा पर का देह कूं देख करि यह देह अचेतन है तौऊ मिथ्याभाव करि आत्मभाव करि बड़ा यत्न करि पर का आत्मा ध्यावै है॥

भावार्थ—बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी कैं मिथ्यात्वकर्म का उदय करि मिथ्याभाव है सो अपना देह कूं आपा जानै है तैसैं ही पर का देह अचेतन है तौऊ ताकूं पर का आत्मा जानि ध्यावै है, मानै है, तामैं बड़ा यत्न करै है यातैं ऐसे भाव कूं छोड़ना यह तात्पर्य है॥ जो मिथ्यादृष्टि अपना देह सारिखा पर देह कूं देखि तिसकूं पर का आत्मा मानै है।

आगे गाथा नं० १०, ११, १२ में यह बताया है कि यह जीव इस ही बहिरात्मभाव से स्त्री पुत्रादि कूं अपना जानि मोह में प्रवर्ते है आदि कहकर बताया कि जो बहिरात्मा के भाव कूं छोड़ि अन्तरात्मा हो परमात्मा में लीन होय है सो मोक्ष पावै है। यह उपदेश जनाया है।

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुञ्चति विविधकर्मभिः।
एष जिनोपदेशः समासतः बंधमोक्षस्य ॥१३॥

अर्थ—जो जीव परद्रव्य विषैं रत है रागी है सो तो अनेक प्रकार के कर्मनि कर बंधै है, कर्मनि का बंध करै है, बहुरि जो परद्रव्य विषैं विरत है रागी नाहीं है सो अनेक प्रकार के कर्मनि तैं छूटै है, यह बंध का अर मोक्ष का संक्षेप करि जिनदेव का उपदेश है।

भावार्थ—बंध मोक्ष के कारण की कथनी अनेक प्रकार करि है ताका यह संक्षेप है—जो परद्रव्य सूं रागभाव सो तो बंध का कारण अर विरागभाव सो मोक्ष का कारण है, ऐसा संक्षेप करि जिनेन्द्र का उपदेश है ॥१३॥

आगे गाथा १४ में कहा है कि जो स्वद्रव्य विषैं रत है सो सम्यग्दृष्टि होय है अर कर्म का नाश करै है।

जो अपना स्वरूप, स्वरूप की श्रद्धा-रुचि, प्रतीति, आचरण करि युक्त है सो नियम करि सम्यग्दृष्टी है ।

गाथा नं० १५ में कहा जो परद्रव्य विषैं रत है सो मिथ्यादृष्टि भया कर्म कूं बांधे है ।

गाथा नं० १६ में कहा कि—परद्रव्य तैं तो दुर्गति होय है बहुरि स्वद्रव्यतैं सुगति होय है यह प्रगट जाणौं, जातैं हे भव्यजीव हो ! तुम ऐसैं जान करि स्वद्रव्य विषैं रति करो अर इतर जो परद्रव्य तातैं विरति करो ।

गाथा नं० १७ में कहा कि—अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा सिवाय अन्य अचेतन मिश्र वस्तु हैं ते सर्व ही परद्रव्य हैं ऐसैं अज्ञानी के जनावनें कूं सर्वज्ञदेव ने कहा है।

गाथा १८ में कहा कि—जो आत्मस्वभाव स्वद्रव्य कहा है सो ऐसा है, ज्ञानानन्दमय अमूर्त्तीक ज्ञानमूर्त्ति अपनां आत्मा है सो ही एक स्वद्रव्य है अन्य सर्व चेतन-अचेतन मिश्र परद्रव्य हैं ॥

गाथा १६ में कहा कि—जो ऐसे निजद्रव्य कूं ध्यावैं हैं ते निर्वाण पावैं हैं—

ये ध्यायंति स्वद्रव्यं परद्रव्य पराङ्मुखास्तु सुचरित्राः ।
ते जिनवराणां मार्गमनुलग्नाः लभंते निर्वाणम् ॥१९॥

भावार्थ—परद्रव्य का त्याग करि जे अपना स्वरूप कूं ध्यावैं हैं ते उत्तम—चारित्ररूप होय जिनमार्ग में लागें ते मोक्ष पावैं हैं, तदुपरान्त गाथा २० में बताया कि जो जिनमार्ग में लग्या योगी शुद्धात्मा कूं ध्याय मोक्ष पावै है तौ कहा ताकरि स्वर्ग नहीं पावै ? पावै ही पावै ॥ आगे गाथा ५८ में कहा—

अचेतनमपि चेतयितारं यो मन्यते स भवति अज्ञानी ।
सः पुनः ज्ञानी भणितः यो मन्यते चेतने चेतयितारम् ॥१८॥

अर्थ—जो अचेतन विषैं चेतन कूं मानैं है सो अज्ञानी है, बहुरि जो चेतन विषैं ही चेतन कूं मानैं है सो ज्ञानी कहा है ।

बोधपाहुड़ के अध्ययन से तो मैं यही समझा था कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने जिनप्रतिमा, जिनबिंब आदि का स्वरूप वर्णन करके ही अचेतन प्रतिमा व अचेतन जिनबिंब को अमान्य ठहराया है जबकि योगीन्द्रदेव ने खुला खंडन किया है। जब मैंने श्री कुन्दकुन्द स्वामी के मोक्षपाहुड़ को देखा तो उसमें तो गाथा नं० ७ से २० तक मूर्ति मानने वालों को स्पष्ट ही कहा कि मूर्ति की मान्यता मिथ्यात्व है व गाथा नं० ६ में तो बिल्कुल ही खुलासा कर दिया कि अचेतन है तौऊ आत्मभाव करि बड़े यत्न से ध्यावें हैं, जे मिथ्यादृष्टी पुरुष हैं तथा इसी मोक्षपाहुड़ की गाथा ५८ में यह

स्पष्ट ही कर दिया कि अचेतन में चेतन कूं मानै सो अज्ञानी हैं व जो चेतन में चेतन कूं मानै सो ही ज्ञानी हैं। इससे अधिक और क्या लिखते ? कि अचेतन को ध्यावै सो मिथ्यादृष्टि हैं व निजद्रव्य जो आत्मा ताकूं ध्यावै सो ही सम्यग्दृष्टि है व निर्वाण कूं पावै है। प्रयोजन यह कि यदि इस मान्यता को ही रखना है कि हम कुन्दकुन्दाम्नायी हैं तो आप उनके रचित अष्टपाहुड, रयणसार आदि उपलब्ध ग्रन्थों को आद्योपांत देख लीजिए कि प्रतिमा खण्डन ही तो मिलेगा, मान्यता की एक भी कोई गाथा आपको नहीं मिलेगी, न मुनिधर्म के उपदेश में और न श्रावक धर्म के उपदेश में; तब तो हमारी मान्यता प्रतिमा में न रहना चाहिये। हाँ, यह दूसरी बात है कि कहने भर के लिये हम उनके अनुयायी हों व जो मान्यता हृदय में बन बैठी है वह तो नहीं छूट सकती। क्योंकि भट्टारकों का बिछाया हुआ जाल जो कि सैकड़ों वर्ष से हमारे संस्कार में बैठ गया है उसका छूट जाना भी तो आसान नहीं, क्योंकि उन्होंने तो क्या क्या जाल बिछाए ! इतिहास देखो तब आँखें खुलती हैं और आत्मा में महान् खेद भी होता है। देखो श्री नाथूराम जी प्रेमी द्वारा सम्पादन किया हुआ 'जैन साहित्य और इतिहास' उसकी एक चर्चा जब उनका (भट्टारकों का) पूरा पूरा जोर था तब की तो क्या कहें ? अभी अभी वि० सं० १९३९ में गजपंथा क्षेत्र बना दिया व गजपंथा पूजन विधान एक ही दिन में भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्त्ति ने बना लिया। इस तरह इतिहास यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो पता चलेगा कि भट्टारकों ने धार्मिक मान्यताओं के सम्बन्ध में हमें कितने गहरे पानी में उतार दिया कि जिसमें से निकलना ही कठिन हो गया है। किन्तु यदि हाँ, विद्वद्वर्ग प्रयत्न करे तो सफल हो सकता है।

जिनप्रतिमा का दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन ही मोक्षमहल की सीढ़ी है।

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥१॥ (मंगलाचरण)

प्रातःस्मरणीय १०८ श्री कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड विषैं प्रथम दर्शनपाहुड़ में श्री ऋषभदेव से लगाय श्री वर्धमान श्री तीर्थंकरों ताई नमस्कार करके दर्शन कहिए सम्यग्दर्शन का मार्ग यथा क्रम होने की प्रतिज्ञा करै हैं।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्रदेव ने शिष्यों के लिए धर्म का मूल दर्शन कहा है सो हे शिष्यो ! कान

देकर सुनो कि दर्शन हीन वंदिवे योग्य नहीं।

भावार्थ—इस उपरोक्त गाथा से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है जिसमें सम्यग्दर्शन न हो वह वंदिवे योग्य नहीं। हे शिष्य! इस बात को तुम कान देकर सुन लो।

विशेष—प्रतिमा तो क्या सचेतन प्राणी भी यदि सम्यग्दर्शन हीन है तो वंदिवे योग्य नहीं और यदि सम्यग्दर्शनधारी ऊँच नीच मनुष्य तो क्या देव, नारकी तथा पशु भी क्यों न हो वंदिवे योग्य है। अतः द्रव्यलिंगी साधु तथा प्रतिमा और सम्यग्दर्शन हीन सभी देव, क्षेत्रपाल, पद्मावती देवी इत्यादि अवंदनीय हैं। इस गाथा का यही निष्पन्न अर्थ है, रञ्चमात्र भी हम अपनी तरफ से यह अर्थ घुमा फिरा कर नहीं लगा सकते कि यह तो मुनिश्री के लिए कहा है प्रतिमा के वावत नहीं कहा कि सम्यग्दर्शन हीन मुनि की वंदना नहीं करना चाहिए भगवान की प्रतिमा की अथवा जिन शासन की रक्षक पद्मावती क्षेत्रपालादि की तो करना चाहिये अथवा श्रावकों को तो प्रतिमा की वंदना करना चाहिए, मुनियों को नहीं। यदि हमें श्री कुन्दकुन्द स्वामी के बताए हुए इस सिद्धांत को कि जिसे वह कितनी गढ़ाकर कहते हैं कि कान देकर सुनो कि भगवान ने जो यह हम तुम सभी शिष्यों के लिए उपदेश किया है कि हे शिष्यो! दर्शनहीन वंदिवे योग्य नहीं। अतएव यदि हम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके भवसागर से पार होना चाहते हैं तो हमें आशा, भय, लोभ, स्नेह इन सभी संसारी बातों को छोड़कर श्री कुंदकुंद स्वामी द्वारा बताए हुये भगवान जिनेन्द्रदेव के इस उपदेश को मानना चाहिये। क्योंकि सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के वशीभूत हुआ आत्मा-अनादिकाल से भटक रहा है, अब इस मनुष्य जन्म और पाए हुए जैनधर्म को सार्थक करो। सोने में सुगन्धि की भांति यह योग मिला है। यदि प्रतिमा अनादि तथा श्री कुन्दकुन्द स्वामी को मान्य होती तो वे अपनी इस गाथा के आगे वाली गाथा में अपने ग्रन्थ में इसे स्पष्ट कर देते कि भगवान की प्रतिमा वंदनीय है। तथा विशेष आश्चर्य की बात तो यह कि भगवान जिनेन्द्रदेव ही तो यह उपदेश दें कि दर्शनहीन वंदवे योग्य नहीं और वही अपनी प्रतिमा के लिए इसकी छूट कर दें कैसे हो सकता है? यह तो ऐसी बात है कि हम कहें कि औरों के लिए रात्रिभोजन बनाने में दोष है किन्तु हमारे लिए बनाने में दोष नहीं लगेगा। यह बात तो यदि समझी जाय तो इतने में ही समझ में आ सकती है कि जैनधर्म के मूल उपदेशकर्ता भगवान श्री तीर्थंकर महावीर स्वामी और वे ही अपनी प्रतिमा पूजने की कहते? यही कारण है कि एक श्री कुन्दकुन्द स्वामी क्या किन्हीं भी प्रमाणीक बड़े बड़े आचार्यों ने किन्हीं सिद्धांत ग्रन्थों में इस (प्रतिमा पूजन) का समर्थन नहीं किया। यदि उनके समय में यह होती तो वे अवश्य ही सार्थकता का कथन करते जबकि उन्होंने सप्त तत्वों के साथ साथ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, समुद्र, नदी, पर्वत और तीन लोक का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया है तो क्या कारण है कि इतनी धर्म प्रधान मानी जाने वाली चीज

का वर्णन न करते और बारह व्रतों में इसे शामिल न कर जाते जो कि श्रावकों के लिए कहे गये हैं। श्री तत्त्वार्थसूत्रजी ग्रन्थ, जिसमें तीन लोक का सब वर्णन है उसमें भी जिसका अंशमात्र कोई जिक्र नहीं। कहते हैं कि पहिले प्रतिमा काष्ठ की थीं फिर लोहे की चलीं फिर पाषाण की; सबसे पीछे धातु की चलीं। ठीक है भट्टारकों ने जो चलाई सो चलीं; परन्तु यदि आचार्यों के समय में यह सब कुछ हुआ होता तो आखिर वे भी कहीं अपने शास्त्रों में सिद्धांत रूप से इसका वर्णन करते। सब से प्राचीन इतने बड़े बड़े पूज्य ग्रन्थ श्री जयधवल, महाधवल, इनमें तो प्रतिमा का प्रकरण अवश्य ही निकलना चाहिए जब कि यह महाग्रन्थ सर्व प्रथम रचना के हैं, और हैं तथा माने जाते हैं।

इस दूसरी गाथा के आधार पर इतना अधिक इसलिये ही लिखना पड़ा कि यहीं से तो ठीक समझकर आगे चलना है। भगवान जिनेन्द्रदेव हमें सद्‌बुद्धि दें कि हममें कोई भूल न रहे।

स्वर्गीय पं० जयचन्द जी कि जिनके पुत्र भी जयपुर के समस्त पंडितों में सर्वश्रेष्ठ थे, वे पं० जयचन्द जी अष्टपाहुड़ की अपने द्वारा की गई भाषाटीका में लिखते हैं कि— "जाकें दर्शन नाहीं ताकें धर्म भी नाहीं, मूल बिना वृक्ष कें स्कन्ध, शाखा, पुष्प, फलादिक कहां तें होंय, तातैं यह उपदेश है—जाकें धर्म नाहीं तिसकें धर्म की प्राप्ति नाहीं, ताकूं धर्म निमित्त काहेकों वंदिए। 'धर्म' इस शब्द का अर्थ यह है जो आत्मा कूं संसार तें उद्धारि सुखस्थान विषैं स्थापे सो धर्म है। बहुरि दर्शन नाम देखने का है। ऐसें धर्म की मूर्ति देखने में आवे सो दर्शन है सो प्रसिद्ध-तामें जामें धर्म का ग्रहण होय ऐसा मतकूँ 'दर्शन' ऐसा नाम कहिये है। सो लोक में धर्म को तथा दर्शन की सामान्यपनें मान्यता तो सर्व कें है परन्तु सर्वज्ञ बिना यथार्थ स्वरूप का जानना होय नाहीं, अर छद्‌मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि तें अनेक स्वरूप कल्पना करि अन्यथा स्वरूप स्थापि तिसकी प्रवृत्ति करें हैं।" आदि, आदि।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥३॥

अर्थ—जे पुरुष दर्शन तें भ्रष्ट हैं ते भ्रष्ट हैं, जे दर्शन तें भ्रष्ट हैं तिनिकें निर्वाण नांहीं होय है, जातें यह प्रसिद्ध है जे चारित्र तें भ्रष्ट हैं ते तो सिद्धि कूँ प्राप्त होय हैं अर दर्शन भ्रष्ट हैं ते सिद्धि कूं प्राप्त नांहीं होय हैं।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

अर्थ—जे पुरुष सम्यक्तरूप रत्न करि भ्रष्ट हैं अर बहुत प्रकार के शास्त्रनि कूं जानें हैं तोऊ ते आराधना करि रहित भये संते इस संसार विषैं ही भ्रमें हैं। दोय बार कहने तें बहुत भ्रमण!

जनाया है। आगे श्री कुन्दकुन्द स्वामी पांचवीं गाथा में कहें हैं कि— जे पुरुष सम्यक्त्हीन हैं ते भले प्रकार उग्रतप कूं आचारते हू बोधि कहिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी अपना स्वरूप ताका लाभ कूं नांहीं पावें हैं।

भावार्थ—हम कितने ही शास्त्र के ज्ञाता हों, कितना भी उग्र तप करते हों, परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त किए बिना 'आत्मा' के स्वरूप को न जान सकेंगे, बिना आत्मस्वरूप के कदापि मोक्ष-मार्ग न बनेगा और हमारा संसार-भ्रमण न छूटेगा।

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे ।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥६॥

अर्थ—जे पुरुष सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन बल वीर्य इनि करि वर्द्धमान हैं, अर कलि कलुष पाप कहिए इस पंचम काल के मलिन पाप करि रहित हैं (निर्दोष हैं) ते सर्व ही थोड़े ही काल में वर ज्ञानी कहिये केवलज्ञानी होय हैं।

भावार्थ--इस पंचमकाल में जड़ वक्र जीवन के निमित्त करि यथार्थ मार्ग अपभ्रंश (विपरीत) भया है, तिसकी वासना तें रहित भये जे जीव यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धान रूप सम्यक्त्व सहित ज्ञान-दर्शन अपना पराक्रम बलकूं न छिपाय करि अर अपना वीर्य जो शक्ति ताकरि वर्द्धमान भये संते प्रवर्तें हैं ते थोड़े ही काल में ही केवलज्ञानी होय मोक्ष पावें हैं।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

अर्थ—जे पुरुष दर्शन विषैं भ्रष्ट हैं, बहुरि ज्ञान-चारित्र तें भी भ्रष्ट हैं ते पुरुष भ्रष्टनि विषैं भी विशेष भ्रष्ट हैं, ते आपतो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु आप सिवाय अन्य जन हैं तिनिकूं भी नष्ट करैं हैं।

भावार्थ—यहां सामान्य वचन है तातें ऐसा भी आशय सूचे है जो सत्यार्थ श्रद्धान ज्ञान-चारित्र तो दूरि ही रहो जो अपने मत (जैनधर्म) की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण तें भी भ्रष्ट हैं ते तो निरर्गल स्वेच्छाचारी हैं, ते आप भ्रष्ट हैं तैसें ही अन्य लोकन कूं उपदेशादिक करि भ्रष्ट करैं हैं तथा तिनिकी वृत्ति देखि स्वयमेव लोक भ्रष्ट होय हैं तातें ऐसे तीव्र कषायी निषिद्ध तिनकी संगति करना भी उचित नांहीं। (यह भावार्थ पं० जयचन्द जी ने लिखा है)

इससे बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी के समय भट्टारकों की भ्रष्ट लीला प्रारम्भ हो गई थी कि जिनकी धर्मविरुद्ध लीला से दुखी होकर ऐसे वेदनापूर्ण उद्गार श्री स्वामी जी को निकालना पड़े। जैसे कि-श्री आत्मानुशासन ग्रंथ में श्री गुणभद्राचार्य को

निकालना पड़े, कि-हाय-हाय इन्हें दण्ड देने वाला कोई नहीं जो कि श्रावकों को बैल की भांति नचाकर अपना स्वार्थ साधें हैं।

इन भट्टारकों का इतिहास पढ़ो तब आंसू आ जाते हैं कि इन्होंने कैसी २ तरकीबों से प्रतिमाओं का चमत्कार दिखा कर श्रावकों को ठगा व विपरीत श्रद्धान में फँसाया, ये जन्त्र, मन्त्र विद्याओं में इतने प्रवीण थे कि बेचारे भोले श्रावक श्राविकाएँ फँस ही जाते थे, वे देखने भरके स्त्रीविहीन, बाकी तो उनके राजाओं जैसे वैभव थे। रेशमी जरी जरकस के किनारीदार उनके वस्त्र, सैकड़ों हथियार, म्याने, पालकी, पहरेदार इत्यादि। श्रावकों को उनके म्याने पालकी में लगकर ले चलना पड़ता था व अँधश्रद्धालु श्रावक स्वयं लगते थे। कहां तो अपने जैनधर्म में गुरुओं का यह स्वरूप कि—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपो रक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

कहां भट्टारक जैसे कुगुरुओं की इतनी मान्यता? उस समय इनकी चलती कितनी न होगी जबकि विद्वानों का अभाव सा था। आज भी यदि उनका नमूना देखना है तो दक्षिण में मिलेगा। अभी भी म्याने पालकी में वे चलते हैं। मूलवद्री में जो रत्नों की प्रतिमा हैं, २७॥) देने पर उनका दर्शन कराया जाता है। जैनवद्री में भी रत्नों की प्रतिमा हैं, उनका बंधा नहीं, वे भट्टारक जी, धनी देख कर तय कर लेते हैं। तीर्थक्षेत्र कमेटी कई वर्षों से प्रयत्नशील है कि वहाँ के मन्दिर कमेटी के अधिकार में आजायें परन्तु सफलता नहीं पा रही है। मैं जब उनके पास ताड़-पत्र लिखे हुए ग्रंथों के देखने को गया तो जैन गुरु भट्टारक महोदय की साबुन सेफटीरेजर से दाढ़ी बन रही थी। दूसरे एक मन्दिर में एक मुनिराज विराजमान थे, जो मन्दिर के पास एक कमरा बनवा रहे थे। मैं अपने साथियों सहित उनके दर्शनों को गया तो धर्मोपदेश तो कुछ नहीं, हां चन्दा की लिस्ट सामने आ गई। मैंने कहा कि महाराज यह क्या? बोले; परोपकार है परोपकार। धन्य है इस पञ्चमकाल के परोपकार करने वाले मुनियों को और हमारी मान्यता को।

धर्मबन्धुओ! यह जो कुछ भी दिग्दर्शन किया गया है, निन्दा की दृष्टि से नहीं, एकमात्र वस्तुस्वरूप को समझने और समझाने की दृष्टि से। ध्यान रखिये कि मैं अजैन नहीं हूं कि जो जैनधर्म के प्रति निंदा की भावना से कुछ भी लिखा हो, केवल एक इस भावना से कि श्री जिनेन्द्र का शासन यथावत् जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यादि महान् आचार्यों ने ग्रन्थों में बताया है उसे समझें और उस पर चलकर आत्मकल्याण करें। क्योंकि मैं इस बात को भलीभाँति जानता हूं कि किसी एक व्यक्ति की निंदा करने में भी पाप का बंध होता है तो धर्म की निंदा करने में कितने महान् पाप का बंध न होता होगा। अतः जो कुछ भी लिखा है अथवा लिखूँगा एकमात्र जैनधर्म की पवित्रता के हेतु ही लिखूँगा। श्री जिनेन्द्रदेव इसके साक्षी हैं।

चैत्य का अर्थ आत्मा है, प्रतिमा नहीं

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने— बोधपाहुड़ में आठवीं गाथा विषैं चैत्य-आत्मा को कहा है प्रतिमा को नहीं, तथा चैत्यगृह सच्चे मुनि के शरीर को कहा है, प्रतिमा रखे जाने वाले स्थान— चैत्यालय अथवा जिनालय अथवा जिनमन्दिर को नहीं। जामें आपा पर का जानने वाला ज्ञानी निष्पाप निर्मल ऐसा चैत्य कहिये चेतना स्वरूप आत्मा बसै सो चैत्यगृह है, सो ऐसा चैत्यग्रह संयमी मुनि है।

तात्पर्य यह कि—अर्थ का अनर्थ बता कर प्रवृत्ति चल पड़ी है। चैत्य का अर्थ चेतना-स्वरूप आत्मा, जिनका अर्थ जो आत्मा सम्यक्त्वी होकर कर्मों को जीतने लगे, वास्तविक अर्थ यह है। जबकि लोग इस वास्तविक अर्थ को न जान कर मनमाना अर्थ करने लगे। यानी चैत्य मानें प्रतिमा और प्रतिमा का स्थान चैत्यालय (जिस मन्दिर में शिखर नहीं होती उसे चैत्यालय कहा जाता है) कहने लगे, जिन मानै जिनप्रतिमा और जिनप्रतिमा के स्थान को जिन-मन्दिर या जिनालय कहने लगे।

इसी विषय को ६वीं गाथा में और भी स्पष्ट किया गया है कि लौकिक जन चैत्यग्रह का स्वरूप अन्यथा माने हैं तिनकूं सावधान किया है-जो जिन सूत्र में छह काय का हित करने वाला ज्ञानमयी संयमी मुनि है सो चैत्यग्रह है। आगे जिनप्रतिमा का निरूपण करे हैं—

> सपराजंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं ।
> णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥१०॥
>
> जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
> सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

उपरोक्त इन दो गाथाओं में तो जिनप्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट आइने की भांति कह कर 'सा होई वंदणीया' ऐसी प्रतिमा वंदनीय है। जो दर्शन ज्ञान करि शुद्ध, निर्मल है चरित्र जिनकैं अपनी अर पर की चालती देह है सो जिनमार्ग विषैं जंगम प्रतिमा है। जो शुद्ध आचरण कूं आचरै बहुरि सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तु कूं जानै है बहुरि सम्यग्दर्शन करि अपने स्वरूप कूं देखै है ऐसैं शुद्ध सम्यक्त जाकैं पाइये है ऐसी संयम स्वरूप प्रतिमा है सो वंदिबे योग्य है। श्री कुन्दकुंद स्वामी ने वंदनीय प्रतिमा का जो वास्तविक स्वरूप था सो कहा; इसमें निश्चय और व्यवहार का कोई प्रयोजन ही नहीं। जैसे दश-दश मिल कर बीस ही होंय हैं, इसमें कोई भेद निश्चय और व्यवहार का नहीं। यदि श्री कुन्दकुन्द स्वामी को निश्चय और व्यवहार का कोई

भेद करना होता तो वे अपनी इस गाथा में तो यह कहते कि निश्चय में ऐसी प्रतिमा वंदनीय है तथा दूसरी गाथा व्यवहार में जिस तरह की प्रतिमा वंदनीय होती वैसा कथन कर देते।

कोई यह कहे कि-श्री कुंदकुंद स्वामी ने तो यह निश्चयनय का ग्रंथ रचा है। जो यदि यह केवल निश्चयनय का ही ग्रंथ होता तो फिर इसी ग्रंथ में चारित्रपाहुड़ में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं (दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास इत्यादि) का कथन क्यों करते ? अथवा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का जहां व्यवहार में मानने वाली प्रतिमा का कथन तो अवश्य ही कर देना था कि अव्रती श्रावक तथा प्रतिमाधारी व्रती श्रावकों को व्यवहार में धातु पाषाण की प्रतिमा वंदनीय है।

किन्तु जब मुनि के निश्चयरूप चारित्र में और श्रावक के व्यवहाररूप चारित्र में कोई रञ्च-मात्र कथन न तो प्रतिमा का और न उसकी अष्टद्रव्य से पूजन का ही मिलता है तब विचार होता है कि फिर किस आधार से इसे मान्य समझें ? और कुछ विचार करें।

कोई कहे कि यह तो अव्रति श्रावकों के लिये पहली सीढ़ी है तो भी आचार्यों के लिये इसका कथन पाक्षिक या नैष्ठिक श्रावकों के विधि विधान में अर्थात् उनके नियमों में-अष्टमूल गुणों में अथवा सम्यक्त्व के अष्ट अंगों में कहीं भी तो स्थान देते; सो स्थान तो दूर रहा गंध तक कहीं नहीं पाई जाती। तथा मान लो अष्ट द्रव्य से पूजन में श्रावक का द्रव्य की व्यवस्था में यथाशक्ति पांच दश या कितने भी जो खर्च हो जाते हैं वह खर्च चारों दान में से किसी दान में या पांचवां दान द्रव्यपूजादान ऐसा कुछ भी कहीं किसी भी दर्वाजे से प्रवेश कर जाते सो भी नहीं। सिद्धांत शास्त्रों में जहाँ तक देखते हैं चारों तरफ दर्वाजे बन्द पाए जाते हैं। कथा पुराणों की बात का सिद्धांतदृष्टि से यदि मिलान न बैठे तो कोई दर्वाजा माना नहीं जाता, यह सभी विद्वद्वर्ग जानते ही हैं। क्योंकि झाँसी में जब लगभग ३० वर्ष पहिले आर्यसमाज से अपने जैन विद्वानों का शास्त्रार्थ हुआ था तब अपने विद्वानों ने पहिले ही यह स्पष्ट कर दिया था कि शास्त्रार्थ में किन्हीं भी कथा ग्रंथों (प्रथमानुयोग के ग्रंथों) का प्रमाण न मानेंगे क्योंकि कथा ग्रंथों की सभी बातें सैद्धाँतिक नहीं होती हैं।

सिद्धप्रतिमा निरूपण—

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥१२॥
निरुवममचलमखोहा निम्मिवियाजंगमेण रूवेण।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥

अर्थ—जो अनन्तचतुष्टय युक्त है, शाश्वत अविनाशी सुख-स्वरूप है, अदेह है, अष्ट कर्मों से रहित है, तथा उपमारहित है, अचल है, अक्षोभ है, निश्चल है, जंगमरूप है अर्थात् अष्ट कर्मों से छूटने के पीछे लोक के अग्रभाग (मोक्ष) में जाय है इससे जंगमरूप कही, ऐसी प्रतिमा सिद्ध प्रतिमा है ऐसा जानना।

भावार्थ—पहले दोय गाथा में (१०-११ में) तो जंगम प्रतिमा संयमी मुनिनि की देह सहित कही, बहुरि इनि दोय गाथानि में थिर प्रतिमा सिद्धनि की कही, ऐसे जंगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कहा, अन्य कोई अन्यथा बहुत प्रकार कल्पैं हैं सो प्रतिमा वंदिवे योग्य नांही है।

जिनबिंब निरूपण—

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

अर्थ—जिनबिंब कैसा है— ज्ञानमयी है, संयमकरि शुद्ध है, अतिशय करि वीतराग है, जो कर्मक्षय का कारण अर शुद्ध है, ऐसी दीक्षा अर शिक्षा देय है। ऐसा आचार्य जिनबिंब है। जिन कहिये अरहंत, सर्वज्ञ का प्रतिबिंब कहिये ताकी जायगां तिसकी ज्यों मानने योग्य होय, ऐसे आचार्य हैं जो शिक्षा-दीक्षा भव्यजीवन कूं देय हैं. ऐसे आचार्य कूं जिनबिंब जानना। ऐसे जिनबिंब की पूजा करो। सो कुन्दकुन्द स्वामी कहे हैं—

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥१७॥

ऐसे पूर्वोक्त जिनबिंब कूं प्रणाम करो, सब प्रकार पूजा करो, विनय करो, वात्सल्य करो। काहे तैं—जाकै ध्रुव कहिये निश्चय तैं दर्शन ज्ञान पाइये है, और चेतना भाव है। तात्पर्य यह कि अरहंत के न होने पर उनका कार्य आचार्य करते हैं, इसलिये सच्चे आचार्य ही जिनबिंब हैं।

यहाँ गाथा नं० १८ में अरहन्तमुद्रा का निरूपण किया तथा १६ में जिनमुद्रा का निरूपण किया है, सो जानना।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेहि सुद्धसम्मत्तं।
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

अर्थ—जो तप, व्रत, उत्तरगुण से शुद्ध होय, सम्यग्ज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता हो व सम्यग्दर्शन से पदार्थनिकूं देखे, ऐसा शुद्ध सम्यक्त्वी आचार्य सो ही अरहन्त की मुद्रा है, जो कि दीक्षा शिक्षा देय है।

दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा ।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥१९॥

अर्थ—वज्रवत् संयम सहित होय, इन्द्रियां वशीभूत हों और कषायभाव न हों तथा ज्ञान स्वरूप आत्मा में लीनता-ध्यानस्थपना ऐसा मुनि होय सो ही जिनमुद्रा है ।

इस तरह चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, जिनबिंब, अरहन्तमुद्रा तथा जिनमुद्रा इन सबका ही वास्तविक स्वरूप श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कथन किया है । अतएव हम जबकि अपने को कुन्दकुन्दाम्नायी मानते हैं तब तो हमें इस तरह ही मानना चाहिये ।

अन्यथा इनका आम्नायी न मानकर जिन्होंने धातु-पाषाण की मूर्ति में ही जिनप्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, जिनबिंब, अरहन्तमुद्रा तथा जिनमुद्रा इन सबका स्वरूप बताया हो उनका ही आम्नायी मानना चाहिये । हम अपने को जिन का आम्नायी कहें और उनकी बात न मानें यह कैसे माना जा सकता है ?

१७वीं गाथा जिसमें जिनबिंब का स्वरूप आचार्य को कहा है उसमें प्रणाम करो, विनय करो, वात्सल्य (प्रेम) करो तथा 'सव्वं पुज्जं' यानी सब प्रकार से पूजो । यदि अष्टद्रव्य से पूजा कराना होती तो गाथा में यह शब्द होता कि 'अष्टद्रव्य पुज्जं' लेकिन उन्हें तो अष्टद्रव्य की पूजा से कोई प्रयोजन ही न था, पूजा का मतलब होता है कि उनके पूज्य गुणों में अर्थात् उत्तम गुणों में पूज्यभाव-भक्तिभाव रखना जो आचार्यों में सब तरह से पूज्यभाव यानी भक्तिभाव रखना, न कि अष्टद्रव्य से पूजा करना ।

प्रतिमा का दर्शन नहीं, शास्त्र स्वाध्याय ही सम्यग्दर्शन का मूल कारण है ।

श्री रयणसार जी गाथा १२३ में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने पात्रों के भेद कहे हैं—

अविरददेसमहव्वइ आगमरुइणं विचारतच्चण्हं ।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१२३॥

अविरत देश महाविरत, श्रुति रुचिरत्व विचार ।
पात्र नु अंतर सहस गुन, कहि जिनपति निरधार ॥

अर्थ—अविरतसम्यग्दृष्टि, देशव्रती-श्रावक और महाव्रतियों के भेद से आगम में रुचि

रखने वालों के भेद से भगवान जिनेन्द्रदेव ने हजारों प्रकार के पात्र बतलाये हैं।

सम्माइगुणविसेसं, पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं ।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि जिसमें सम्यग्दर्शन की विशेषता है उसी में पात्र पने की विशेषता समझना चाहिये। तात्पर्य यह कि भावों की अपेक्षा से पात्रों के हजारों भेद हो जाते हैं। जिसके जितने साधारण निर्मलभाव होंगे वह साधारण पात्र, जिसके जितने विशेष निर्मल-भाव होंगे वह विशेष पात्र होगा। इस तरह से हजारों भेद कहे हैं। जैसा जैसा सम्यग्दशन विशुद्ध होता जाता है वैसी वैसी ही पात्रता में विशेषता व निर्मलता आती जाती है।

इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती श्रावक व महाव्रती मुनि और आगम कहिये शास्त्र में रुचि रखने वाले इस तरह चार भेद के अन्तर्गत भावों की अपेक्षा पात्रों के हजारों भेद कहे हैं। इससे स्पष्ट है कि या तो श्री कुंदकुंद स्वामी के समय में मूर्ति की मान्यता ही न थी अन्यथा जैसे उन्होंने शास्त्र में रुचि रखने वालों को पात्रों की श्रेणी में बताया वैसे ही पांचवा नाम दिगम्बर मूर्तिपूजा व दर्शन करने वालों को भी पात्रों की श्रेणी में बताते, अवश्य ही बताते। या फिर यह कहा जा सकता है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मूर्ति के दर्शन पूजा करने तक पात्रों की श्रेणी में ही नहीं लिया, जब तक कि जो शास्त्र स्वाध्याय का रुचिवान न हो जाय, क्योंकि इसी ग्रंथ की गाथा नं० १५५ में कह चुके हैं कि ज्ञानाभ्यास ही सम्यग्दर्शन का मूल है और अन्त में भी गाथा नं० १६६ में कहा है कि—

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ, ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ ण हु पढइ ।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ, सो चेव हवेइ कुदिट्ठी ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इस ग्रन्थ को न देखता है, न मानता है, न सुनता है, न पढ़ता है, न चिंतवन करता है और न ही भावना करता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। अतएव-

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं ।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं ॥१६७॥

इसमें बताया कि—यह रयणसार ग्रन्थ सज्जनों द्वारा पूज्य है, आलस्य त्यागकर नित्य ही जो पढ़ता है, सुनता है तथा भावना करता है सो साश्वत स्थान (मोक्ष) को पाता है।

भावार्थ—इन दोनों गाथाओं का यह समझना चाहिये कि-रयणसार कहिये रत्नसार यानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों के (रत्नत्रय के) सार अर्थात् रहस्य या मर्म को बताने वाले जो ग्रन्थ जैनग्रन्थों को जो कि सज्जन कहिये धर्मात्मा पुरुषों द्वारा पूज्य हैं, मान्य

हैं, ऐसे सिद्धांत ग्रन्थों को जो आलस छोड़कर नित्य ही पढ़ते हैं, सुनते हैं, और भावना करते हैं अर्थात् तदनुसार प्रवृत्ति करते हैं, वे तो साश्वत स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं, मोक्षमार्गी हैं तथा जो उपरोक्त ऐसे सिद्धांत ग्रन्थों को जिनमें कि रत्नत्रय का सार है उनको न देखता है, न मानता है, न सुनता है, न पढ़ता है, न चिंतवन करता है और न भावना करता है वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा जानना।

हो सकता है कि इसलिये आगम शास्त्र का रुचिवान न होने तक मात्र मूर्तिदर्शन पूजन की श्रेणी वालों को पात्रों में सम्मिलित न किया हो। क्योंकि पात्र प्रकरण की गाथा १२० के बाद १२१ व १२२ में सम्यग्दर्शन वाले मुनियों का वर्णन किया और उन्हें विशेष पात्र कहा है। जबकि गाथा १२२ के चौथे चरण (अन्त में) यह भी कहा है कि-'ते गुण हीणो दु विवरीदो' जिस मुनि में ये ऊपर कहे हुए गुण नहीं हैं वह उससे विपरीत अर्थात् अपात्र है। तो जबकि गुण-हीन मुनि को भी श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने पात्र न मानकर अपात्र कहा तब गुणहीन श्रावकों को वे कैसे पात्रश्रेणी में मान लेते? क्योंकि उनकी मान्यता तो अव्रतसम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रती मुनि और आगम-शास्त्र का रुचिवान, इनको पात्र मानने की थी।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने जो रयणसार जी ग्रंथ में गाथा १२३ में जो आगम रुचिवान को पात्र कहा जबकि औरों को नहीं यानी, आगम रुचिवान न हो मात्र मूर्ति का दर्शन पूजन अथवा केवल बहिरात्मभावों से श्रावक व मुनि तक के क्रियाकाण्डी को भी पात्रश्रेणी में नहीं लिया जो इस विचार से ठीक भी बैठता है कि पात्र उसे ही माना जाता है जिसके परिणाम निर्मल रहते हों अथवा बहिरात्मभाव जनित मलिन-राग, द्वेष, मोह, कषाय, विषय, पंचपाप जोकि असंयम के कारण हैं, उन्हें शास्त्र स्वाध्याय करते हुए कम करने में प्रयत्नशील होकर निर्मल परिणामों की ओर अग्रसर हो रहा हो, कि जो परिणाम इस जीव को मिथ्यात्व गुणस्थान से निकाल कर चतुर्थ गुणस्थान में पहुँचा कर अव्रतसम्यग्दृष्टि बना देते हैं। अतएव शास्त्र स्वाध्याय करने पर ही यह जीव पात्र बन सकता है, बिना शास्त्र स्वाध्याय के नहीं। क्योंकि यह निश्चित है कि—शास्त्र में रुचि रख कर स्वाध्याय करने वाले के परिणामों में अवश्य ही निर्मलता आती ही है। जबकि मात्र क्रियाकांड-दर्शन, पूजन, इकात, उपवासादि व्रतों को करने वालों में निर्मलता तो दूर रही कठोर परिणामी ही पाये जाते हैं चाहे वे दि० जैन अथवा तारणपंथी कोई भी क्यों न हों। श्री कुन्दकुन्द स्वामी गाथा ९७ में कहते हैं कि—हे मुमुक्षु!

पावारंभणिवित्ती, पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं, जिणभणियं सव्वजीवाणं ॥९७॥

अर्थ—पापकार्य की निवृत्ति और पुण्यकार्यों में प्रवृत्ति का मूलकारण एक सम्यग्ज्ञान है।

इसलिए मुमुक्षु जीवों के लिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है, जो सम्यग्ज्ञान एकमात्र रुचिपूर्वक शास्त्रस्वाध्याय करने से ही होता है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान (स्वाध्याय) से तत्व-अतत्व, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, हित-अहित, योग्य-अयोग्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, ग्राह्य और अग्राह्य का बोध होता है। भव्यजीव सम्यग्ज्ञान से-अर्थात स्वाध्याय करने से अपनी आत्मा का शुद्धस्वरूप विचार कर अपने आत्मपरिणामों (समतादि गुणों) के सिवाय परपदार्थों में राग, द्वेष, मोह नहीं करते हैं और न विषय कषायों की सिद्धि के लिये इष्टानिष्ट बाह्य परपदार्थों में शुभाशुभ-संकल्प विकल्प ही करते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञानी पुरुष की (जिसने कि शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा पाप पुण्य इत्यादि कर्मों के बन्ध व उनके अच्छे बुरे फल और संसार, शरीर, भोगों के स्वरूप को तथा चारों गति के सुख दुःखादि को भलीभांति से जान लिया हो और स्वाध्याय करते हुए विशेष जानने में प्रयत्नशील रहता हो ऐसे आगम के रुचिवान पुरुष की) स्वाभाविक स्वयमेव ऐसी विशुद्ध परणति हो जाती है कि जिससे उसकी हिंसादिक पापकार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती है। वह पुण्योत्पादक शुभ चरित्र की निरन्तर प्रवृत्ति करता रहता है इसीलिए सम्यग्ज्ञान से जीवों के भावों में साम्यभाव की स्थिरता प्रगट होती है। राग द्वेषादि विकारभाव रहित साम्य अवस्था ही धर्मध्यान है। सम्यक्चारित्र भी सम्यग्ज्ञान से ही होता है इसलिए सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान है। क्योंकि सम्यक्चारित्र के अभ्यास के बिना धर्मध्यान कदापि नहीं होता है। सम्यक्चारित्र (साम्यभाव-समताभाव) की प्राप्ति ही धर्मध्यान का सच्चा स्वरूप है ऐसा जानना। श्रावक तो क्या यदि मुनि भी अच्छी तरह से जिनागम कहिये शास्त्रों का अभ्यास नहीं करता है और बिना जिनागम के अभ्यास के ही तपश्चरण करता है, वह अज्ञानी है और संसारिक सुखों में लीन है ऐसा समझना चाहिये। जिनागम के अभ्यास से ही भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध होता है इसलिये जिनागम का अभ्यास ही भावश्रुत और द्रव्यश्रुत का प्रधान कारण है। जिन भव्य यतीश्वरों को जिनागम के अभ्यास द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है वे ही सम्यक् तपश्चरण कर कर्मों का नाश करके मोक्षसुख के अधिकारी होते हैं। यह सब श्री रयणसार जी ग्रंथ की ६८ मीं गाथा का अर्थ है।

सुदणाणब्भासं जो कुणई सम्मं ण होइ तवयरणं।
कुव्वं जइ मूढमइ संसारसुखाणुरत्तो सो ॥९८॥

तात्पर्य यह कि—सभी आचार्यों का एक यही मत पाया जाता है कि-शास्त्र के अवलम्बन से ही ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान से सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्र-तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है। अतः आज्ञासम्यक्त प्राप्ति हेतु शास्त्रस्वाध्याय अनिवार्य है।

तीर्थंकर के शरीर अथवा पुण्य वैभव की स्तुति तीर्थंकरों की स्तुति नहीं।

तीर्थंकर—

जाके देह द्युति सों दसों दिशा पवित्र भई, जाके तेज आगे सब तेजवंत रुके हैं।
जाको रूप निरखि थकित महा रूपवंत, जाके वपु वासमौं सुवास और लुके हैं॥
जाकी दिव्यध्वनि सुनि श्रवण कों सुख होत, जाके तन लछन अनेक आय ढूके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन, निहचै निरखि सुद्ध चेतन सों चूके हैं॥२५॥

(जीवद्वार)

जिनराज का यथार्थरूप—

जिनपद नाहिं शरीर को, जिनपद चेतन मांहिं।
जिनवर्णन कछु और है, यह जिनवर्णन नांहिं॥२७॥

जामें बालपनो, तरुनापो, वृद्धपनो नांहिं, आयु परजंत महारूप महाबल है।
बिना ही यतन जाके तन में अनेक गुन, अतिसै विराजमान काया निरमल है॥
जैसें विनु पवन समुद्र अविचल रूप, तैसे जाको मन अरु आसन अचल है।
ऐसो जिनराज जयवंत होउ जगत में, जाके शुभगति महां सुकृति को फल है॥२६॥

धातु-पाषाण की मूर्ति की स्तुति, पूजा व्यवहारस्तुति तथा साक्षात् भगवान तीर्थंकर की स्तुति-पूजा निश्चयस्तुति पूजा नहीं है। यह उपरोक्त बताई हुई स्तुति व्यवहारस्तुति है, जबकि निश्चयस्तुति आगे कहेंगे। यानी समयसारजी ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्द स्वामी के कहे अनुसार 'नाटक समयसार जी' में बनारसीदास जी कहते हैं कि—

यद्यपि शरीर को जिनपद नहीं है, जिनपद तो चेतन आत्मा में है। हे तीर्थंकर भगवान! फिर भी आपकी स्तुति हमारे लिये सुकृत पुण्यफल देने वाली है। यद्यपि यह मैं जानता हूँ कि आपके शरीराश्रित जितने भी गुणों की महिमा है उस महिमा की स्तुति से जिनस्तुति न होगी क्योंकि जिनगुण वर्णन तो कुछ और ही है कि जिसका सब सम्बन्ध आपकी आत्मा से है, शरीर से नहीं। तात्पर्य यह कि साक्षात् तीर्थंकर भगवान के सामने प्रत्यक्ष में या परोक्ष में उनके शरीराश्रित गुणों की महिमा का-समोशरण की महिमा का वर्णन भक्तिभाव से करना व्यवहार-स्तुति करना है और उनकी आत्मा के अनन्त चतुष्टय गुणों की स्तुति निश्चयस्तुति है।

ऊँचे ऊँचे गढ़ के कंगूरे यों विराजत हैं, मानौ नभलोक गीलवे कों दांत दियो है।
सोहै चहुँओर उपवन की सघनताई, घेरा करि मानो भूमिलोक घेर लियो है॥

गहरी गंभीर खाई ताकी उपमा बताई, नीचो करि आनन पाताल जल पियो है ।
ऐसो है नगर यामें नृप कौ न अंग कोउ, यों ही चिदानन्द सों शरीर भिन्न कियो है ॥२८॥

इसमें बताया है कि–जैसे इतना शोभायमान गढ़ व नगर का वर्णन करने पर भी इसमें राजा का बिल्कुल ही वर्णन न हुआ–ठीक इसी प्रकार श्री तीर्थंकर भगवान के शरीर तथा समोशरण की चाहे जितनी महिमा का वर्णन व स्तुति करो, इसमें उनकी आत्मा की जो वास्तव में भगवान है और जिस आत्मा को सिद्धपद पाना है उसकी रञ्चमात्र भी स्तुति न होगी । तात्पर्य यह कि जब साक्षात् तीर्थंकर के शरीर की स्तुति करने पर भी भगवान की स्तुति न कहलाई तब प्रतिमा को अवलोकन करते हुये स्तुति करने पर भगवान की स्तुति कैसे मानी जा सकती है । अतः भगवान की सच्ची स्तुति कैसे होगी ? इसे बताते हैं ।
तीर्थंकर के निश्चयस्वरूप की स्तुति—

जामें लोकालोक के सुभाव प्रतिभासे सब, जगी ज्ञानशक्ति विमल जैसी आरसी ।
दर्शन उद्योत लियौ अंतराय अन्त कियौ, गयौ महामोह भयौ महाऋषी ॥
सन्यासी सहज जोगी जोग सों उदासी जामें, प्रकृति पचासी लग रहीं जरि छारसी ।
सोहै घट मन्दिर में चेतन प्रकट रूप, ऐसौ जिनराज ताहि वन्दत बनारसी ॥२९॥

हे तीर्थंकर भगवान ! आपकी जिस आत्मा में इतने गुणों का प्रकाश हो गया है, ऐसी जो आपकी आत्मा चेतनरूप आपके घट में प्रगट होकर शोभायमान हो रही है उस जिनराज स्वरूप आपकी आत्मा की मैं बनारसीदास वन्दना करता हूँ ।

भव्यो ! सच्ची वन्दना भगवान की यह है । समझो कि–भगवान का शरीर भी भगवान नहीं है, उनकी आत्मा ही भगवान है, उस आत्मा की वन्दना करो। अब आप विचार करो कि आत्मा की क्या कोई मूर्ति बन सकती है ? नहीं बन सकती। वन्दना का अर्थ है विनय भक्ति–पूर्वक गुणानुवाद गाना। क्या गुणानुवाद गाने में उन गुणों को अथवा उन गुणों वाले भगवान के सामने होने की आवश्यकता है कि जब वे सामने ही बैठे हों तब गुणानुवाद गाये जा सकते हैं ? नहीं, वे अरहन्त भगवान जब समोशरण में विराजमान थे, तब सामने पहुँचकर सभी मानव, देव उनकी भक्ति करते करते हुए गुणानुवाद गाते थे, अब वे सिद्ध होकर मोक्ष पधार गए, तो हम आप उनके गुणानुवाद गाते रहें, यही हमारा कर्तव्य है । क्या गुणों की मूर्ति बन सकती है ? नहीं बन सकती है ।

तात्पर्य यह है कि न मूर्ति बन सकती है और न मूर्ति की कोई आवश्यकता ही है । देखिये नाटक समयसार में स्पष्ट कहा है कि—

तन चेतन विवहार एक से, निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ ।
तन की थुति विवहार जीव थुति, नियत दृष्टि मिथ्या थुति सोइ ॥
जिन सो जीव, जीव सो जिनवर, तन जिन एक न मानै कोइ ।
ता कारन तन की संस्तुति सों, जिनवर की संस्तुति नहिं होइ ॥३०॥

इसका सब भावार्थ तो आप समझ ही गये होंगे, देखिए इसमें यह खुलासा कहा है कि 'नियत दृष्टि मिथ्या थुति सोइ' इसका अर्थ है कि निश्चयदृष्टि से तन की स्तुति करना मिथ्या-स्तुति है अर्थात् तन की स्तुति करने से जिनवर की स्तुति नहीं होती। समयसार की मूलगाथायें व उनकी भाषा टीका—

इण मण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥
तं णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीर गुणाहि होंति केवलिणो ।
केवलि गुणो थुणदि जो सो तच्च केवलिं थुणदि ॥२९॥

अर्थ—जीव से भिन्न इस पुद्गलमयी देह की स्तुति करके साधु असल में ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वंदना की ॥२८॥ वह स्तवन निश्चय (वास्तव) में ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के गुण केवली के नहीं। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वही परमार्थ से केवली की स्तुति करता है ॥२६॥

अत: अब हम आचार्य वाक्यों को मानें या संसार की अपनी २ मनगढ़ंत बातों को। बहुत से भाई कहते हैं कि बालकों को जिस तरह प्रथम कक्षा में आ मानै आम, इ मानै इमली, पढ़ाई जाती है इसी तरह सर्व प्रथम हमें-पहली कक्षा की तरह प्रतिमापूजन कही गई है। जो सबसे पहिले यह बताओ कि कौन से ग्रंथ में यह बात कही है, तथा बालकों को आ माने आम इ माने इमली एक दिन ही पढ़ाया जाता है या जन्म भर। अथवा क्या आप ऐसा मानते हैं कि एक जन्म में पहली कक्षा और दूसरे जन्म में दूसरी, इस तरह से धीरे धीरे ५०, १०० जन्मों में हम केवलज्ञानी हो जावेंगे, तो क्या आपकी हमारी सब की यह मनुष्य पर्याय पहली हो है या अनन्त बार मिल चुकी, और यदि इसके पहिले भी अनेक बार मनुष्य पर्याय और जैनधर्म मिल चुका तो फिर अब तो सबसे ऊंची कक्षा में होना था? अथवा क्या ऐसा मानते हो कि जिस तरह यह मनुष्य पर्याय तथा जैनधर्म अभी मिला है इसी तरह लगातार मिलता जायगा? अतएव यह कहना बिल्कुल नहीं बनता कि पहली कक्षा है। हां, यदि ऐसा भी दिखाई देता कि चलो कुछ अनपढ़ बालक बालिकायें पहिली कक्षा की भाँति प्रतिमा पूजते हैं और जो बिल्कुल ही अबोध छोटे छोटे बच्चे हैं वे मात्र दर्शन ही करते हैं बाकी तो सब आगे की कक्षाओं में आ चुके हैं सो भी नहीं।

कोई कहते हैं कि अवलम्बन तो होना ही चाहिये। तो क्या वर्तमान में देश विदेश की संख्या लगभग दो अरब है यानी (दो सौ करोड़) जिसमें ७५ फीसदी से १॥ अरब यानी (डेढ़ सौ करोड़) मनुष्य अमूर्ति-पूजक हैं और २५ फीसदी मनुष्य मूर्ति-पूजक हैं तो क्या अमूर्ति-पूजक डेढ़ अरब बिना अवलंबन के भगवान की भक्ति पूजा-गुणानुवाद नहीं कर पाते होंगे ?

आप कहें सब संसार की और सब धर्मों की बातों से हमें क्या करना है, हमें तो अपने ही जैनधर्म से मतलब है, तो सुनिये कि अपना जैनधर्म भी क्या कहता है—

दोहा—तजि विभाव हूजे मगन, शुद्धातम पद मांहि।
एक मोक्षमारग यहै, और दूसरो नांहिं ॥११८॥
जे विवहारी मूढ़ नर, पर्यय बुद्धी जीव।
तिनकें बाह्य क्रिया ही को, है अवलम्ब सदीव ॥१२१॥

उपरोक्त दोनों दोहों का अर्थ समझ में आ ही गया होगा, कि बाह्य क्रियाओं के अवलंबन से कदापि मोक्षमार्ग नहीं बनता जब तक कि शुद्धात्मानुभव न किया जाय। यदि कदाचित् हममें इतनी योग्यता नहीं कि आत्मानुभव कर सकें तो हमें भगवान के अनंतचतुष्टयरूप गुणों की आराधना करना चाहिये न कि उनके शरीर और शरीर की प्रतिमा की।

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥ पं० आशाधर कृत श्रावकाचार

अर्थ—जो भक्तिपूर्वक शास्त्र की पूजा करते हैं, वे मानो नियमपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की ही पूजा करते हैं। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान ने शास्त्र और देव में निश्चय करके कुछ भी भेद नहीं कहा है। यदि कदाचित् ऐसी भावना रहती हो कि समोशरण में पहुँचकर भगवान की वाणी सुनते और उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करते तो आचार्य कहते हैं कि हे भव्यो ! शास्त्र की भक्तिपूर्वक पूजा करो क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेव में और शास्त्र में जबकि कुछ भी भेद नहीं और शास्त्रों में ही भगवान की वाणी का उपदेश भी मिलता है तब एक पंथ दो काम पूरे होते हैं। यह भी ध्यान रहे कि भक्तिपूर्वक पूजा का अर्थ यह जानना कि भक्तिभाव सहित शास्त्रों के उपदेश को सुनना और शक्ति अनुसार पालन करना, यथायोग्य उनकी विनय करना, विनयपूर्वक उठाना रखना, न कि अष्टद्रव्य से पूजा करना। इसी सम्बन्ध में और भी कहते है कि—

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणिः।
तद्वाचः परमासतेऽत्र अधुना साक्षाजिनः पूजितः ॥
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनम्।
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥

अर्थ—यद्यपि इस समय कलिकाल में तीन लोक के पूजनीक केवली भगवान विराजमान नहीं हैं तो भी इस भरतक्षेत्र में समस्त जगत को प्रकाश करने वाली उन केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार श्रेष्ठ रत्नत्रय के धारी मुनि हैं, इसलिये उन मुनियों की पूजन तो सरस्वती की पूजन है तथा सरस्वती (जिन-वाणी) की पूजन साक्षात् केवली भगवान की पूजन है। इस तरह जबकि श्री जिनवाणी (सरस्वती) को साक्षात् केवली भगवान की प्रतिमा बनावें। क्या हमें इन आचार्य वचनों पर विश्वास न करना चाहिये ? आचार्य वचनों के साथ साथ स्वयं के अनुभव से भी यह बात बिल्कुल ही ठीक बैठती है कि वर्तमान में एकमात्र जिन-वाणी ही हमारी आत्मा का कल्याण करने में भगवान की तरह सामर्थ्यवान है।

बहिरात्मभावों के त्यागने पर ही कल्याण होता है

किं बहुणा हो तजि बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४१॥

अर्थ—बहुत क्या कहें कि-बहिरात्मस्वरूप वाले जितने भाव हैं उन सबको छोड़ देना चाहिये और अन्तरात्मा तथा परमात्मापने के यथार्थ स्वभाव को ग्रहण करना चाहिये—अपनाना चाहिये। इसी के आगे की गाथा १४२, १४३ में यह स्पष्ट किया है कि—बहिरात्मा जीवों के जो भाव होते हैं वे चारों गतियों में परिभ्रमण कराने के कारण होते हैं और अनेक महादुःख देनेवाले होते हैं, तथा अंतरात्मा और परमात्मापने के जो वास्तविक-भाव होते हैं वे मोक्षगति में पहुँचाने के कारण होते हैं और अतिशय पुण्य के कारण होते हैं।

गाथा १४६ में बताया कि—१, २, ३ गुणस्थान वाले बहिरात्मा तथा चौथे गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं व ५वें से ११वें गुणस्थान वाले मध्यम तथा १२वें गुणस्थान के उत्तम अन्तरात्मा हैं तथा १३वें १४वें के सकल तथा सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं ऐसा जानना। आगे गाथा १५१ में कहा कि—बहुत कहने से क्या लाभ ? थोड़े में ही यह समझ लेना चाहिये कि भगवान अरहंत और सिद्ध परमात्मा जो देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और गणधर देवा-दिकों द्वारा पूज्य हुए हैं सो सम्यग्दर्शन प्रत्येक भव्यजीव को धारण करना कर्तव्य है।

उवसमई सम्मत्तं, मिच्छत्त बलेण पेल्लए तस्स।
परिवट्टंति कसाया, अवसप्पिणिकालदोसेण ॥१५५॥

अर्थ—इस अवसर्पिणीकाल में इस काल के दोष से मिथ्यात्वकर्म का तीव्र उदय उप-

शम सम्यक्त को नाशकर देता है तथा कषायों की वृद्धि अधिक होती है, और मिथ्यात्व का प्रबल उदय रहता है जिससे उपशम सम्यक्त भी हो नहीं सकता, और यदि होता है तो शीघ्र नष्ट हो जाता है। फिर भी हार न मानकर दृढ़तापूर्वक इसे प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि यह मनुष्य जन्म कठिनता से मिला है।

अतएव श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने एकमात्र यही मार्ग आत्मकल्याण का बताया है—

णाणेण झाणसिद्धी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१४५॥

अर्थ—आत्मज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है तथा समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये भव्यजीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये सबसे पहले ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये।

यही कारण है कि श्री तारण स्वामी ने बहिरात्मापने के अवलम्बनों से छुड़ाकर अन्तरात्मा बनने के लिये एकमात्र शास्त्रमनन के द्वारा ज्ञान का अभ्यास करने के लिये श्रावकों को शास्त्रों का अवलम्बन कराया और बताया कि आत्मकल्याण के लिये सर्वप्रथम सर्वश्रेष्ठ और समर्थ कारण यदि कोई अवलम्बन है तो ज्ञानाभ्यास के मूल कारण शास्त्र हैं और शास्त्र ही सम्यक्त प्राप्ति के लिये प्रथम सीढ़ी। कहां और क्या अन्तर रह गया श्री कुंदकुंदादि आचार्यों में और श्री तारण तरणाचार्य में ?

मैं तो कहूँगा कि समस्त जैनग्रंथों का दोहन करके श्री तारण स्वामी ने सबका सार अपने ग्रंथों में भर दिया है यदि कोई निष्पक्ष दृष्टि से देखे तो सच्ची कुंदकुंदाम्नाय उसे श्री तारणस्वामी के ग्रंथों में मिलेगी।

ध्यान रहे उपरोक्त गाथा नं० १४५ का कथन श्रावक के लिए ही किया गया है क्योंकि गाथा नं० १५३ और १५४ में श्रावक की ५३ क्रियाओं का क्रम से वर्णन चल रहा है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने जिस तरह श्रावकों को श्रावक धर्म के लिये सर्वप्रथम ज्ञानाभ्यास करने का उपदेश किया है उसी तरह आगे गाथा नं० १५६ में मुनि के लिये भी श्रुतभावना अर्थात् शास्त्राध्यन करते रहने का उपदेश किया है इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि गाथा नं० १५५ श्रावकों को तथा गाथा नं० १५६ मुनियों के लिये कही गई है। आगे गाथा १६० में कहा कि कोई चाहे जैसा विद्वान् क्यों न हो तथापि बिना सम्यग्दर्शन के उसे अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है, संसार से पार कर देनेवाला एक सम्यग्दर्शन ही है, सम्यग्दर्शन के सिवाय अन्य किसी से भी मोक्षसुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कालदोष से जैनधर्म में भी अनेक मतभेद हो गये

हम तो भगवान जिनेन्द्रदेव महावीर स्वामी से प्रार्थना करते हैं कि सम्यक्त वाली सच्ची समझी हुई बात को मानने और उस पर चलने का बल हम सब को प्रदान करें, चाहे कोई कितना भी विरोध क्यों न करे, क्योंकि यह मनुष्य जन्म, उत्तमकुल, उत्तमक्षेत्र तथा सर्वोत्तम जैन धर्म बड़े भाग्य से मिला है कि जैसे समुद्र में डूबी हुई राई फिर से मिल जाय ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत अष्टपाहुड़ है, जिसमें सर्वप्रथम दर्शनपाहुड़ कहा क्योंकि 'दसण मूलो धम्मो' दर्शन ही धर्म का मूल है। इस प्रथम दर्शनपाहुड़ की २९वीं गाथा में कहा है कि जो चौंसठि चमरनि करि सहित हैं, बहुरि चौंतीस अतिशय करि सहित हैं, बहुरि निरन्तर बहुत प्राणीनिका हित जाकरि होय है ऐसे उपदेश के दाता हैं, बहुरि कर्म के क्षय का कारण हैं, ऐसे तीर्थंकर परमदेव हैं, ते वंदिवे योग्य हैं। अब यहीं पर यह विचारना है कि यदि उस समय प्रतिमा होती तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य बराबर इसी प्रसंग में यह लिख देते कि और जब कि आज इस पंचम काल में ऐसे श्री तीर्थंकरदेव नहीं हैं तो उनकी प्रतिमा वंदिवे योग्य है; लेकिन यह पूरे ग्रन्थ में कहीं नहीं लिखा, प्रत्युत गाथा ३५ में और भी यह स्पष्ट किया है कि—

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो ।
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥

विहरति यावज्जिनेन्द्रः सहस्राष्टसुलक्षणैः संयुक्तः ।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥३५॥

अर्थ—केवलज्ञान भये पीछें जिनेन्द्र भगवान जब तक आर्यखण्ड में बिहार करें तब तक तिनकी प्रतिमा कहिये शरीर सहित प्रतिबिंब तिसकूं 'थावर प्रतिमा' ऐसा नाम कहिये ।

भावार्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव जब तक १००८ सुलक्षणों सहित और चौंतीस अतिशय युक्त विहार करें उन्हें स्थावर प्रतिमा कहा है ।

इससे यह स्पष्ट झलकता है कि शायद उस समय जबकि श्री कुन्दकुन्द स्वामी थे बौद्ध या हिन्दूधर्म में प्रतिमा चल पड़ी होगी उसी के समाधान में यह सोचकर कि कहीं हमारे जैनधर्म में ऐसी प्रतिमा (धातु पाषाण की) न चल जाय, श्री कुन्दकुन्द स्वामी को यह लिखना पड़ा कि भगवान जब तक स्वयं रहते हुए विहार करते हैं तब तक वे ही अर्थात् उनका शरीर ही स्थावर प्रतिमा है ।

कुन्दकुन्द स्वामी का समय कोई पहली, कोई तीसरी और पांचवीं तथा कोई ७वीं ८वीं शताब्दि मानते हैं और यह प्रतिमा प्रथा जैनसमाज में ७वीं ८वीं शताब्दि से चली है ऐसा अनुभवी

जैन विद्वानों का मत है। क्योंकि एक दफा श्री फूलचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री महोदय ने मुझे बताया था कि प्रतिमा का प्रचार ७ वीं ८ वीं शताब्दि से ही हुआ है जो एक ऐसा अनुभव श्री कुंदकुंद स्वामी की इस गाथा ३५ से झलकता है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी का समय ७ वीं ८ वीं शताब्दी ही है और उस समय भट्टारकों द्वारा यह बात प्रतिमा प्रथा की उठाई गई हो जो कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी को मान्य न हुई हो और उन्होंने स्पष्ट करने के लिये यह श्लोक नं० ३५ का लिख दिया हो। इतना ही नहीं आगे इसी षट्पाहुड़ या अष्टपाहुड़ ग्रन्थ में जो चौथा बोधपाहुड़ है उसमें तो बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया कि आयतन, सिद्धायतन, चैत्यग्रह, प्रतिमा, सिद्धप्रतिमा किसे कहते हैं ? तथा दर्शन का स्वरूप क्या है ? जिनबिंब का क्या स्वरूप है ? कसे जिनबिंब की पूजा करना चाहिए ? अरहन्तमुद्रा किसे कहते हैं ? ज्ञान का स्वरूप क्या है ? देव का स्वरूप क्या है ? सच्चे तीर्थ कौन और क्या २ हैं ? कि जिनसे कल्याण होता है।

इस तरह १-आयतन, २-चैत्यग्रह, ३-जिनप्रतिमा, ४-दर्शन, ५-जिनबिंब, ६-जिनमुद्रा, ७-ज्ञान, ८-देव, ९-तीर्थंकर, १०-अरहन्त तथा ११-विशुद्धप्रवज्या, जैसे अरहन्त भगवान ने कहे तैसे इस ग्रन्थ (अष्टपाहुड़ विषैं चौथे बोधपाहुड़) में ग्यारह स्थल कहे हैं। क्योंकि कालदोष तैं अनेक मत भये हैं तथा जैनमत में भी भेद भये हैं तिनमें आयतन आदि (उपरोक्त ग्यारह बातों) में विपर्यय (विपरीत) भया है, इनका परमार्थभूत (कल्याणस्वरूप) सांचा स्वरूप तो लोक जानै नाहीं अर धर्म के लोभी भये जैसो बाह्यप्रवृत्ति (लोकरूढ़ि) देखें तिसही में प्रवर्तने लगि जांय, तिनकूं सम्बोधने अर्थि यहु बोधपाहुड़ रच्या है तामें आयतन आदि (उपरोक्त) ग्यारह स्थानकनि (बातों) का परमार्थभूत सांचा स्वरूप जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा है तैसा कहेंगे तथा अनुक्रम तैं इनका व्याख्यान करेंगे सो जानने योग्य है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस तरह के उपरोक्त सब विचार कि जिनका स्पष्टीकरण श्री पं० जयचन्द जी छावड़ा जयपुर निवासी ने १९ वीं शताब्दि में तथा इसके पहिले श्री श्रुतिसागर जी सूरि ने किया है कि जिन स्वर्गीय पं० जयचन्द्र जी का पाण्डित्य हरएक विषय में अपूर्व था, जानकर बिल्कुल यह समझा जाता है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ७ वीं ८ वीं शताब्दि में हुए हैं जब कि भट्टारकों द्वारा जिनप्रतिमा, जिनबिंब, सिद्धप्रतिमा तथा दर्शन, पूजा सम्बन्धी विवाद चल पड़ा था और जिस विवाद का निराकरण (खण्डन) करने को उन्हें इतना लिखना पड़ा। परन्तु उस समय ७ वीं ८ वीं शताब्दि में आज की तरह के आने जाने के तो कोई साधन न थे और न तार टेलीफोन थे कि एक श्री कुन्दकुन्द स्वामी सब भट्टारकों के इस स्वार्थपूर्ण वातावरण या प्रणाली को खत्म कर देते। अत: यत्रतत्र दूरदेश उनके समय में ही अथवा उनके स्वर्गगमन बाद भट्टारकों ने अपनी मनमानी यह प्रथा चला दी, जो चल पड़ी सो चल पड़ी। परन्तु जबकि हम

अपने को श्री कुन्दकुन्दाम्नायी तेरहपंथी दिगम्बर जैन मानते हैं तो उनके ही शास्त्रों की बात मानना चाहिये; वह चीज जो कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने सची और कल्याण करने वाली जिस तरह से बताई हो उसी तरह से मानना ही उनका आम्नायी कहला सकता है अन्यथा नहीं। हाँ, श्री कुन्दकुन्द स्वामी के रचे हुए जो-समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, अष्टपाहुड़, द्वादशानुप्रेक्षा यह सात ग्रंथ देखने में आते हैं जो यह सभी छप भी गये हैं, यदि इनमें कहीं भी प्रतिमा पूजन या दर्शन का उल्लेख हो तो बराबर सबको मान्य करना चाहिये।

श्री तत्वार्थसूत्र जिसे जैन समाज सुनने भर से ही महान-पुण्य व एक उपवास का फल मानती है उसमें भी प्रतिमा का कोई जिक्र हो या समर्थन हो तो बताइए और मानिये। इसी तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत टीका जोकि बाबू जगरूपसहाय एटा वालों ने १८ वर्ष में लिखी है, जिसका मूल्य उस सस्ते समय में २५) था जो अब तो १००) होगी, उसमें कहीं जिक्र हो तो देख लीजिये। उन्होंने तो हमारे सामने अच्छे बड़े बड़े विद्वान् श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री, श्री पं० वंशीधर जी सिद्धांतशास्त्री आदि अनेक विद्वानों से भरी सभा में वि० सं० १९८८ में कहा था कि जो यह कहा जाता है कि नन्दीश्वर द्वीप में अकृतिम चैत्यालय व प्रतिमा हैं यह बात बिल्कुल असत्य और निराधार है, सिद्धांतशास्त्रों में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। और बुद्धि से विचारो तो अकृतिम प्रतिमायें हो ही नहीं सकती, क्योंकि भगवान की प्रतिमा इससे यह स्पष्ट हुआ कि पहिले भगवान हुए, तब बाद में उनकी प्रतिमा बनी, तब बताइए कि वह अकृतिम कहां रही, यह समझ लेना तो बिल्कुल मोटी बात है, हर कोई साधारण आदमी भी समझ ले।

एक कुन्दकुन्दाचार्य ही नहीं और भी किन्हीं प्रामाणिक आचार्यों के सिद्धांत ग्रंथों में जब यह प्रतिमापूजन नहीं मिलती है अथवा श्री तारण स्वामी को नहीं मिली तभी उन्होंने इसे अमान्य किया।

स्वाध्याय का माहात्म्य ही सर्वोपरि है

अज्झयणमेव झाणं पंचेदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो ॥९५॥

अर्थ—प्रवचनसार (जिनागम) का अभ्यास, पठन-पाठन, चिंतवन-मनन और वस्तुस्वरूप का विचार ही ध्यान है। जिनागम के अभ्यास से ही इन्द्रियों का निग्रह, मन का वशीकरण और कषायों का उपशम होता है, इसलिये पंचमकाल में भरतक्षेत्र में एक जिनागम का ही अभ्यास करना

श्रेष्ठ है। कर्मों के नाश करने का यही मूल कारण है कि स्वाध्याय करना।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान का प्रणीत सत्यार्थ का प्रकाश करने वाला आगम है। जिनागम के अभ्यास से भावश्रुत और द्रव्यश्रुत की प्राप्ति के साथ मन और इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह होता है और विषय-कषाय तथा काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि विकारभावों से आत्मा की परणति रुक जाती है, इस प्रकार राग द्वेष की परणति का संरोध होने से आत्मा अपने शुद्ध स्वसमयरस में तल्लीन हो जाता है। स्वात्मस्वभाव में स्थिर होना ही ध्यान है। 'यह अर्थ-भावार्थ श्री ब्र० ज्ञानसागर जी का लिखा हुआ है। पाठको ! इतना स्पष्ट लिखने पर फिर भी अब कहां से एक दूसरा मूल कारण मूर्ति बन गई कि जो मूर्ति के विराजमान करने को तो बड़ी बड़ी संगमरमर की वेदियां बनाई जावें और उनपर सुनहली पत्र चढ़ें तथा जिनागम-जैनशास्त्र जिन्हें कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी धर्मध्यान का मूल कारण व सर्वश्रेष्ठ कहें वे एक ताक या अलमारी में रखे हुए धूल से ढंके रहें; उनका अध्ययन तो दूर रहा दर्शन भी न किया जाय, धातु पाषण की मूर्तियों को तो भगवान की तरह पूजा जाय जिसका कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने तथा जैन सिद्धांत ग्रंथों के रचयिता किन्हीं एक भी आचार्य ने अपने ग्रंथों में नाम भी नहीं लिया हो, व जिन जैनशास्त्रों को सभी आचार्यों ने धर्म का मूल व सर्वश्रेष्ठ कहा उनकी कोई प्रभावना नहीं, वेदी में रखने की प्रथा नहीं, दर्शन नहीं, पूजन नहीं। मैंने देखा कि प्रतिमा जी तो सुनहली वेदी जी में विराजमान हैं और शास्त्र एक टूटी सी काष्ठ की पेटी में परिक्रमा के एक कोने में रखे हैं, जिनपर धूल चढ़ी और दीमक तथा चूहे खा रहे हैं क्या यही कुन्दकुन्दाम्नाय है ? सच्ची कुन्दकुन्दाम्नाय को श्री तारन स्वामी ने समझा था। यदि कदाचित् श्री कुन्दकुन्द स्वामी को मूर्ति की मान्यता कराने की आवश्यकता श्रावकों के लिये होती तो जहां यह गाथा ६५ नं० की पंचमकालीन भरतक्षेत्र के श्रावकों के लिये बनाई थी इसके पहिले एक गाथा अष्टद्रव्य से मूर्ति-पूजा को मूलकारण व सर्वश्रेष्ठ बताने के लिये बनाते कि जिसका उन्होंने जिक्र भी नहीं किया। मैं किसी रागद्वेष से नहीं, केवल एकमात्र इस दृष्टि से सब कुछ इस विषय में लिख रहा हूँ कि वस्तुस्वरूप को समझो और यदि अपने को कुन्दकुन्दाम्नायी कहते हो तो सच्चे कुन्दकुन्दाम्नायी बनो और उनके बताए हुए सच्चे जैनधर्म के मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण करो, और अपनी अध्यात्मिक वृत्ति और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के द्वारा संसार के हितू व प्रेमपात्र बनो तथा तन, मन और धन लगाकर इस महान पवित्र जैनधर्म का प्रचार-प्रसार संसार में करो तथा जो संस्थाएं अथवा महापुरुष जैनधर्म की प्रचारक हों उन्हें पूर्णतया सहयोग दो एक-मात्र यही कर्त्तव्य हमारा आप सबका है।

समय की गति-विधि और लोगों की मनःस्थिति को देखो, अब समय सोने चांदी की चमक दिखाने का नहीं है अपने व्यवहार की व धर्म सिद्धांत की चमक दिखाने का समय है। ऐसा दिखाई देता है कि यह सोने चांदी की चमक चाहे घरों की हो अथवा मन्दिरों की हो शायद कभी घातक न हो जाय।

तात्पर्य यह है कि जब तक समाज में शास्त्रस्वाध्याय और शास्त्रमनन को प्रमुखता न दी जायगी तथा साहित्य प्रचार में पूर्णशक्ति न लगादी जायगी तब तक समाज की प्रवृत्ति में धार्मिकता या आध्यात्मिकता न आएगी कि जो समाजोन्नति का एवं धर्मोन्नति का मूल कारण है। इस मूर्तिवाद ने ही जैन समाज नामक एक घर के कितने टुकड़े कर दिये, यदि यह न हो तो आज सब एक हो सकते हैं। हाँ, यदि मूर्तिवाद जैनधर्म में सिद्धांततः होता तो यह भी कहा जा सकता था कि मूर्तिवादी बनकर सब एक हो जाएं। मैं तो कहूँगा कि एक समिति अच्छे धुरंधर १०-५ जैन विद्वानों की नियुक्त की जाय जो सप्रमाण यह निर्णय दे कि मूर्ति की मान्यता सैद्धांतिक है या केवल भट्टारकों की देन है। समाज का यह प्रयास समाज को बहुत उपकारी होगा और धर्म के मूल कारण का यथार्थ वस्तुस्वरूप सामने आ जायगा।

स्वाध्याय के अभाव में जीव कठोर परिणामी बन जाता है

अज्जवसप्पिणिभरहे पउरा रुद्दट्टझाणया दिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पाविट्ठा किण्णणीलकाओदा ॥५८॥ (रयणसार)

अर्थ—इस भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी पंचम काल में दुर्ध्यानी रुद्रपरिणामी, कृष्णादि अशुभलेश्या के धारक, क्रूरस्वभाव वाले, नष्ट दुष्ट पापिष्ठ और कठोर भावों को धारण करने वाले अधिक मनुष्य होते हैं। कार्य में कारण अवश्य होता है। इस पंचमकाल में ऐसे कठोर परिणामी व चतुर्थकाल में सरल परिणामी दयालु शुभलेश्या वाले जीव क्यों होते हैं? चतुर्थकाल में श्रावकों को भगवान का तथा हजारों मुनियों के बिहार होते रहने से प्रतिदिन उपदेश मिलता रहता था, क्योंकि उपदेशश्रवण व शास्त्रस्वाध्याय से परिणामों में दया, सरलता, धार्मिकता व संसार का स्वरूप जानने से उदासीनता बनी रहती है जबकि बिना उपदेश व शास्त्रस्वाध्याय किए बिना परिणामों में कठोरता, क्रूरता, पापिष्ठादि जितने दोष श्री कुन्दकुन्द ने कहे वे सब रहते हैं।

इसी पर एक घटना का दृष्टांत है कि एक पिता, पुत्र थे, पिता पूजा करने वाले थे और अपने को बड़ा धर्मात्मा भी मानते थे। पुत्र की रुचि शास्त्रस्वाध्याय में लग गई थी जो वह स्वाध्याय के कारण आध्यात्मिकवृत्ति का कोमल परिणामी हो गया था। नाज की दुकान थी। एक दिन पिता पुत्र दोनों साथ में मन्दिर से दुकान पर आ रहे थे, पुत्र आगे था, पिता पीछे। दुकान पर गेहूँ की ढेरी में एक गाय गेहूँ खा रही थी, पुत्र ने सोचा कि धीरज से पहुँचकर गाय को हटा देंगे, पीछे पिता जो १०-२५ कदम पीछे था उसके हाथ में लकड़ी थी क्योंकि वृद्ध था, वह लड़के पर नाराज होता झट से लपक आगे बढ़ा और जोर से एक लकड़ी गाय को मार दी, यह देखकर

पुत्र का हृदय तिलमिला गया व बोला पिताजी आप तो इतने धर्मात्मा, इतने जोर से लकड़ी नहीं मारना थी, पिता बोला तुम बड़े धर्मात्मा, मन्दिर का धरम घर दुकान में काम नहीं आता। पुत्र ने कहा कि पिताजी धरम तो उसे ही कहते हैं कि जो हर घड़ी साथ में रहे, इतना कहकर त्यागी होकर घर से ही चला गया, धन्य है, इसे कहते हैं ज्ञान व धर्मात्मापना।

प्रयोजन यह कि बिना शास्त्रस्वाध्याय के मनुष्य भले ही जीवनभर पूजा करे या कोई भी क्रियाकाण्डों को करता रहे उसमें धर्मात्मापना नहीं होता। यही कारण है कि सभी जैनाचार्यों ने आत्मकल्याण के लिये एकमात्र शास्त्रस्वाध्याय का ही उपदेश किया है तथा श्री तारण स्वामी ने तारण समाज में शास्त्र की मान्यता कराई और दूसरे आडम्बरों से छुड़ाया; क्योंकि परिणामों की पवित्रता से ही आत्मकल्याण होता है, जो पवित्रता एकमात्र शास्त्रस्वाध्याय व शास्त्र उपदेश श्रवण करने से ही होती है। अत: प्रत्येक मनुष्य जो अपना आत्मकल्याण करना चाहते हों उन्हें शास्त्रस्वाध्याय की प्रतिज्ञा ले लेना चाहिए, शास्त्रस्वाध्याय ही सच्ची देवपूजा है। क्योंकि श्री अरहंतदेव तो मोक्ष पधार गये उन्हें हमारे द्वारा पूजा कराने की रञ्चमात्र भी आवश्यकता नहीं। हमें अपनी आत्मा का कल्याण करना है इसके लिये हमें अपनी आत्मा की सेवा-पूजा करना है, सेवा पूजा से यह न समझें कि हम अपने सामने अष्टद्रव्य का थाल रखकर पूजा के मन्त्रों को पढ़ें या दूसरों से पढ़वावें।

आत्म-पूजा का अर्थ यह है कि हमारी आत्मा में जो शांति-समता, उत्तमक्षमादि गुण हैं उनकी रक्षा व वृद्धि करना, आत्मा में भरा हुआ जो आनन्दामृत उसे पान करना, व्रत, नियम, शील, संयम, सामायिक, स्वाध्याय करना और अपनी आत्मा की तरह सबकी आत्मा को समझना, दान, पुण्य परोपकारादि की सदैव भावना रखते हुए हर समय चित्त में उदासीनता बनी रहने को अनित्यादि बारह भावनाओं को तथा अपना कर्त्तव्य समझने को सोलहकारण भावनाओं को भाते रहना, सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप इनकी आराधना करते रहना, इन सबका नाम ही आत्म-पूजा है-देवपूजा है। मनुष्य इस देवपूजा को भूल जाने से ही कठोर परिणामी हो गया जैसा कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है। अतएव हे भाइयो! दूसरे मानें चाहे न मानें तुम्हें तो श्री कुन्द-कुन्द व तारन स्वामी की आज्ञानुसार शास्त्र स्वाध्याय करके प्रतिदिन देवपूजा यानी आत्मपूजा नियम से करना चाहिये तभी सम्यक्त्वी बन सकोगे।

चौदह गुणस्थान

मिथ्यात्व गुणस्थान में—धर्मध्यान होता ही नहीं, आर्त्त, रौद्र का ही सद्भाव है इसमें सुज्ञान होता ही नहीं, तीन कुज्ञानों का ही सद्भाव है और असंयमभाव ही रहता है। हां छहों

लेश्याओं का सद्भाव अवश्य है। उपयोग भी ३ कुज्ञान और चक्षु० अचक्षुदर्शन इस तरह ५ ही रहते हैं (१२ में)। तात्पर्य यह कि इसमें थोड़ी सी अच्छाई यदि है तो लेश्याओं भर में है कि यदि हम शुभलेश्या रख सकें तो पुण्यबंध कर सकते हैं सो वह भी पापानुबंधीपुण्य होगा कि जो चढ़ाकर नियम से गिरा ही देता है, क्योंकि सम्यक्त के बिना पुण्यानुबंधीपुण्य नहीं होता।

चौथा अविरतसम्यक्त गुणस्थान—इसमें चार अनंतानुबंधी कषायें नहीं रहतीं, तीन कुज्ञान न रहकर तीनों सुज्ञान हो जाते हैं। उपशम, वेदक, क्षायिक ये तीनों सम्यक्त व अवधिज्ञान इसमें हो सकता है। सद्भाव छहों लेश्याओं का है परन्तु सुज्ञान होने से शुभ लेश्याओं को बल अधिक मिलता है। यदि वह हठात् अशुभ लेश्याओं का उपयोग न करे तो इस स्थान में १० ध्यानों (४ आर्त, ४ रौद्र, १ आज्ञा, १ अपाय वि०) का सद्भाव है अर्थात् आज्ञाविचय और अपायविचय धर्मध्यान कर सकता है। आज्ञाविचय धर्मध्यान के यह चार पाए-पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत हैं। यह भव्यजीव के ही होता है, वह स्त्री हो या पुरुष (सद्भाव तीनों वेद का है), इसमें तीनों सुज्ञानोपयोग व च० अ० अ० इस तरह छह उपयोग होते हैं। ५७ आश्रवों में ४६ आश्रव और सबसे बड़ा लाभ यह है कि ५८ लाख योनियों का गमन छूटकर मात्र २६ लाख योनियों में ही गमन रह जाता है। यह चारों गतियों में हो सकता है, किन्तु सैनी पंचेन्द्रिय जीव के ही।

पांचवां देशव्रत—यह मनुष्य और पशु सैनी पंचेन्द्रिय में ही होता है. इसमें अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यान ये ८ कषायें नहीं रहतीं, भाव संयमासंयम रहने लग जाता है, तीन शुभ लेश्याओं का ही सद्भाव रह जाता है। उपरोक्त १० ध्यानों के साथ विपाकविचय मिलकर ११ ध्यानों का सद्भाव है। आश्रव ३७ तथा ग्यारह प्रतिमाओं का इसी गुणस्थान में पालन होता है। यदि अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यान कषायें व अशुभ लेश्याओं का सद्भाव है तो वह सच्चा प्रतिमाधारी श्रावक नहीं, भेषमात्र ही जानना।

छठवां प्रमत्तगुणस्थान—यह मुनि अवस्था का ही है (जबकि आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक यह पांचवें गुणस्थानवर्ती ही हैं), यह मनुष्य मात्र के ही होता है। इसमें ६ कषाएँ व ४ संज्वलन इस तरह १३ कषायें ही सद्भाव रूप से रहती हैं। मन:पर्ययज्ञान हो सकता है, सामायिक संयम, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि ये तीन संयम इसमें होते हैं। इसमें चारों धर्मध्यान व इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, पीड़ा चिंतवन ये तीन पाए आर्तध्यान के इस तरह ध्यान ७ का सद्भाव है। इसमें आश्रव द्वार २४ ही रह जाते हैं। चारों रौद्रध्यान व निदानबंध नामक आर्तध्यान का सर्वथा अभाव है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान इन बारह कषायों का सर्वथा अभाव है, असंयम भाव का सर्वथा अभाव है, तीनों खोटी लेश्याओं का सर्वथा अभाव है। तात्पर्य यह कि अभाव वाली यदि कोई भावनाएँ मुनि में हैं तो वह इस गुणवर्ती आत्मा न होने से वास्त-

विक मुनि नहीं, मात्र भेषधारी है। वैक्रियकऋद्धि, धर्मोपदेश, आहार विहार का उपयोग इसी गुणस्थान में ही होता है इसके आगे के गुणस्थान बारहवें तक के ध्यान अवस्था के हैं, जो ७ से १२ तक में यह कुछ नहीं होता है। हां तप के प्रभाव से ऊपर के गुणस्थानों में ऋद्धि-सिद्धि भले ही हो जाय परन्तु उसका उपयोग इसी छठवें गुणस्थान में ही होगा। यही कारण है कि पांचवें में योग ६ और सातवें में योग ६ होते हैं जबकि इसमें योग ११ हो जाते हैं।

सातवां अप्रमत्त—इसमें आहार संज्ञा का अभाव हो जाता है तथा आर्त, रौद्रध्यान के ८ भेदों का सर्वथा अभाव होकर मात्र धर्मध्यान के जो चार भेद उनका ही सद्भाव रह जाता है। बाकी सब बातों का सद्भाव छठवें गुणस्थान के जैसा ही जानना। यह गुणस्थान स्थिर नहीं होता। ध्यान के पुरुषार्थ से आगे बढ़े तो आगे बढ़े अन्यथा छठवां सातवां चढ़ता उतरता हुआ ही रहता है। हां यह अवश्य है कि इस गुणवर्ती जीव को छठवें की अपेक्षा यह सातवां गुणस्थान अधिक प्रिय होता है। अत: छठवें में आ जाने पर भी पुन: पुन: प्रयत्न इसी में आने का करता है। यही गुणस्थान मुनि की शोभाजनक है।

आठवाँ अपूर्वकरण—इसमें मात्र शुक्ल लेश्या ही रहती है। व पहला शुक्लध्यान 'प्रथक्त्ववितर्कवीचार' रहता है।

सामायिक, छेदोपस्थापना ये दो संयम, उपशम, क्षायिक सम्यक्त इन दो सम्यक्त का सद्भाव होता है। यहीं से यदि क्षपकश्रेणी बन गई तो बेड़ा पार हो गया और यथाक्रम चढ़ते हुए केवलज्ञानी हो जाता है यदि कदाचित उपशमश्रेणी ही रही तो ग्यारहवें और छठवें में चढ़ाव उतार ही होता रहेगा। इस चढ़ाव उतार में आदिनाथ भगवान को १००० वर्ष लग गये, भगवान महावीर को १२ वर्ष लगे, बाहुबलि को एक वर्ष लगा जबकि भरत जी को क्षपकश्रेणी माढी और ४८ मिनट में केवलज्ञानसूर्य का प्रकाश हो गया। यह ध्यान रखो कि-उपशमश्रेणी वाला एक क्षण में ही अपने आत्मपुरुषार्थ से लाग लग जाए तो क्षपकश्रेणी वाला हो जाता है किंतु क्षपकश्रेणी पर आए बिना केवलज्ञान किसी को भी नहीं होता यह अनिवार्य है।

नौवाँ अनिवृत्तिकरण—इसमें ४ संज्वलन, ३ वेद, ७ कषायें, मैथुन, परिग्रह ये दो संज्ञा, रह जाती हैं। आहार, भय इन दो संज्ञाओं का अभाव हो जाता है।

दशवाँ सूक्ष्मसांपराय—यहां वेद का अभाव, एक संज्वलन लोभकषाय का सद्भाव, एक सूक्ष्मसाम्पराय संयम, एक परिग्रह सू० लो० संज्ञा, दश आश्रव द्वार (६ योग १ कषाय) व शेष उपरोक्त ही होते हैं।

ग्यारहवां उपशांतकषाय—यहां कषाय का अभाव, यथाख्यातसंयम, संज्ञा का अभाव, नौ योग, नौ आश्रव रह जाते हैं।

बारहवाँ क्षीणकषाय—एक क्षायिक सम्यक्त तथा दूसरा शुक्लध्यान-एकत्ववितर्क-अवीचार होता है ।

तेरहवाँ सयोगकेवली— एक केवलज्ञान, एक केवलदर्शन, एक शुक्ललेश्या, एक तीसरा शुक्लध्यान (सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति) सत्य मन वच २, अनुभय २, औदारिककाय २, कार्माण १ यह ७ योग, ७ आश्रव ।

चौदहवाँ अयोगकेवली--योग ०, लेश्या ०, आश्रव ० तथा तेरह व चौदहवें में कषाय ०, चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान होता है ।

५ मिथ्यात्व+१२ अव्रत+२५ कषाय+१५ योग=५७ आश्रव ।

नोट—पांच मिथ्यात्व छूटने पर ही दूसरे गुणस्थान में आने से ५० आश्रव रह जाते हैं । व चार अनंतानुबंधी कषायों के छूटने पर मिश्र में आता है ।



पच्चीस कषायें

आचार्यों ने कषायें पच्चीस कहीं, उन पर विचार—

अनन्तानुबंधी चार (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषायें तो मिथ्यात्वगुणवर्ती सभी चराचर षट्कायिक जीवों में रहती ही हैं । अर्थात् तीन मिथ्यात्व और ये चार कषायें मिलकर ही अनन्तानंत जीवों को अनादिकाल से इस चतुर्गति चौरासी लाख योनि-संसार में भ्रमण करा रही हैं । ये ही सम्यक्त की घातक हैं । इनके रहते सम्यक्त का उदय नहीं होता । इनको छोड़ने की भी शक्ति केवल सैनी पंचेन्द्री जीव में होती है बाकी एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय जीवों तक में तो छोड़ने की शक्ति ही नहीं ।

अत: जो सैनी पंचेन्द्रिय जीव पांच मिथ्यात्व (एकांत, विनय, विपरीत, संशय, अज्ञान) को छोड़े तब ही मिथ्यात्व गुणस्थान से निकल कर दूसरे सासादन गुणस्थान में आता है, नहीं तो नहीं । और जब यह मिथ्यात्व छूटे तब कहीं उसमें सामर्थ्य होती है कि वह अनंतानुबंधी कषायों को छोड़ सके । मिथ्यात्व के रहते अनंतानुबंधी कषायें नियम से रहती ही हैं । अब यह जो जीवों में परिणामों का भेद दिखाई देता है कि कोई तीव्रकषायी, कोई मंदकषायी, कोई लोभी, कोई दानी, कोई धर्मात्मा, कोई पापी, इसी तरह पशु पक्षियों में कोई क्रूर, कोइ सरल, कोई मांसाहारी, कोई निरामिषभोजी, ये सब भेद लेश्याओं के कारण से जानना । क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान में भी छहों लेश्याओं का सद्भाव है । जिस जीव के जब भी जिस लेश्या का योग होता है

वैसी परिणति बाहर दिखाई देती है। तात्पर्य यह कि अनन्तानुबंधी कषायों के रहते हुये भी बाहरी प्रवृत्ति में जो सब प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होते हैं वे छहों लेश्याओं का सद्भाव भव्य, अभव्य सभी जीवों में रहता है। इसलिये लेश्याओं के भेद से ही सब भेद दिखाई देते हैं। लेश्याओं के भेद से सम्यक्त-मिथ्यात्व अथवा कषायों का भेद न जानना चाहिये। दूसरी एक यह बात कि लेश्याओं में शक्ति पुण्य-पाप बंध करने भर की है, कर्म-निर्जरा करने की नहीं है। तथा बंधे हुये पुण्य-पाप कर्मों में स्थिति व अनुभाग करने की शक्ति कषायों में है। प्रयोजन यह कि मंद कषाय या धार्मिक परिणति अथवा दान-पुण्य करने मात्र से हम यह न समझ लें कि हमारे भीतर अनंतानुबंधी कषायों व मिथ्यात्व का अभाव हो गया है और जबतक अनंतानुबंधी कषायें व मिथ्यात्व नहीं छूट जाता है, तब तक संसार भ्रमण छूटता नहीं। कोई ऐसा माने कि भगवान में व धर्म में शुभराग तथा दान-पुण्य करते हुये धीरे-धीरे हमारा संसार भ्रमण छूटता जा रहा है यह भ्रम है। क्योंकि राग, बंध का ही कारण है, निर्जरा का नहीं। अविपाकनिर्जरा से ही संसार-भ्रमण छूटता है और यह सम्यक्त से ही होती है। सम्यक्त तब होता है जबकि मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायें छूट जायें। सारांश यह कि-मिथ्यात्व के छूटने पर यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से निकल कर दूसरे गुणस्थान में व कषायों (अनंतानुबंधी) के छूटने पर ही तीसरे मिश्र गुणस्थान में होता हुआ चौथे अव्रतसम्यक्त गुणस्थान में आने पर ही 'सम्यक्ती' होता है। मात्र दान-पुण्य या धार्मिक क्रियाओं से ही अथवा जाति-सम्प्रदाय से ही व कषायों की मंदता से ही हम अपने को सम्यक्ती न मान लें। अत: मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषायों को छोड़ने का हमें पुरुषार्थ करना है, व इस मर्म को समझना है। क्योंकि बिना मर्म के समझे छोड़ना भी कैसे बन सकता है।

मिथ्यात्व के पांच भेद कहे हैं, किन्तु वस्तुत: तो एक यही भेद है कि वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है उसको और का और मानना, जैसे संसार में अपना कुछ भी नहीं पर शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि को अपना मानना इत्यादि भेद से पांच भेद यह हैं—

(१) एकांत मिथ्यात्व—अपेक्षा को न समझकर एक ही नय से मान बैठना।

(२) विनय मिथ्यात्व—कुदेव, अदेव को देव मानकर, कुगुरु, अगुरु को गुरु मानकर तथा कुशास्त्रों को धर्मशास्त्र मानकर विनय करना।

(३) विपरीत मिथ्यात्व—हिंसा में धर्म मानना, पाप क्रियाओं को धर्म क्रिया मानना।

(४) संशय मिथ्यात्व—तत्त्वों में अथवा कर्म सिद्धांत की बातों में संशय रखना जैसे कि कौन देख आया कि आत्मा है या नहीं है, नर्क स्वर्ग हैं या नहीं हैं, इत्यादि।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व—आत्मज्ञान की प्राप्ति न करना, यही अज्ञान मिथ्यात्व है। संसार

की सब बातों का ज्ञान करके चाहे धुरंधर विद्वान् बन जाओ परन्तु एक आत्मज्ञान के बिना अज्ञान मिथ्यात्वी ही रहोगे और इसके रहते तक ऊपर के सब ही मिथ्यात्व रहेंगे बाहर से, और बाहर से नहीं तो भीतर से। और यदि आत्मज्ञान हो गया तो पाँचों ही मिथ्यात्व समूल नष्ट हो जायेंगे अनंतानुबंधी चार कषाएँ—क्रोध, मान, माया, लोभ इनकी परिणति का आत्मा में गहरा चिपटाव रहना, लेश्याओं के कारण इन चारों के दिखावे में तो बहुत ज्यादा कमी बढ़ी दिखाई देगी परंतु भीतर पूरा अस्तित्व रहेगा ही। अतएव पांचों मिथ्यात्व व इन चारों कषायों को भीतर से छूटना चाहिये तभी हम मिथ्यात्व गुणस्थान से बाहर निकल सकते हैं, अन्यथा नहीं।

अप्रत्याख्यान चार कषाएँ—जब यह जीव चौथे अव्रतसम्यक्त गुणस्थान में आकर सम्यक्ती हो जाता है तब ये कषाएँ हमें त्याग वैराग्य लेने से रोकती हैं, और आत्मा को ऐसा पुरुषार्थहीन सा रखती हैं कि सधेगा नहीं। यद्यपि आत्मा में संसार की असारता दिख गई है, चौरासी के दुखों से भयभीत हो गई है, मोक्ष की कामना क्षण-क्षण रहने लगी है, वस्तुस्वरूप का भान होने लगा है, त्याग वैराग्य के आनंद का स्वाद आने लगा है, घर ग्रहस्थी से उदासी हो गई है-कब छूट निकलें यह भावना रहने लगी है परन्तु हिम्मत नहीं पड़ती और यह कषाएँ, कहीं लोक-लाज, कहीं नहीं सधने का भय, कहीं स्नेह का बंधन और कहीं शरीर का सुखियापना दिखाकर आगे बढ़ने नहीं देती हैं। अत: हमें इन कषायों की बातों को न मानकर आत्मपुरुषार्थ से आगे बढ़ना चाहिये। यही इन कषायों के जीतने का उपाय है। जिस तरह क्षुद्र पुरुषों का हमारे अच्छे कामों में बाधा डालने का स्वभाव होता है और यदि हम अपना काम करते हुए बढ़ते ही जाते हैं तो वे अपने आप चुप रह जाते हैं, बैठ जाते हैं। तात्पर्य यह कि इन कषायों को जीतने पर ही हम त्यागी व्रती होकर पाँचवें गुणस्थान देशव्रत में आ सकते हैं और अणुव्रतों या ग्यारह प्रतिमाओं का पालन कर सकते हैं। विशेष यह कि जब तक यह आत्मा मिथ्यात्व गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषायों के आधीन रहती है तब तक तो बिलकुल पराधीन होने से उन कषायों का मुकाबला—सामना करने में असमर्थ रहती है; जैसे काल कोठरी में बन्द हुआ बंदी। कदाचित् उस बन्दी से कोई पुरुषार्थ की बात करता है तो उसे वह पुरुषार्थ की बात प्रिय तो लगती है परन्तु फिर भी निकल भागने से अपने को लाचार ही पाता है। परन्तु चौथे गुणस्थान वाली सम्यक्ती आत्मा काल कोठरी से छूट गई है अब तो वह मात्र नजरबन्द के जैसी है और उसमें यह साहस हो गया है कि वह अप्रत्याख्यान कषायों का सामना कर सके और करती भी है तथा समय पाकर विजयशील भी हो जाती है। इस तरह जय-पराजय, जय-पराजय उसके भीतर चलता ही रहता है। और जहाँ जय का डंका बजाकर त्याग-वैराग्य का मार्ग ले लेती है वहां यह चारों कषाय सर्वथा पराजित हो जाते हैं। और वह आत्मा वैराग्यवृत्ति बनाकर त्यागी (अणुव्रती) हो जाती है। ध्यान रहे कि त्यागी होने के बाद मुनि होने में अभी एक समुद्र बीच में सामने आयगा उसका

नाम है 'प्रत्याख्यान कषाय'। प्रयोजन यह कि पूरे आत्मपुरुषार्थ से हमें अप्रत्याख्यान कषायों का सामना करके त्याग का मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्याख्यान चार कषाएँ—जब हम पांचवें देशव्रत गुणस्थान में आने पर त्यागी-अणुव्रती, प्रतिमाधारी हो जाते हैं तब यह चारों ही कषाएँ अब हमें 'मुनिपद' लेने से रोकती हैं। कहती रहती हैं कि देखो! देशकाल नहीं, परीषह सहन न कर सकोगे, चल-विचल हो जाओगे इत्यादि इत्यादि। अब यहां पर यदि हमारी आत्मा में पूर्णबल स्फुरायमान हो जाता है तब तो इन कषायों को भी पराजित करके हम आगे बढ़ जाते हैं और मुनिपद ग्रहण कर लेते हैं अन्यथा अणु-व्रती ही बने रहते हैं। हाँ, वैराग्यभावना हमारी आत्मा के संस्कार में बनी रहती है जो अगले जन्म में मुनिपद का योगानुयोग मिला देती है। यहां पर यह एक बात बहुत ध्यान में रखने की है कि कषायों को पराजय किए बिना मात्र लेश्याओं के आवेग में जिसका कि दूसरा नाम भावुकता है, आकर न तो अणुव्रत की और न महाव्रत की ही दीक्षा लेना चाहिए। यह जो त्यागी होकर या मुनि होकर कलंकित होते रहते हैं उनके भीतर के परिणाम कलुषित या क्रोधी, लोभी, मानी, मायाचारी रहते हैं। इसका मतलब यही है कि वे कषायों को जीते बिना भीतर से तो मिथ्यात्व गुणस्थान में ही हैं परन्तु भावुकता में आकर त्यागी या मुनि बन गए हैं, इससे अपने पद को निर्दोष नहीं पाल सकते और अपवाद के पात्र बने रहते हैं। और अकामनिर्जरा से भवनत्रिक देवों की मिथ्यात्व योनि अथवा तप की साधना तो सही और पूरी, परन्तु आत्मज्ञान से हीन होने के कारण 'मुनिव्रतधार अनंतबार, ग्रीवक उपजायो। पै निज आतमज्ञान बिना सुखलेश न पायो॥ वाली बात चरितार्थ कर देते हैं, जो मोक्षमार्गी न बनकर संसारमार्गी ही बने रहते हैं। यहीं पर यह बात लागू हो जाती है कि—मोह रहित जो है (सम्यक्त्वी) गृहस्थ भी, मोक्षमार्ग अनुगामी है। मुनि होकर भी मोह (मिथ्यात्व) न छोड़ा, वह कुपंथ का गामी है।

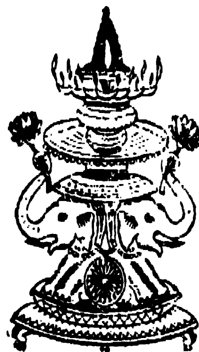
प्रयोजन यह कि भीतर से मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायों को छोड़कर यदि आत्मज्ञान पूर्वक (सम्यक्त्वी बनकर) हम अव्रत सम्यग्दृष्टि या अणुव्रती श्रावक बन जायें तो भी उस द्रव्य-लिंगी मुनि से लाख दर्जे उत्तम हैं। और यदि आत्मज्ञानी (सम्यक्त्वी) होकर मुनिपद हो तब तो सोने में सुगन्धि वाली बात बन जाय।

संज्वलन चार कषाएँ—जब हम प्रमत्त नामक छटवें गुणस्थानवर्ती अर्थात् मुनि अवस्था में पहुँच जाते हैं वहां मात्र ये ही संज्वलन कषाएँ रहती हैं और यह नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक साथ रहती हुई यथाख्यातचारित्र (पूर्ण आत्मरमण या पूर्ण आत्मचारित्र) होने से रोके रहती हैं। कितना भी दुद्धर तप करते रहो परन्तु केवलज्ञान नहीं हो पाता, जब तक कि इन कषायों पर विजयशील न हो जायें। जब यह जीव संज्वलन, क्रोध, मान, माया को सर्वथा जीत लेता

है और संज्वलन, लोभ को घायल कर देता है अर्थात् (संज्वलन सूक्ष्मलोभ) रह जाता है तब दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में पहुँचता है। और यहां पर जब यह उस 'संज्वलन सूक्ष्मलोभ' को भी जीत लेता है तब क्षपकश्रेणी के बल से ग्यारहवें में न जाकर सीधा क्षीणमोह नामक या क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्तकर अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञानी हो जाता है। और आयु पर्यन्त इस तेरहवें गुणस्थान में बना रहकर आयु के अन्त में चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करता हुआ सिद्धलोक में जा विराजता है।

पच्चीस कषायों में १६ कषाएँ तो उपरोक्त तथा ६ नोकषाएँ इनमें आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक तो सभी का सद्भाव रहता है, नौवें में ६ छूटकर मात्र ३ वेद कषाएँ सद्भाव रूप से रहती हैं, तदुपरांत इनका भी सर्वथा अभाव हो जाता है।

उपरोक्त पच्चीस कषायों के इस लेख का एकमात्र प्रयोजन यही है कि हमारी आत्मा को संसार में रोकने वाली यह कषाएँ ही हैं। अथवा अपनी ही इन कषायों से हम संसार को अपना मानकर स्वयं बंधे हुए हैं और कहते यह रहते हैं कि हम क्या करें ? यह संसार हमें छोड़ता नहीं है। अतः यदि वास्तव में हमें इस संसार से पार होना है तो मिथ्यात्व और मिथ्यात्व से उत्पन्न हुई इन कषायों को उत्तरोत्तर कम करते, जीतते जाना चाहिए। यही कल्याण मार्ग है, आत्मोन्नति है, आत्मविकाश है। यदि हम कषायों को कम न कर सके, जीत न सके तो सब कुछ करने पर भी कुछ नहीं है, दिखावा मात्र है, मायाचारी है, छल है। तथा संसार का छूटना तो दूर रहा उल्टा बढ़ाना ही हो जाता है।





-: देवत्व से हीन अदेवों की अर्चना :-

इस विषय में श्री तारणतरणमण्डलाचार्य की जो मान्यता थी, वही श्री कुन्दकुन्दाचार्य, योगीन्द्रदेवाचार्य आदि आचार्यों तथा पं० आशाधर जी, दीपचन्द जी, पं० बनारसीदास जी आदि अनेक विद्वानों की थी।

श्री तारणतरणाचार्य कृत-श्रावकाचारः—

मिथ्यादेवं, गुरुं, धर्मं, मिथ्यामायाविमोहितं ।
अनृत अचेत रागं च, संसारे भ्रमनं सदा ॥१९॥

लोकमूढ़ रतो जेन, देवमूढ़स्य दिस्टते ।
पाखंडीमूढ़ संगानी, निगोयं पतितं पुनः ॥२८॥

अदेवं देव प्रोक्तं च, अंधं अंधे न दिस्टते ।
मार्गं किं प्रवेशं च, अंधे कूपं पतंति ये ॥६०॥

अदेव जेन दिस्टंते, मानते मूढ़ संगते ।
ते नरा तीव्रदुःखानि, नरयं तिर्यञ्चं पतं ॥६१॥

अनादिकाल भ्रमनं च, अदेवं देव उच्यते ।
अनृतं अचेत दिस्टंते, दुर्गति गमनं च संयुतं ॥६२॥

अनृतं अचेत मानं च, विनाशं जत्र प्रवर्तते ।
ते नरा थावरं दुःखं, ए इन्द्री इत्यादि भाजनं ॥६३॥

मिथ्यादेव अदेवं च, मिथ्यादृष्टि च मानते ।
मिथ्यात्वं मूढ़दृष्टी च, पतितं संसारभाजनं ॥६४॥

अदेवं देव उक्तं च, मूढ़दृष्टि प्रकीर्तितं ।
अचेतं असास्वतं येन, तिक्तंति शुद्धदृष्टिनं ॥२४३॥

अशुद्धं प्रोक्तंस्चैव, देवल देवंपि जानते ।
खेत्रं अनंत हिडंते, अदेवं देव उच्यते ॥३१०॥
मिथ्यामय मूढ़दृष्टी च, अदेवं देव मानते ।
परपंच येन कृतं सार्धं, मानते मिथ्यादृष्टि तं ॥३११॥

श्री तारणतरणाचार्य कृत न्यानसमुच्चयसार:—

अदेवं अगुरुं जेन, अधर्मं अशुद्धं पदम् ।
संसार सरनि शरीरस्य, न दिस्टते शुद्धदृष्टिनं ॥१६१॥
देवमूढ़ं च उत्पाद्यं, अदेवं देव उच्यते ।
अशास्वतं अनृतं येन, कुज्ञानं रमते सदा ॥१८१॥
देवमूढ़ं च मूढ़त्वं, रागदोषं च संजुतं ।
मान्यते जेन केनापि, दुर्गतिभाजन ते नरा ॥१८२॥
देवमूढ़ं च मूढ़ं च, ज्ञानं कुज्ञान पश्यति ।
मान्यते लोक मूढस्य, मिथ्यामय निगोयं पतं ॥१८३॥
मिथ्यादेवं अदेवं च, ज्ञानं कुज्ञान पश्यते सर्वं ।
सुहं असुहंपि न बुज्झंति, नहु जानादि लोयविवहारं ॥१८२॥
उत्पत्ति नत्थि अदेवं च, कृत कारित मूढ़लोयस्य ।
जे देवंपि कहंता, ते सव्वे मूढ़ दुर्बुद्धि ॥१९३॥
कुदेवधारी पुरुषा हिडंति संसारदुःखसंतत्ता ।
थावर वियलेन्द्रिया, नरयं गच्छेहि दुःख संतत्ता ॥१९४॥
अदेवं जो वन्दे, पूजै, आरहि भत्तिभारेन ।
सो दुग्गैपि सहंता, निगोयवासं मुणेयव्वो ॥१९५॥
कुदेवं अदेवयत्वं, जो चिंतेहि कुमयमयमंता ।
चिन्ता सायरे बूढ़ं, संसारे सरनि न लहे थाहं ॥१९६॥
अनायतं पट्कश्चैव, जो मानै मिच्छादिस्टि सभाओ ।
सो मिथ्यामयेहि भरियं, संसारे दुहकारणं तंपि ॥२०६॥

श्री तारणतरणाचार्यकृत उपदेशशुद्धसार:—

मोहंधं च सुभावं, कुदेवं देव सयल सहकारं ।
अदेवं अनुमोयं, दर्शनमोहंध निगोय वासम्मि ॥१८१॥

दर्शन्ति अशुद्ध दर्श, रूप सहावेन सरनि संसारे ।
अनृत अचेत सहावं, दर्शन मोहंध दुग्गये पत्तं ॥२०१॥

श्री तारणस्वामीकृत त्रिभंगीसार:—

काष्ठ पाषाण दिष्टं च, लेपं चित्र अनुरागतः ।
पापकर्मं च वर्द्धन्ति, त्रिभंगी असुहं दलं ॥३६॥

श्री पंडितपूजा जी तारण स्वामीकृत—

अदेवं अन्यान मूढं च, अगुरु अपूज्य पूजितं ।
मिथ्यात्वं सकल जानन्ति, पूजा संसार-भाजनं ॥२४॥

असत्यं अनृत न दिष्टंते, अचेतदृष्टि न हीयते ।
दिष्टतं शुद्ध समयं च, समिक्तं शुद्धं ध्रुवं ॥१७॥

इस तरह श्री तारण स्वामी ने एक नहीं उपरोक्त पांच ग्रन्थों में २५ गाथायें जो देवत्व से हीन अदेवों की (मूर्ति की) अर्चना-पूजा, भक्ति, आराधना करने में जो आत्मा की हानि अर्थात् संसार-भ्रमण की कारण हैं, कहीं हैं ।

ऐसी बात न जानना कि किसी देश-काल की परिस्थिति के कारण से उन्होंने मूर्तिपूजन नहीं बताया प्रत्युत सिद्धान्ततः अर्थात् जैनधर्मानुसार मूर्ति अमान्य सर्वथा अमान्य है, जिसके अनेक प्रमाण जैनशास्त्रों में पाये जाते हैं, उन्हें सुनिये और स्वयं अनुभवपूर्वक विचार कीजिए ।

श्री योगीन्द्रदेवाचार्यकृत योगसार जिसका पद्यानुवाद श्री नाथूराम जी लभेंचू ने किया है—

तीर्थ दिवालय देव न, देह दिवालय देव ।
जिनवाणी गुरु यों कहें, निश्चय जानों एव ॥४१॥

तन मन्दिर में जीव जिन, मन्दिर मूर्ति न देव ।
सिद्ध बने भिक्षहिं भ्रमें, सन्मुख हांसी एव ॥४२॥

मूढ ! दिवालय देव न, मूर्ति चित्र न देव ।
तन मन्दिर में देव जिय, ज्ञानी जानें भेव ॥४३॥

तीर्थ दिवालय देव जिन, यों भाषें सब मूढ़ ।
तन मन्दिर 'जिनदेव' जिय ! ज्ञानी जानें गूढ़ ॥४४॥

कितना स्पष्ट मूर्ति का खण्डन योगीन्द्राचार्य ने किया है कि जिन योगीन्द्राचार्य के योगसार, परमात्मप्रकाशादि अनेक प्रमाणीक ग्रन्थ जैन समाज में सैद्धान्तिक एवं उच्चकोटि के माने जाते हैं। फिर भी जैन समाज कहां भूल गई ? इसका आश्चर्य के साथ खेद भी है।

सम्यक् आचार सम्यक् विचार— (ग्रन्थ से)

जिन मूढ़ पुरुषों पर, कुसंगति का अकाट्य प्रभाव है ।
जिनके हृदय में राज्य करता, भेद-ज्ञान अभाव है ॥
वे देव-सी करते अदेवों की, सतत ......आराधना ।
नर्क-स्थली या तिर्यग्गति पा, दुःख वे सहते घना ॥६१॥

यह ही नहीं कि अदेव को, सत्देव कहना भूल है ।
परिपक्व इस अज्ञान से, होती अरे भव-भूल है ॥
जड़-पत्थरों के दर्शनों से, कर्म ही बंधते नहीं ।
उनका पुजारी नर्क तज, जग में न थल पाता कहीं ॥६२॥

जिस ओर सर्व विनाश की, विकराल दावा जल रही ।
जिनके वदन से प्रलयकर, गिरि-तुल्य ज्वाल निकल रही ॥
जो नर असत् को सत्य कह, जाता कहीं इस ओर है ।
एकेन्द्रियों में जन्म ले वह, कष्ट सहता घोर है ॥६३॥
जो नर कुदृष्टी हैं, न जिनके पास भेद-विज्ञान है ।
जो नित कुदेव अदेव के, करते सुविस्तृत गान हैं ॥
उनसे नहीं होती विलग, संसार की क्रीड़ा-स्थली ।
वे नित नया जीवन-मरण ले, छानते जग की गली ॥६४॥

चैतन्यता से हीन जो, अज्ञान जड़ स्वमेव हैं ।
उनको बना आराध्य ये नर, कह रहे ये देव हैं ॥
अन्धों को अन्धेराज ही यदि, स्वयं पथ दिखलायेंगे ।
तो है सुनिश्चित वे पथिक जा, कूप में गिर जायेंगे ॥६०॥

जड़ वस्तु की आराधना क्या ? रे निरा मूढ़त्व है ।
अगणित मलों की भीति पर, जिसका बना अस्तित्व है ॥

जिसके हृदय सम्यक्त्वरूपी, सलिल जाके कूल हैं ।
अर्पित न करते वे अदेवों को, हृदय के फूल हैं ॥२४३॥

जो मन्दिरों की मूर्तियों को, मानते भगवान हैं ।
वे जीव करते हैं असम्यक्, अशुभ कर्म महान् हैं ॥
पाषाण को, जड़ को अरे, जो देव कहकर मानते ।
वे नर अनन्तानन्त युग तक, धूल जग की छानते ॥३१०॥

मिथ्यात्व मायाचारिता के, जो अगाध निधान हैं ।
वे ही अचेत अदेव को, कहते अरे भगवान हैं ॥
इन पत्थरों के देवताओं के जो बिछते जाल हैं ।
फँसती है मिथ्यादृष्टि, जीवों की उनमें माल हैं ॥३११॥

मिथ्यादेवों को यह मानव, अपने देव बनाता ।
नित्य अदेवों के ढिंग जाकर, उनको शीश झुकाता ॥
मिथ्या माया में फँसकर यह, बनता अवृत पुजारी ।
और इसी से भव-भव फिर यह, बनता अवृत पुजारी ॥
दुर्गतिधारी ॥१६॥

लोकमूढ़ता का बन जाता, है जो जीव पुजारी ।
देवमूढ़ता भी आ करती, उसके सिर असवारी ॥
शेष नहीं पाखण्डमूढ़ता, भी फिर रह पाती है ।
और कि यह त्रयराशि उसे फिर, दुर्गति दिखलाती है ॥२८॥

पंडितपूजा (तारण त्रिवेणी प्रथमधारा)—

देव, किन्तु देवत्वहीन जो, वे 'अदेव' कहलाते है ।
वही 'अगुरु' जड़ जो गुरु बनकर, झूठा जाल बिछाते हैं ॥
ऐसे इन 'अदेव' अगुरों की, पूजा है मिथ्यात्व महान ।
जो इनकी पूजा करते वे, भव-भव में फिरते अज्ञान ॥२४॥

ओम् का स्वरूप और उसकी महिमाः—

ओम् रहा है और रहेगा, सतत उच्च सद्भावागार ।
परमब्रह्म, आनन्द ओम् है, ओम् अमूर्त शून्य-आकार ॥

ओम् पंच परमेष्ठी मंडित, ओम् ऊर्ध्वगति का धारी।
केवलज्ञान-निकुञ्ज ओम् है, ओम् अमर ध्रुव अविकारी ॥१॥

जगत पूज्य अर्हन्त जिनेश्वर, जिसका देते नव उपदेश।
साम्यदृष्टि सर्वज्ञ सुनाते, जिसका घर-घर में सन्देश॥
जो अचक्षु-दर्शन-चखगोचर, जो चित चमत्कार संपन्न।
ओंकार की शुद्ध वंदना, करती वही ज्ञान उत्पन्न ॥४॥

ओंकाररूपी वेदान्त ही है, रे तत्त्व निर्मल शुद्धात्मा का।
ओंकार रत्नत्रय की मंजूषा, ओंकार ही द्वार परमात्मा का॥
ओंकार ही सार तत्त्वार्थ का है, ओंकार चैतन्य प्रतिमाभिराम।
ओंकार में विश्व, ओंकार जग में, ओंकार को नित्य मेरा प्रणाम ॥१॥

इस ब्रह्मरूपी निज आत्मा का, काया बराबर स्वच्छन्द तन है।
मल से विनिर्मुक्त, है यह घनानंद, चैतन्य संयुक्त तारनतरन है॥
जो इस निरंजन शुद्धात्मा के, शंकादि तज कर बनते पुजारी।
वे ही सफल हैं निज आत्मबल में, वे ही सुजन हैं सम्यक्त्वधारी ॥३॥

कैसा है 'ओम्', सर्वोच्च उत्तम भावों से परिपूर्ण है। परमब्रह्मस्वरूप और आनन्दरूप है। अमूर्त-आकार रहित है। पंच परमेष्ठी के गुणों कर मंडित अर्थात् शोभायमान है। अमर, ध्रुव, अविकारी और केवलज्ञानमय ऊर्ध्वस्वभावी है। ऐसे ओंकार की शुद्ध-वंदना (पवित्र भावों से की हुई वंदना) ज्ञान को (आत्मज्ञान को कि जो आत्मज्ञान वैराग्य उत्पन्न करता है) उत्पन्न करता है। ऐसी ओंकारस्वरूप चैतन्यप्रतिमा जोकि घर-घर में शरीराकाररूप से विराजमान है, उस ऐसी आनन्दघन तारनतरन स्वभावी जो आत्मा उसका जो पुजारी है सो ही सम्यक्ती है-आत्मबल में सफल है। बस यही श्री तारनस्वामी का मूलमंत्र है-इकाई है।

सम्यक् देव का स्वरूप और उसकी पूजा

जिन्हें वस्तु के सत्‌चित्-ज्ञायक, या निश्चयनय का है ज्ञान।
वही अनुभवी पारखि करते, निज-स्वरूप की सत् पहिचान॥

अन्तस्तल आसीन आत्मा, ही है अपना 'देव' ललाम।
आत्म-द्रव्य का अनुभव करना, ही है प्रबल प्रणाम ॥२॥

योगीजन नित ओम् नमः का, शुद्ध ध्यान ही धरते हैं।
'सोहं' पद पर चढ़ कर ही वे, प्राप्त सिद्धपद करते हैं॥
'ओम् नमः' जपते जपते जो, निज स्वरूप में रम जाता।
वही देवपूजा करता है, पंडित वह ही कहलाता॥३॥

सम्यक् देवार्चनाः—

सम्यक् आचार सम्यक् विचार—

जिस ज्योतिर्मय का आराधन, करते त्रिभुवनपति अरहंत।
लोकालोक प्रकाशित करता, जो बिखेर रविरश्मि अनन्त॥
द्रव्य-राशि को हस्तमलकवत्, करता जो नित व्यक्त ललाम।
उस पुनीततम महा ओम् को, करता हूँ मैं प्रथम प्रणाम॥१॥

शुद्ध श्रेष्ठ सद्भाव-पुंज ही, जिस पद का कंचन धन है।
निराकार निष्कल निर्मूर्त, शुचि शून्ययुक्त जिसका तन है॥
स्वयंशुद्ध श्रुतज्ञान तत्त्व का, जो असीम भण्डार महान।
उस विशुद्ध ओम् ह्रीं श्री का, करता हूँ मैं प्रतिपल ध्यान॥२॥

आदि अनादि मलों से मैं भी, हो जाऊँ तुम सा स्वाधीन।
इसी सिद्धि को छूने को मैं, होता हूँ तुममें तल्लीन॥
पंचदीप्ति! सम्यक्त्वसूर्य तुम, मैं हूँ क्षुद्र अनल का कण।
मुझको भी अनुरूप बनालो, हे परिपूर्ण! तुम्हें वन्दन॥३॥

त्रिभुवन के जो तिलक कहाकर, शोभा देते हैं छविमान।
भवन अनन्त चतुष्टय के जो, केवलज्ञान निधान महान्॥
ऐसे उन देवाधिदेव की, रज मस्तक पर धरता हूँ।
परंज्योति अरहन्त प्रभू को, नमस्कार मैं करता हूँ॥४॥

जो अनन्तदर्शन के धारी, ज्ञान वीर्य के पारावार।
निखिल विश्व जिनके नयनों में, श्रुतसमुद्र के जो आगार॥
निराकार, निर्मूर्ति, जगत्रय, करता जिनका गुणवादन।
मुक्ति-रमावर उन सिद्धों का, करता हूँ मैं अभिवादन॥५॥

जिनके केवल-ज्ञान-मुकुर में, युगपत दिखते तीनों लोक।
कर्मों का आवरण हटा जो, शरच्चन्द्र से बने निशोक ॥
सम्यक् विधि से व्यक्त किन्तु जो, अशरीरी अव्यक्त अरूप।
नमस्कार करता मैं उनको, स्वीकृत करें वीर चिद्रूप ॥६॥

सिद्ध-शिला जगमगा रहे हैं, कोटि कोटि जो केवलधाम।
उस पुनीततम सिद्धराशि को, मेरे सविनय कोटि प्रणाम ॥
तीन तरह के धर्मपात्र हैं, देव, शास्त्र, गुरु सौख्य सदन।
उनको भी मैं पूर्ण भक्ति से, करता हूँ इस क्षण वन्दन ॥७॥

गुरु वन्दना—

परिग्रहों की दलदल से जो, दूर दूरतम रहते हैं।
एक सूत्र के अम्बर को भी, आडम्बर जो कहते हैं ॥
जिनका ज्ञान समस्त जगत में, छिटकाता रहता आलोक।
प्रतिभाषित होते रहते हैं, जिसमें नितप्रति लोकालोक ॥८॥

रत्नत्रय से आलोकित हैं, जिनके अन्तरतम के देश।
सारभूत शुद्धात्मतत्त्व का, करते जो नितप्रति निर्देश ॥
धर्म-शुक्ल ध्यानों से जिनने, किया पूर्णवश मत्त-गजराज।
जिनको ज्ञायक बना ज्ञान ने, पाया नव वसन्त का साज ॥९॥

आर्त, रौद्र भ्रमरों को हैं जो, चंपक के से निर्मम फूल।
दर्शनमोह नष्टकर जिनने, ध्वंस किये भव-भव के शूल ॥
निजस्वरूप में दृढ़ होकर जो, करते भव-भव का कंदन।
ऐसे जगद्पूज्य सद्गुरु का, करता हूँ नितप्रति वंदन ॥१०॥

शास्त्र वन्दना—

श्री जिनेन्द्र के हृदय-कमल में, जो सम्यक् विधि से आसीन।
दृश्यमान् होते हैं जिसमें, ओम् ह्रीं श्री नित्य नवीन ॥

द्वादशांग हो हुई प्रस्फुटित, जिसकी श्रुतमय शुचितम धार।
जिसके कण-कण में 'कल कल' कर, बहता आत्म-तत्त्व का सार ॥११॥

तीनों ही कुज्ञान रहित है, जिसकी निर्मलतम काया।
भूल नहीं पड़ती है जिस पर, मिथ्यादर्शन की छाया ॥
श्री जिनेन्द्र का मुख-सरसीरुह, जिसका उद्गम तीर्थ महान्।
गणधरादि से व्यक्त सदा जो, बहती रहती एक समान ॥१२॥

मिथ्याज्ञान तिमिर को है जो, ज्ञानाञ्जन उपचार महान्।
जिसके वर्ण वर्ण में होते, दृश्यमान केवलि भगवान ॥
संशय, विपर्यादिक खगदल, जिसे देख उड़ जाता है।
ऐसी उस जिनवाणी माँ को, यह रज शीश झुकाता है ॥१३॥

देव गुरु शास्त्र को समुच्चय वन्दना—

जिन विभूतियों के ज्ञानों से, पाता स्वयं ज्ञान शृंगार।
ऐसे देव, शास्त्र, गुरु को हो, नमस्कार नित बारम्बार ॥
नमस्कार नित बारम्बार ॥१४॥

श्री तारण स्वामी ने तारणतरण श्रावकाचार में श्रावकों के लिये सर्व प्रथम चौदह गाथाओं में उपरोक्त प्रकार के सत्देव, सत्गुरु और सत्शास्त्र की अर्चना बन्दना करने का उपदेश किया है। क्योंकि धर्म के मूल ये ही तीन-देव, गुरु और शास्त्र हैं। जहाँ ये सत् स्वरूप हैं वहां समस्त धर्म सत्-धर्म रूप होगा। और जहाँ इनमें कोई भी प्रकार का दोष अथवा कल्पना की बात है वहां पर तो सत्-धर्म का अभाव ही जानो, क्योंकि मूल विना वृक्ष और नींव के विना महल की स्थिरता ही नहीं रह सकती। उन्हीं चौदह गाथाओं का यह पद्यानुवाद श्री चंचल जी ने 'सम्यक् आचार सम्यक् विचार' नामक ग्रन्थ में किया है। जो अनुभव और मनन करने योग्य है।

श्री तारणस्वामी के अपने सिद्धांत और उनमें श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों का समर्थन:—

किंचित मात्र उवएसं च, 'जिन तारन' मुक्ति कारणम् ॥

अर्थ—तारन स्वरूप जो तुम्हारा अन्तरात्मा एक मात्र वही मुक्ति का कारण रूप है, बस यही संक्षिप्त में उपदेश है।

जिनवाणी हृदयं चिंते, जिन उक्तं जिनागमे।
भव्यात्मा भावये नित्यं, पंथं मुक्तिश्रियं ध्रुवं ॥

अर्थ—हे भव्य ! जिनागम में कही गई जो जिन-उक्त वाणी, ऐसी उस जिनवाणी का हृदय में चिंतवन करो। भव्यात्माओं के द्वारा नित्य भावना की गई जिनवाणी ही मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करने का शास्वत मार्ग है।

तत्त्वादि सप्त तत्त्वानां, द्रव्यकाय पदार्थकं।
सार्धं करोति शुद्धात्मा, त्रिभंगी समयं किं करोति ॥

अर्थ—सात तत्त्व, छह द्रव्य, पंचास्तिकाय और नौ पदार्थ-इनका स्वरूप जानते हुए जो मानव शुद्धात्मा की श्रद्धा रखता है उस मानव की आत्मा का त्रिभंगी अर्थात् मन, वचन और काय की क्रिया क्या करेगी अर्थात् उसके मन, वचन और काय की क्रिया से आश्रव, बंध नहीं होगा।

वैराग्यं तिविहि उवनं, जनरंजन रागभाव गलियं च।
कलरंजन दोष विमुक्कं, मनरंजन गारवेन तिक्तं च ॥

अर्थ—हे मुमुक्षु ! यदि तुम्हें मोक्षाकाँक्षा उत्पन्न हुई है तो-तुम तीन बातों से वैराग्य भाव करो—अर्थात् कल कहिये शरीर को आनन्दित करने वाले दोषों को तथा मन को आनन्दित करने वाले गर्व को और पुरजन परिजनों को आनन्दित करने वाले रागभाव का त्याग करो।

तात्पर्य यह कि मनजनित राग, वचनजनित गर्व और शरीराश्रित समस्त दोषों को त्याग करने पर ही तुम्हारी मोक्षाकाँक्षा पूरी होगी।

जिनदिष्टि इष्ट संशुद्धं, इष्टं संजोय तिक्त अनिष्टं। (व)
इष्टं इष्टरूवं, ममल सहावेन कम्म संखिवनम् ॥ (अ)

अर्थ—हे भव्य ! इष्टरूप तुम्हारी अपनी आत्मा उसे ही तुम इष्टरूप समझो, क्योंकि आत्मा का जो निर्मल स्वभाव, उस निर्मल स्वभाव के द्वारा ही भली प्रकार कर्म खिपते हैं, अतः जिन-दृष्टि अर्थात् तुम्हारी अन्तर-आत्मदृष्टि, वही इष्ट है और तुम्हारी आत्मा को पूर्णरूपेण शुद्ध करने वाली है ऐसा जानकर इष्टरूप आत्मसंयोग के द्वारा अनिष्टरूप कर्मों को त्याग अर्थात् नाश करो—निर्जरा करो।

भावार्थ— कर्मनिर्जरा एकमात्र आत्मा के निर्मल भावों के द्वारा होती है, दूसरा ऐसा

कोई उपाय नहीं कि जिसके द्वारा कर्मों की निर्जरा होती हो, ऐसा जानकर आत्मा के निर्मल भावों के संयोग में ही सदैव रहो।

पुनश्च—उपरोक्त वचन की पुष्टि करने के हेतु कहते हैं:—

इष्टं च परम इष्टं, इष्टं अन्मोय विगत अनिष्टं ।

अर्थ—इष्ट ही परम इष्ट है उस ऐसी परमोत्कृष्ट जो तुम्हारी आत्मा उससे प्रीति करने पर ही तुम्हारे समस्त प्रकार के अनिष्ट दूर होंगे, ऐसा निश्चित सिद्धांत जानो।

भावार्थ—जिससे हमारी प्रीति होती है, उसे हम दुःखों में न डालकर उसे सदैव सुखी रखना चाहते हैं, ठीक उसी तरह यदि तुम्हारी प्रीति आत्मा से है तो उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा रागद्वेषादि विषय कषायों और पंचेन्द्रियजनित विषय-वासनाओं के विकल्परूप दुखों में डालकर समतारूप सुख में रखते हुए अपने आत्मानन्द का भोग करने दो, यही उससे सच्ची प्रीति करना है। इसके विपरीत जो अपनी आत्मा को विषयानन्द अथवा राग, द्वेष, मोहादि में फंसाते हैं वे उस अपनी आत्मा के शत्रु हैं, मित्र नहीं।

जिन उत्तं सद्दहनं अप्प परमप्प शुद्धममलं च ।
परम भाव उवलब्ध, धम्म सुभावेन कम्म विलयंति ॥

अर्थ—जिन उत्तं कहिये जिनवाणी पर श्रद्धान करके अपनी आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध, निर्मलस्वभाव वाली जानो, और उस स्वभाव की उपलब्धि करो, क्योंकि आत्मा का शुद्ध, निर्मल स्वभाव ही उसका अपना धर्म है कि जो धर्म ही कर्मों को विलीयमान करने वाला है अर्थात् आत्म धर्म से ही कर्मों की निर्जरा होती है यही सारभूत सिद्धान्त जिनवाणी में कहा है, उस पर श्रद्धान करो और अपनी आत्मा के निर्मल स्वभावरूप आचरण करो। बस यही कर्मसंवर और निर्जरा का मूल कारण है।

न्यानं अन्मोय विन्यानं, ममलसरूवं च मुक्तिगमनं च ।

अर्थ—हे भव्य! ज्ञान अर्थात् शास्त्रज्ञान (जिनवाणी) से प्रीति करने से अर्थात् उसके अध्ययन, मनन और परिशीलन करने से विज्ञान कहिये भेदज्ञान की प्राप्ति होती है और भेद-ज्ञान होने पर आत्मा का निर्मलस्वरूप प्रगट होता है जो निर्मलस्वरूप ही मुक्तिगमन कराने वाला कहा गया है।

शुद्धतत्त्वं च आराध्यं, वन्दना पूजा विधीयते ।

अर्थ—शुद्धतत्त्व जो आत्मा तत्त्वं च कहिये आत्मा तत्व का ज्ञान कराने वाली जो जिन-वाणी (शास्त्र) इन दोनों की वन्दना और पूजा विधिवत् अर्थात् यथार्थरूप से करने का ही उपदेश

भगवान ने किया है कारण कि निश्चयरूप से आत्मा की पूजा और व्यवहाररूप से शास्त्रपूजा यही पुण्यबंध तथा निर्जरा की कारण है।

उपरोक्त वचन की पुष्टिरूप गाथा जो पूजा-पाठ के अन्त की है:—

एतत् संमिक्त पूजस्य, पूजा-पूज समाचरेत् ।
मुक्तिश्रियं पंथं शुद्धं, व्यवहार निश्चय शाश्वतं ॥

अर्थ—भो श्रावको! उपरोक्त प्रकार कही गई जो पूजा, कैसी है, सम्यक् रूप है, इस ऐसी पूजा को ही पूज्य समझकर उस पूजारूप आचरण करो अर्थात् शास्त्र की पूजा यही कि जिनवाणी स्वरूप जे शास्त्र-वचन उन पर श्रद्धान करो। तथा आत्मा की पूजा यही है कि आत्मरूप जो आचरण, कैसा है वह आचरण, समतारूप, आनन्दरूप, निवृत्तिरूप और मंगलस्वरूप है।

ऐसी जो पूजा, मोक्षलक्ष्मी प्राप्त कराने वाली शुद्धमार्गानुसारी है, अर्थात् मोक्षमार्ग में सहायक है और व्यवहारनय तथा निश्चयनय इन दोनों नयों में शाश्वतस्वरूप है। भावार्थ यह कि उपरोक्त प्रकार की पूजा श्रावक और मुनियों दोनों को करने योग्य है।

आचार्य श्री तारण स्वामी कहते हैं कि और अधिक क्या कहें—

जे सिद्धनंतं मुक्तिप्रवेशं, ते शुद्धं स्वरूपं गुणमालग्रहितं ।
जे केवि भव्यात्म संमिक्त शुद्धं, ते जात-मोक्षं कथितं जिनेन्द्रं ॥

अर्थ—जो अनन्त सिद्ध मुक्ति को प्राप्त हुये हैं वे सब ही आत्मा के शुद्ध-स्वरूप गुणों को ही (गुणरूपी माला को ही) ग्रहण करके हुये हैं, तदनुसार जो कोई भव्यात्मा शुद्ध सम्यक्तरूप आत्मगुणों की माला को ग्रहण करेंगे वे भी मोक्ष जाने वाले होंगे, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य—

जिनवचन (जिनवाणी) ही सम्यक्त के कारण हैं—

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम् ।
जरामरणव्याधिहरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥

(अष्टपाहुड़ १७)

बहुत कहने करि कहा, सर्व सिद्धि शुद्ध भावों में ही है—

किं जल्पितेन बहुना अर्थो धर्मश्च काममोक्षश्च ।
अन्येऽपि च व्यापारा भावे परिस्थिताः सर्वे ॥१६२॥

(भावपाहुड)

जिनवचन विषैं दर्शन के तीन लिंग हैं चौथा नहीं—

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयं उत्कृष्टश्रावकानां तु ।
अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिंगदर्शनं नास्ति ॥

(अ० पा० १८)

अप्पाणं पि ण पिच्छइ ण मुणइ ण वि सद्दहइ ण भावेइ ।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घित्तूण किं करई ॥८८॥

(रयणसार)

अर्थ—जो अपनी आत्मा को नहीं देखता है, नहीं जानता है, आत्मा का श्रद्धान नहीं करता है, न आत्मा के स्वरूप को अपने भावों में लगाता है और न यह आत्मा अपनी आत्म-परिणति में तल्लीन होता है तो फिर बहुत दुःख की कारणभूत साधु अवस्था से भी क्या लाभ ?

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो तावं ।
तेण अणंतसुहाणं अप्पाणं भावए जोई ॥८९॥

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुद्दिट्ठं ॥९०॥

अर्थ—अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बिना सम्यक्त की प्राप्ति नहीं है और सम्यक्त के बिना मोक्षप्राप्ति सर्वथा नहीं है, यह श्री जिनेन्द्रदेव का सुदृढ़ निश्चित सिद्धांत है ।

तीर्थंकरभाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रंथितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥९०॥

(भावप्राभृत)

अर्थ—हे भव्य ! श्री तीर्थंकर-भाषित व श्री गणधरों द्वारा जो सम्यक् ग्रन्थ रचे गये हैं उनकी ही भावना-स्वाध्याय प्रतिदिन करो । क्योंकि शास्त्रज्ञान ही भावों की शुद्धि के लिये अतुलं कहिये प्रधान व समर्थ कारण है ।

योगीन्द्राचार्य

निज पर का अनुभव करे, पर तज ध्यावै आप ।
अन्तरात्मा जीव सो, नाश करै त्रय ताप ॥ ८ ॥
आप आपने रूप को, जानें सो शिव होय ।
पर में अपनी कल्पना, करै भ्रमै जग सोय ॥१२॥
स्वातम के जाने बिना, करै पुण्य बहु दान ।
तदपि भ्रमैं संसार में, मुक्ति न होय निदान ॥१५॥
जब तक आतम ज्ञान ना, मिथ्या क्रियाकलाप ।
भटकौ तीनों लोक में, शिवसुख लहौ न आप ॥२७॥
जो शुद्धातम अनुभवै, व्रत संयम संयुक्त ।
कहैं जिनेश्वर जीव सो, निश्चय पावै मुक्त ॥३०॥
लहै पुण्य से स्वर्गसुख, नर्क पड़ै करि पाप ।
पुण्य पाप तज आपमें, रमें लहै शिव आप ॥३१॥
व्रत तप संयम शील जिय, शिव कारण व्यवहार ।
निश्चयकारण मोक्ष को, आतम अनुभव सार ॥३२॥
एक सचेतन जीव सब, और अचेतन जान ।
सो चेतन ध्यावो सदा, तुरत लहौ शिवथान ॥३५॥
चेतन ही सर्वज्ञ है, अन्य अजीव न कोय ।
कहा कहत जिनमुनि यही, निश्चय जानों सोय ॥३८॥
जहां जीव तहँ सकल गुण, कहत केवली एम ।
प्रगट स्वानुभव आपका, निर्मल करो सप्रेम ॥८४॥
पुरुषाकार पवित्र अति, देखे आतम रूप ।
सो पवित्र हो शिव लहै, होवे त्रिभुवनभूप ॥६३॥

इस तरह कुन्दकुन्दाचार्य, योगीन्द्रदेवाचार्य इत्यादि सभी प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित आर्ष ग्रन्थों में श्री तारण स्वामी के सिद्धांत-पोषक हजारों प्रमाण पाठकों को मिलेंगे, जिनमें आत्मा की मान्यता-पूजा की तथा केवल एक जिनवाणी का आधार और उस आधार द्वारा भावों की शुद्धि करने पर ही मोक्षमार्ग बनता है । दूसरा कोई अवलम्बन मोक्षमार्ग नहीं ।

जैन सिद्धांत की एक यही तो सर्वोपरि विशेषता है कि यह जैन सिद्धांत भगवान् की प्रतिमा तो क्या, साक्षात् भगवान् की पूजा से भी मोक्षप्राप्ति नहीं मानता ।

केवल इसी तत्त्व का कथन श्री तारण स्वामी ने अपने 'श्री तारण तरण अध्यात्मवाणी जी' ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ की टीका और आद्योपान्त पठन, मनन, परिशीलन श्री ब्र० शीतलप्रसाद जी ने करते समय अनेक आचार्यों के उद्धरण देकर अपनी अनन्य-भक्ति श्री तारण स्वामी में प्रगट करते हुये लिखा है कि श्री तारण स्वामी का सिद्धांत बिलकुल कुन्दकुन्दाम्नायानुसार है। जो इनके ग्रन्थों को पढ़ेंगे और मनन करेंगे उन्हें कल्याण का मार्ग मिलेगा। और अन्त में यह भी लिखा है कि मैं जितना जितना अधिक श्री तारण स्वामी के ग्रन्थों का पठन तथा मनन करता हूँ उतनी उतनी ही अधिक भक्ति और श्रद्धा श्री तारण स्वामी के प्रति बढ़ती जाती है। तात्पर्य यह है कि श्री तारण स्वामी ने अपने ग्रन्थों में जिस अध्यात्म सिद्धांत का कथन किया है वह बिलकुल ही जैन सिद्धाँतानुसार सारभूत कथन है ऐसा जानना।

श्री तारण स्वामी के समर्थन में कुन्दकुन्द स्वामी

(भावपाहुड़-कुन्दकुन्द स्वामी)

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनो धर्म्मः ॥८१॥

अर्थ—जिनशासन विषैं जिनेन्द्रदेव ऐसें कहा है जो पूजा आदिक के विषैं अर व्रत-सहित होय सो तो पुण्य है, बहुरि मोह के क्षोभ करि रहित जो आत्मा का परिणाम सो धर्म है।

भावार्थ—देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग सहित पूजा-भक्ति-वैयावृतादि क्रिया तथा उपवा-सादि व्रत सो पुण्यबंधकारक है। जे केवल शुभपरिणाम ही कूं धर्म मानि संतुष्ट हैं तिनिके धर्म की प्राप्ति नाहीं है, यह जिनमत का उपदेश है।

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति।
पुण्यं भोगनिमित्तं न हु तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥८२॥

अर्थ—जे पुरुष पुण्य कूं धर्म जानि याका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करें हैं ताके पुण्य कर्म का बंध होय है, ताकरि स्वर्गादिक के भोग की प्राप्ति होय है, अर ताकरि कर्म का क्षयरूप संवर निर्जरा, मोक्ष न होय है।

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः।
संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टः ॥८३॥

अर्थ—जो आत्मा आत्मा ही विषैं रत होय, कैसा रत भया होय ? रागादिक समस्त दोषनि-करि रहित भया संता ऐसा धर्म जिनेश्वरदेव ने संसार-समुद्र तैं तिरणें का कारण कहा है ।

आगे कहे हैं जो-आत्मा को इष्ट नांही करै है अर समस्त पुण्य कूं आचरण करै है तौऊ सिद्धि कूं न पावै है;—

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषाणि ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनर्भणितः ॥८४॥

अर्थ—अथवा जो पुरुष आत्मा कूं नांही इष्ट करै है अर सर्व प्रकार समस्त पुण्य कूं करै तौऊ सिद्धि कहिए मोक्ष ताहि नहीं पावै है, बहुरि वह पुरुष संसार ही में तिष्ठा रहै है ।

भावार्थ—आत्मिक धर्म धारण किए बिना सर्व प्रकार पुण्य का आचरण करै तोऊ मोक्ष न होय, संसार में ही रहै है ।

एतेन कारणेन च तमात्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन ।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥८५॥

अर्थ—पूर्वे कहा जो आत्मा का धर्म तौ मोक्ष है, तिस ही कारण कहै हैं जो-हे भव्य जीव हो ! तुम तिस आत्मा कूं प्रयत्नकरि सर्व प्रकार उद्यमकरि यथार्थ जानो, बहुरि तिस आत्मा कूं श्रद्धो, प्रतीति करो, आचरो, मन वचन काय करि ऐसैं करो जाकरि मोक्ष पावो । भव्य जीवन कौं यही उपदेश है ।

मत्स्योऽपि शालिसिक्थोऽशुद्धभावो गतः महानरकम् ।
इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥८६॥

अर्थ—हे भव्य जीव ! तू देखि शालिसिक्थ कहिए तंदुल नामा मत्स्य है सो भी अशुद्ध-भाव स्वरूप भया संता सातवें नरक गया, इस हेतु तें तोकूं उपदेश करैं हैं जो अपने आत्मा कूं जानने कूं निरंतर जिनभावना भाय ।

भावार्थ—अशुद्धभाव से तंदुल मत्स्य जैसा सूक्ष्म जीव भी सातवें नरक गया तो बड़ा जीव क्यों नरक न जाय, तातें भाव शुद्ध करने का उपदेश है । अर भाव शुद्ध भये अपना पर का स्वरूप जानना होय है, अर अपना परका स्वरूप का ज्ञान जिनदेव की आज्ञा की भावना निरंतर भाये होय है; तातैं जिनदेव की आज्ञा की भावना निरंतर करना योग्य है ।

उपरोक्त प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पूजादि को केवल पुण्यबंध का कारण कहा जबकि आत्म-भावना करते हुए आत्मा को ही इष्ट मानना मोक्षप्राप्ति का कारण कहा । और निरंतर

जिन आज्ञा कहिए जिनवाणी की भावना भाने का उपदेश दिया कि जिनवाणी से ही अपना-परका स्वरूप जाना जाय है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी का प्रत्येक वचन श्री तारण स्वामी के सिद्धांत से मिलता है, क्योंकि यही सब तो श्री तारन स्वामी ने अध्यात्म-वाणी में कहा है।

अशुद्धभाव सहित बाह्य पाप करना तो नरक का कारण है ही, परन्तु बाह्य हिंसादिक पाप किए बिना केवल अशुद्ध भाव ही तिस समान है, तातैं भाव में अशुभ-ध्यान छोड़ि शुभध्यान करना योग्य है।

ऐसा भी जानना जो पहले राज्य पाया था सो पूर्वे पुण्य किया था ताका फल था, पीछे राज्य पाय कुभाव भये तब नरक गया। यातैं आत्मज्ञान बिना केवल पुण्य ही मोक्ष का साधन नाहीं है ऐसा जानना।

कर्म शुभाशुभ बांधि, उदै भरमै संसारै।
पावै दुःख अनन्त, चारों गति में डुलि सारै॥

काकंदीपुर का राजा सूरसेन व उसका रसोईया मांसभक्षी थे। दोनों मरण कर रसोईया तो राघौ मत्स्य भया व सूरसेन उसके पास ही तंदुल मत्स्य हुआ, तदुपरान्त मरण करि दोनों सातवें नरक गये।

काकंदीपुर के राजा सूरसेन की तो क्या, सुभौम व ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती भी संसारी तृष्णा रूप अशुभभावों के कारण आरंभ परिग्रह के पाप-भार से तथा रावण जैसा समर्थ पुण्यवान् अशुभभावों के फलस्वरूप सातवें नरक में गया।

इसी दृष्टि से—तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में पुण्य का मूल्य नहीं, केवल एक आत्मज्ञान का ही मूल्य है जो संसार-पार करने में समर्थ है, मूलकारण है।

यही कारण है जो श्री कुन्दकुन्द तथा तारण स्वामी ने बार बार यही उपदेश दिया कि भो भव्यो! केवल पुण्य में ही संतुष्ट मत हो, मोक्ष का मूलकारण जो आत्मज्ञान उसे प्राप्त करो, जिससे संसार से छूट सको। यह पुण्य का उदय तो अनेक जन्मों में भोगा और फल-स्वरूप नीची, ऊँची सभी गतियों के सुख, दुःख भोगे किन्तु उनसे आत्मा का कोई काम न चला केवल विडम्बना ही रही, ऐसा जानकर तत्त्वज्ञान की दृष्टि का उपयोग करो और उसके द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति करो।

अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़ में) श्री कुन्दकुन्द स्वामी

तत्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—तत्त्वरुचि है सो सम्यक्त्व है, तत्त्व का ग्रहण है सो सम्यग्ज्ञान है, परिहार है सो चारित्र है, ऐसा जिनवरेन्द्र तीर्थङ्करदेव ने कहा है। निवृत्तिरूप जो अन्तरंगक्रिया अर्थात् परिणति सो ही परिहार अर्थात् चारित्र जानना।

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् ।
दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो पुरुष दर्शन करि शुद्ध है सो ही शुद्ध है जातें दर्शनशुद्ध है सो निर्वाण कूं पावै है, बहुरि जो पुरुष सम्यग्दर्शन करि रहित है सो पुरुष इच्छितलाभ जो मोक्ष ताहि न पावै है।

इति उपदेशः सारो जन्ममरणहरं स्फुटं मन्यते यत्तु ।
तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ॥ ४० ॥

अर्थ—इति कहिये ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपदेश है सो सार है, जन्म-मरण का हरने वाला है तहां याकूं जो माने हैं, श्रद्धे है सो ही सम्यक्त्व कहा है सो मुनिनि कूं तथा श्रावकनि कूं सर्वही कूं कहा है तातें सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान-चारित्र कूं अंगीकार करो।

मदमायाक्रोधरहितः लोभेन विवर्जितश्च यो जीवः ।
निर्मलस्वभावयुक्तः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥४५॥

अर्थ—जो जीव मद, माया, क्रोध इनिकरि रहित होय बहुरि लोभ करि विशेष करि रहित होय सो जीव निर्मल, विशुद्धस्वभावयुक्त भया उत्तम सुख कूं पावै है।

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः सः भवति आत्मसमभावः ।
स रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥५०॥

अर्थ—स्वधर्म कहिये आत्मा का धर्म है सो चरण कहिये चारित्र है, बहुरि धर्म है सो आत्मसमभाव है सर्व जीवन विषैं समानभाव है, जो अपना धर्म है सो ही सर्व जीवनि में है अथवा सर्व जीवनि कूं आप समान मानना है। बहुरि जो आत्मस्वभाव सूं रागद्वेष करि रहित है काहू तें इष्ट अनिष्ट बुद्धि नाहीं है ऐसा चारित्र है सो जैसें जीव के दर्शन ज्ञान है तैसें ही अनन्य परिणाम है जीव ही का भाव है। रागद्वेष रहित भाव ही चारित्र है।

आस्रवहेतुश्च तथा भावो मोक्षस्य कारणं भवति ।
स तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥५५॥

अर्थ—जैसें परद्रव्य विषैं राग कर्मबन्ध का कारण पूर्वे कहा तैसा ही रागभाव जो मोक्ष निमित्त में भी होय तो भी आस्रव ही का कारण है कर्म का बंध ही करे है। रागभाव आत्मस्वभाव तें विपरीत है, आत्मस्वभाव कूं जाना नाहीं। राग कूं भला जानें सो अज्ञानी है।

भगवान महावीर के मोक्ष सिधारने पर गौतम गणधर को वियोग-जनित खेद उत्पन्न हुआ और तत्काल ही जब आत्मस्वरूप का विचार आया और जिस राग के कारण वियोग-जनित खेद हो रहा था उस राग को (भले ही वह भगवान के प्रति शुभराग था) भी कर्मबन्ध का कारण जानकर हेय समझा और उसे त्याग कर (आन्तरिक पश्चातापपूर्वक त्याग कर) आत्मध्यान में स्थिर हुये कि उसी दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इस जैन सिद्धाँत के मर्म को समझो। इस तत्त्वज्ञानदृष्टि से ही मोक्षमार्ग बनेगा, बच्चों के जैसा खेल करने से मोक्षमार्ग नहीं बनता। दूसरों की रामलीला और हम जैनियों के पंचकल्याणक नाटक में क्या अन्तर है ? कोई रञ्चमात्र अन्तर नहीं। किसी हद तक तो दूसरों की रामलीला इसलिये ठीक बैठती है क्योंकि वे राज अवस्था को मानते हैं किन्तु हम तो वैराग्य अवस्था को मानने वाले हैं तब नाटक कैसा ? —सम्पादक।

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकरः चतुष्कज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम् ।
ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणम् ज्ञानयुक्तोऽपि ॥६०॥

अर्थ—आचार्य कहें हैं देखो जाके नियम करि मोक्ष होनी है अर चार ज्ञान करि युक्त है ऐसे तीर्थंकर भी तपश्चरण करें हैं, ऐसा जानकर तपश्चरण करना योग्य है। क्योंकि तप करने से ही कर्मनिर्जरा होती है।

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति ।
तस्मात् यथाबलं योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत् ॥६२॥

अर्थ—जो सुखकरि भाया हुआ ज्ञान है सो उपसर्ग परीषहादि करि दुःखकूं उपजतें नष्ट हो जाय है, तातें यह उपदेश है जो योगी ध्यानी मुनि है सो तपश्चरणादि के कष्ट दुःख सहित आत्मा कूं भावै।

भावार्थ—तपश्चरण का कष्ट अंगीकार करि ज्ञान कूं भावै तो परीषह आये ज्ञानभावना तैं चिगै नाहीं, तातें शक्तिसारू दुःख सहित ज्ञान कूं भावना। सुख ही में भावै दुःख आये व्याकुल होय तब ज्ञानभावना न रहै; तातें यह उपदेश है।

येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम् ।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यादात्मनि स्वभावनाम् ॥७१॥

अर्थ—जा कारण करि परद्रव्य विषैं राग है सो संसार ही का कारण है, तिस कारण ही करि योगीश्वर मुनि हैं ते नित्य आत्मा ही विषैं भावना करें हैं ।

भगवान की मूर्ति की बात तो दूर रहो, साक्षात् भगवान भी तो परद्रव्य हैं । हमारी जो आत्मा वही हमारे लिये स्वद्रव्य है और उनकी आत्मा उनके लिये स्वद्रव्य थी। अत: वे भी सिद्धों का नहीं अपनी ही आत्मा का ध्यान करते थे और वही उपदेश दूसरों को दिया था। ऐसा नहीं कहा था कि भो श्रावको ! तुम हमारी मूर्ति बनाकर उसमें हमें आह्वान करना सो हम उसमें आ जाया करेंगे और हमारी पूजा से तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति अथवा पुण्य का लाभ हो जायगा ।

भगवान् तो बहुत बड़ी चीज हैं, गाँधी जी ने भी दि० ८-४-४६ के साप्ताहिक अर्जुन में लिखा था कि--यदि हमारे पीछे हमारी मूर्ति बनाकर उसकी मान्यता की गई तो काश ! हमारी आत्मा स्वर्ग में भी होगी तो वहाँ पर भी रुदन करेगी । क्योंकि मूर्ति की मान्यता होने पर सिद्धांत--मान्यता शिथिल होने लग जाती है और थोड़े काल पीछे उसका तो अभाव हो जाता है, केवल मूर्ति-मान्यता ही अपनी प्रधानता ले लेती है ।

बिलकुल यही दशा हम जैनियों की हुई, जो हमारे आप सबके सामने स्पष्ट है कि हमारा सिद्धांत हममें नहीं, केवल सिद्धांत ग्रन्थों में रह गया, हमारे धर्म की इतिश्री तो केवल मूर्ति में ही हो गई ।

—सम्पादक ।

निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च ।
शत्रूणां चैव बंधूनां चारित्रं समभावतः ॥७२॥

अर्थ--निन्दा-प्रशंसा विषैं, दुख-सुख विषैं, शत्रु, बन्धु और मित्र विषैं समभाव जो समता परिणाम, रागद्वेष से रहितपणा ऐसे भावतें चारित्र होय है ।

अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभंते इन्द्रत्वम् ।
लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वाणं यांति ॥७७॥

अर्थ—अबार इस पंचमकाल में भी जे जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र शुद्ध करि संयुक्त होय हैं ते आत्मा कूं ध्याय करि इंद्रपणा पावे हैं तथा लौकान्तिकदेवपना पावे हैं, बहुरि तहां से चयकर निर्वाण कूं प्राप्त होय हैं ।

देवगुरूणां भक्ताः निर्वेदपरंपरां विचिन्तयन्तः ।
ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥८२॥

अर्थ—जे मुनि देव गुरुनि के भक्त हैं बहुरि निर्वेद कहिये संसार, देह भोगतें विरागता को परम्परा कूं चिंतवन करें हैं, बहुरि ध्यान के विषें रत हैं, रक्त हैं, तत्पर हैं, बहुरि भला है चरित्र जिनका, ते ही मोक्षमार्गी हैं ।

निश्चय व्यवहारात्मक सम्यक्चारित्र जिनकें पाइये है ते ही मुनि मोक्षमार्गी हैं, मात्र भेषी मोक्षमार्गी नाहीं ।

उर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी ।
इति भावनया योगिनः प्राप्नुवंति हि शाश्वतं सौख्यम् ॥८३॥

अर्थ—मुनि ऐसी भावना करें जो मैं तीनों लोक में एकाकी हूं, दूसरा कोई मेरा नाहीं ते ही मोक्ष कूं पावैं हैं । जाकें निरन्तर एकाकी की भावना रहै है भेष लेय करि भी लौकिक जननिसूं लाज पाल अर्थात् अधिक स्नेह व्यवहार राखै है सो मोक्षमार्गी नहीं ।

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।
यो ध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्वः ॥८४॥

अर्थ—यह आत्मा ध्यान के योग्य कैसा है, पुरुषाकार है, बहुरि योगी है, मन वचन काय का जाके निरोध है, सर्वांग सुनिश्चल है, बहुरि वर कहिये श्रेष्ठ सम्यक् रूप ज्ञान अर दर्शन करि समग्र है, परिपूर्ण है, केवलज्ञान दर्शन जाकें पाइये है, ऐसा आत्मा कूं जो योगी ध्यानी मुनि ध्यावै है सो मुनि पाप का हरने वाला है, अर निर्द्वन्द्व है, रागद्वेष आदि विकल्पनि करि रहित है ।

एतत् जिनैः कथितं श्रवणानां श्रावकाणां पुनः पुनः ।
संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमं ॥८५॥

अर्थ—एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार तो उपदेश श्रमण जे मुनि तिनिकूं जिनदेव ने कह्या है। बहुरि अब श्रावकनि कूं कहिये है सो सुनो, कैसा कहिये है-संसार का तो विनाश करनेवाला अर सिद्धि जो मोक्ष ताका करने वाला उत्कृष्ट कारण ऐसा उपदेश है ।

आगें श्रावकनि कूं प्रथम कहा करना, सो कहैं हैं,—

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरिरिव निष्कंपम् ।
तद् ध्याने ध्यायते श्रावक दुःखक्षयार्थे ॥८६॥

अर्थ—प्रथम तो श्रावकनि कूं सुनिर्मल कहिये भले प्रकार निर्मल अर मेरुवत् निःकंप अचल अर चल मल अगाढ़ दूषणि रहित अत्यन्त निश्चल ऐसा सम्यक्त्व कूं ग्रहण करि तिसकूं ध्यान विषैं ध्यावना, कौन अर्थि-दुःख का क्षयके अर्थि ध्यावना।

भावार्थ—श्रावक पहिले तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व कूं ग्रहण करि जाका ध्यान करै, जा सम्यक्त्व की भावना तैं गृहस्थ के गृहकार्य सम्बन्धी आकुलता क्षोभ दुःख होय सो मिटि जाय है, कार्य के बिगड़ने सुधरने में वस्तु के स्वरूप का विचार आवै तब दुःख मिटै है।

सम्यग्दृष्टि कें ऐसा विचार होय है—जो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जाना है तैसा निरन्तर परिणमै है सो होय है, इष्ट अनिष्ट मान दुःखी सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचार तैं दुःख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है, तातैं सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है।

सम्यक्त्वं यो ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति स जीवः।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥८७॥

अर्थ—जो श्रावक सम्यक्त्व कूं ध्यावै है सो जीव सम्यग्दृष्टि है, बहुरि सम्यक्त्व रूप परिणया संता दुष्ट जे आठ कर्म तिनिका क्षय करै है।

भावार्थ—सम्यक्त्व का ध्यान ऐसा है जो पहलैं सम्यक्त्व न भया होय तौऊ याका स्वरूप जानि याकूं ध्यावै तो सम्यग्दृष्टि हो जाय है। बहुरि सम्यक्त्व भये याका परिणाम ऐसा है जो संसार के कारण जे दुष्ट अष्टकर्म तिनिका क्षय होय है, सम्यक्त्व होतें ही कर्मनि को गुणश्रेणी निर्जरा होने लगि जाय है, अनुक्रम तैं मुनि होय तब चारित्र अर शुक्ल ध्यान याके सहकारी होंय तब सर्व कर्म का नाश होय है।

किं बहुना भणितेन ये सिद्धा नरवरा गते काले।
सेत्स्यंति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ॥८८॥

अर्थ—आचार्य कहैं हैं जो—बहुत कहने करि कहा साध्य है, जे नरप्रधान अतीत काल विषैं सिद्ध भये अर आगामी काल विषैं सिद्ध होंयगे सो सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

ऐसा मत जानो जो गृहस्थ कै कहा धर्म है, सो यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है जो सर्व धर्मनि के अंगनि कूं सफल करै है।

ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि न मलिनितं यैः ॥८९॥

अर्थ—जिनि पुरुषनि ने स्वप्न में भी सम्यक्त्व कूं मलिन न किया ते ही पुरुष धन्य हैं

शूरवीर हैं, पंडित हैं, मनुष्य हैं। और ते ही भले प्रकार कृतार्थ हैं।

या बिना मनुष्य पशु समान हैं ऐसा सम्यक्त्व का माहात्म्य कह्या।

हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे।
निर्ग्रन्थे प्रावचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥९०॥

अर्थ—हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन, इनि विषैं श्रद्धान होते संते सम्यक्त्व होय है। ये ही सम्यक्त्व के बाह्य चिन्ह हैं।

आगे मिथ्यादृष्टि के चिन्ह कहैं हैं—

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिंगं च वन्दते यस्तु।
लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिर्भवेत् स हु ॥९२॥

अर्थ—कुत्सित देव, कुत्सित धर्म, कुत्सित भेष जो कोई लज्जातैं भयतैं मान बड़ाई के रत्तार्थ इनिकों वन्दै है वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥९४॥

अर्थ—जो जिनदेव का उपदेश्या या धर्म करै है सो सम्यग्दृष्टी श्रावक है, बहुरि जो उसके विपरीत धर्म कूं करै है सो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा जानों।

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति सुखरहितः।
जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुले जीवः ॥९५॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टि जीव है सो जरामरणनिकरि प्रचुर भया अरु हजारानि दुःखनि करि व्याप्त जो संसार ता विषैं सुख करि रहित दुःखी भया भ्रमैं है।

सम्यक्त्वं गुणः मिथ्यात्वं दोषः मनसा परिभाव्य तत्कुरु।
यत्ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु ॥९६॥

अर्थ—हे भव्य ! ऐसैं पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के गुण अर मिथ्यात्व के दोष तिनिकूं अपने मन करि भावना करि अर जो अपना मनकूं रुचै सो करो।

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम्।
स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् मनुत ॥१०३॥

अर्थ—हे भव्य जीव हो ! तुम या देह विषैं जो तिष्ठया ऐसा जो आत्मा ताहि जानों। कैसा है—लोक में नमने योग्य इन्द्रादिक हैं तिनिकरि तो नमने योग्य अर ध्यावने योग्य है, बहुरि जे तीर्थंकर स्तुति करने योग्य तिनकै हू स्तुति करने योग्य है, ऐसे आत्मा कूं जो कि देह विषैं तिष्ठे है ताकूं यथार्थ जानों।

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंचपरमेष्ठिनः।
तेऽपि हु तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥१०४॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठी हैं ते भी आत्मा विषैं ही चेष्टा रूप हैं आत्मा की अवस्था हैं तातैं मेरे आत्मा ही का शरण है, ऐसैं यह अन्तमंगल किया है।

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं सत्तपश्चैव।
चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥१०५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र अर सम्यक् तप, ये चार आरधना हैं ते भी आत्मा विषैं ही चेष्टारूप हैं, ये चारों आत्मा ही की अवस्था हैं, तातैं आचार्य कहैं हैं मेरैं आत्मा ही का शरण है।

एवं जिनप्रज्ञप्तं मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या।
यः पठति भृणोति भावयति स प्राप्नोति शास्वतं सौख्यम् ॥१०६॥

अर्थ—एवं कहिये ऐसैं पूर्वोक्त प्रकार जिनदेव नैं कहा ऐसा मोक्षपाहुड ग्रन्थ है ताहि जो जीव भक्ति भाव करि पढ़ै है याको बारंबार चिन्तवन रूप भावना करै है तथा सुनै है सो जीव शाश्वता सुख जो नित्य अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय सुख ताहि पावै है।

भावार्थ—मोक्षपाहुड में मोक्ष अर मोक्ष का कारण स्वरूप कहा है अर जे मोक्ष का कारण स्वरूप अन्य प्रकार मानैं हैं, तिनिका निषेध किया है।

ऐसें श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह मोक्षपाहुड गाथा १०६ (जिसमें से यह २८ गाथायें लिखीं) में सम्पूर्ण किया याका संक्षेप ऐसा जानना:—

जो यह जीव शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी चेतनास्वरुप है तोऊ अनादि तैं ही पुद्गल कर्म के संयोग तैं अज्ञान मिथ्यात्व राग द्वेषादिक बिभाव रूप परिणमै है तातैं नवीन कर्म बंध के संतान करि संसार में भ्रमै है। तहां जीव की प्रवृत्ति के सिद्धान्त में सामान्य करि चौदह गुणस्थान निरूपण किये हैं

तिनि में मिथ्यात्व के उदय करि मिथ्यात्व गुणस्थान होय है, अर सम्यक्त्व मिथ्यात्व दोऊ के मिलाप करि मिश्र गुणस्थान होय है, इस तीसरे गुणस्थान ताईं तो आत्मज्ञान का अभाव ही जानना, बहुरि जब काल लब्धि के निमित्त तैं जीवाजीव पदार्थनि का ज्ञान श्रद्धान भये सम्यक्त्व होय तब या जीव कूं अपना पर का अर हिताहित का हेय उपादेय का जानना होय है। तब आत्मा की भावना होय है तब अविरतगुण (अविरत सम्यग्दृष्टि) नामक चौथा गुणस्थान होय है, अर जब एक देश पर द्रव्य तैं निवृत्ति का परिणाम होय है तब जो एक देश चारित्र रूप पांचवाँ गुणस्थान होय है ताकूं श्रावक पद कहिये है, बहुरि सर्व देश पर द्रव्य तैं निवृत्ति रूप परिणाम होय सकल चारित्र छट्ठा गुणस्थान कहिये, यहीं से मुनिपणा का प्रारंभ जानना, इत्यादि।

ऐसें मोक्ष का अर मोक्ष के कारण का स्वरूप जिन आगम तें जानि अर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष का कारण कहा है, ताकूं निश्चय व्यवहार रूप यथार्थ जानि सेवना अर तप भी मोक्ष का कारण है सो भी चारित्र में अन्तर्भूत करि त्रयात्मक ही कहा है। ऐसैं इनि कारणनि तें प्रथम तो तद्भव ही मोक्ष होय है अर जेतें कारणनि की पूर्णता न होय ता पहिले कदाचित् आयु कर्म की पूर्णता हो जाय तौ स्वर्ग विषैं देव होय है, तहां भी यह वांछा रहै जो यह शुभोपयोग का अपराध है, यहां से चयकरि मनुष्य होऊँगा, तब सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग कूं सेय मोक्ष प्राप्त करूंगा, ऐसी भावना रहै है तब तहां संचय मनुष्य जन्म लेय मोक्ष कूं जाय है, पावै है।

अर अबार इस पंचमकाल में द्रव्य क्षेत्र काल भाव की सामग्री का निमित्त नांहीं तातैं तद्भव मोक्ष नांहीं, तौऊ जो रत्नत्रय कूं शुद्धता करि सेवै तौ यहाँ तैं देव पर्याय पाय पीछैं मनुष्य होय मोक्ष पावै है। तातैं यह उपदेश है जैसें बनैं तैसें रत्नत्रय की प्राप्ति का उपाय करना, तहाँ भी सम्यग्दर्शन प्रधान है, ताकर उपाय तो अवश्य चाहिये, तातैं जिन आगम कूं समझि सम्यक्त्व का उपाय तो अवश्य ही करना योग्य है, ऐसैं इस ग्रन्थ का संक्षेप जानों।

(प.) जयचन्द जी छावड़ा जयपुर।)

पाठको ! इस लेख में संसारी आत्मा को मोक्ष पाने तक कहीं भी प्रतिमा पूजन की आवश्यकता नहीं बताकर एकमात्र जिनागम को समझने की प्रेरणा की गई है कि जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन सबका जानना होय है और जानकर उन्हें मानकर चलने से ही मोक्षमार्ग बनै है। आगम के जानैं बिना मोक्षमार्ग नहीं बनै है अतः आगमज्ञान ही कार्यकारी है।

पाठको ! इस लेख में संसारी आत्मा को मोक्ष पाने तक कहीं भी प्रतिमा पूजन की आवश्यकता नहीं बता कर एकमात्र जिनागम को समझने की प्रेरणा की गई है कि जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन सबका जानना होय है और जानकर उन्हें मान कर चलने

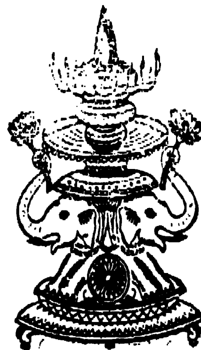
से ही मोक्षमार्ग बने है। आगम के जानें बिना मोक्षमार्ग नहीं बनै है, अतः आगम ज्ञान ही कार्यकारी है।

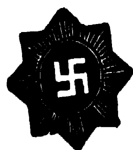
श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित जितने भी ग्रंथों का तथा उन्हीं में से यह अष्टपाहुड़ ग्रंथ का आद्योपान्त अध्ययन किया जिसकी प्रत्येक गाथाओं का और श्री तारण स्वामी रचित श्री अध्यात्मवाणी जी ग्रंथ की प्रत्येक गाथा का बिल्कुल एक ही सिद्धांत पाया गया। कहीं कोई रंचमात्र भी अन्तर नहीं पाया जाता।

प्रत्युत ऐसा ही लगता है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी के सिद्धांतों की जो अवहेलना भट्टारकों की स्वार्थपरता के कारण जैन समाज में हो रही थी उस भूल को दूर कर पुनः श्री कुंदकुन्द स्वामी के सिद्धांत की प्रतिष्ठा श्री तारण स्वामी ने की। सिद्धांतवेत्ता विद्वान इस सत्य से कभी इन्कार नहीं कर सके हैं और न कर ही सकेंगे, ऐसा मेरा आत्म-विश्वास है।

यदि कदाचित श्री कुन्दकुन्द स्वामी को मूर्ति की मान्यता अभीष्ट होती तो मोक्षपाहुड की (गाथा नं० ८५ से नं० १०६ तक) गाथा ९९ में स्पष्ट ही श्रावकों को उसकी मान्यता करने का विधि विधान अवश्य ही बताते। और उसे मानने पूजने वालों को मोक्षमार्गी नहीं तो कम से कम धर्मात्मापने के शब्दों से तो संबोधन अवश्य ही करते, किन्तु नहीं, कहीं रंचमात्र भी कोई चर्चा नहीं की है। इससे अधिक और क्या प्रमाण दें?

—ब्र० गुलाबचन्द।





मोक्ष--शास्त्र

(व्याख्याता श्री कानजी स्वामी के आधार पर)

भगवान महावीर स्वामी की और गौतम गणधर की जय ! कार्तिक वदी अमावस्या का वही दिन कि प्रातःकाल में भगवान महावीर मोक्ष सिधारे और सायंकाल में श्री गौतमगणधर को केवलज्ञान की जाग्रति हुई । ऐसा स्वर्णयोग क्यों मिला ?

भगवान के मोक्ष सिधारने से श्री गौतमगणधर को वियोगजनित कुछ शोक हुआ, क्योंकि भगवान महावीर के प्रति आपका शुभ राग था । राग दुःख का कारण होता ही है, जो आपको भी हुआ । कड़वी चीज सब को ही कड़वी लगेगी, चाहे गृहस्थ हो या मुनि । भले ही आप चार ज्ञान के धारी थे फिर भी छठवें गुणस्थान में चार संज्वलन और नो नो कषायों का सद्भाव तो रहता ही है । अतः शोक-कषाय उनके साथ भी अपना काम कर गई । किन्तु जब आपने उस कषायजनित कड़ुआपन का विचार किया, उसे हेय समझा और आत्म--बल के प्रयोग द्वारा चिंतवन करने लगे कि अरे ! हम नाहक शोक क्योंकर रहे हैं, कौन किसके साथ आता है और कौन किसके साथ जाता है । इस तरह के अनेक विचार बल के द्वारा भगवान के प्रति जो राग भावना थी उसे अपने हृदय से दूर करने का पुरुषार्थ करने लगे । राग को दूर करने के पुरुषार्थ में सफल होते ही आपको केवलज्ञान की जाग्रति हो गई । यदि कदाचित उस राग की कड़वाहट का आप अनुभव न करते और शुभ राग में मिठास मान कर जो वियोगजनित शोक उत्पन्न हुआ था वही बना रहता तो आप केवलज्ञान से वञ्चित रह जाते ।

यह राग आग दहे सदा, तातें समामृत सेइये ।
चिर भजे विषय कषाय, अब तो त्याग निज पद वेइये ॥

बस, आपने राग (भले ही वह भगवान से था, तो क्या) छोड़ कर 'निज पद जो आत्मा' उसका अवलोकन किया और केवलज्ञान सूर्य का प्रकाश पा लिया ।

"मार्ग सब का एक यही है कि शुभाशुभ राग को छोड़ने पर ही मोक्षमार्ग बनता है । मोक्ष का मार्ग मुनि पद से ही नहीं, उसे तो श्रावक पद से ही प्रारम्भ करना पड़ता है । मोक्ष-मार्ग की प्रथम भूमिका श्रावक अवस्था ही है, मुनि पद उगा हुआ वृक्ष है और उसमें लगा हुआ फल—मोक्ष है ।"



श्री गुरु तारण के अनन्य शिष्य

पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी महाराज

(सेमरखेड़ी के जंगल में तपस्या करते हुये)



भूमिका-लेखिका

त्यागमूर्ति बालब्रह्मचारिणी पूज्या श्री

विमलादेवी जी साहित्यरत्न, शास्त्री



भगवान महावीर ने जगत के जीवों के प्रति दुःख से मुक्त करने वाली करुणाबुद्धि से और संसार को असार जानकर आत्मकल्याण करने वाली वैराग्य--भावना से ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी। करुणाबुद्धि से उस समय की प्रचलित याज्ञिक हिंसा को बन्द कराने का प्रयत्न करते हुये फिर भी वे लक्ष्यबिन्दु यही रखते थे कि कब हम अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा इस शुभ राग से मुक्त होकर कैवल्य दशा को प्राप्त हों। इस पुरुषार्थ की सफलता पाने में आपको बारह वर्ष लगे और अन्त में ब्यालीस वर्ष की आयु में केवलज्ञान को प्राप्त किया तथा तीस वर्ष केवल-ज्ञानी बने रहकर जग-जीवों का कल्याण करके बहत्तर वर्ष की आयु में मोक्षधाम सिधारे।

मोक्षप्राप्ति के लिये जो भगवान महावीर ने किया, वही सब कुछ हमें करना होगा तथा और भी जो अनन्त जीव मोक्ष गये उन्हें जो कुछ करना पड़ा था वही सब कुछ भगवान महावीर को करना पड़ा, तब ही मोक्ष जा सके। अर्थात् शुभाशुभ राग से छूटने का आत्म-पुरुषार्थ उन्हें भी करना पड़ा था और हमें भी करना पड़ेगा। कुटुम्ब, धन, शरीरादि के राग को अशुभ राग और भगवान से करने वाले राग को शुभ राग कहते हैं।

जो शास्त्र न्याय की कसौटी—सम्यग्ज्ञान के द्वारा परीक्षा करने पर प्रयोजनभूत बातों में सच्चा-यथार्थ मालूम पड़े उसे ही सत्शास्त्र मानना चाहिये। किसी ग्रन्थ के कर्ता के रूप में तीर्थंकर भगवान का, केवली का, गणधर का या आचार्य का नाम दिया हो इसी लिए उसे सच्चा ही शास्त्र मान लेना सो न्यायसंगत नहीं है। मुमुक्षु जीवों को तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करके सत्य--असत्य का निर्णय करना चाहिये। भगवान के नाम से किसी ने कल्पित शास्त्र बनाया हो उसे सत् शास्त्र मान लेना सो सत्शास्त्र का अवर्णवाद है। इस लिए सत्यासत्य की परीक्षा कर असत्य की मान्यता छोड़ना चाहिये। क्योंकि असत् शास्त्र जीव का महान् अहित करते हैं।

ऋद्धिप्राप्त=ऋषि, अवधि--मनःपर्ययी=मुनि, इंद्रियजित=यति, और सर्वसाधारण साधु सो अनगार कहे जाते हैं। (साधु संघ चार प्रकार का इस तरह कहा गया है) तथा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकायें, यह भी चार संघ कहा गया है। पात्रदान में इन सबका स्थान है।

दुखित को देना-करुणादान, प्रीतिभोज-समदत्तिदान, सुपात्र को देना-पात्रदान और सर्वत्याग को सर्वदत्तिदान कहते हैं।

जो आत्मस्वभाव के स्वाश्रय से शुद्ध परिणमन है सो धर्म है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर यह धर्म प्रारंभ होता है। शरीर की क्रिया से धर्म नहीं होता, पुण्य विकार है अतः उससे धर्म नहीं होता तथा वह धर्म में सहायक नहीं होता। ऐसा धर्म का स्वरूप है। इससे विपरीत मानना सो धर्म का अवर्णवाद है। (मोक्षशास्त्र कानजी स्वामी)

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अपर्णवाद करना सो दर्शन मोहनीय कर्म के आश्रव के कारण हैं। (मो० अ० ६-१३)

चतुर्थ गुणस्थान—(सम्यग्दर्शन) साथ में ले जाने वाला आत्मा पुरुष-पर्याय में ही जन्मता है, स्त्री या नपुंसक में कभी भी पैदा नहीं होता।

ऐसा मानना कि केवली तीर्थंकर भगवान ने ऐसा उपदेश किया है कि 'शुभराग से धर्म होता है, शुभ व्यवहार करते करते निश्चय धर्म होता है' सो यह उनका अवर्णवाद है।

'भगवान ने शुभभाव के द्वारा धर्म होता है' यह जानकर शुभ भाव किये थे। 'भगवान ने तो दूसरों का भला करने में अपना जीवन ही अर्पण कर दिया था' इत्यादि रूप से भगवान की जीवन-कथा लिखना सो अपने शुद्ध स्वरूप का और उपचार से अनंत केवली भगवानों का अवर्णवाद है। (मोक्षशास्त्र कानजी स्वामी, पृष्ठ ५३२)

जब इतनी बारीक बारीक बातों को शिद्धांतविरुद्ध लिखने पर केवली--अवर्णवाद और श्रुत--अवर्णवाद का दोष लगकर दर्शनमोहनीय कर्म का आवरण--आश्रव होता है जो होना ही चाहिये, तब उनके नाम पर अथवा उनके द्वारा कही गई कह कर मनमानी सिद्धांतविरुद्ध क्रियायें करने और रागरंजित कुकथायें कथा--पुराण ग्रंथों में लिखने तथा मानने वालों को कितना अवर्णवाद--जनित दोष लगता होगा इस पर भी विचार हमें अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि दूसरों के घर की भूल से दूसरों की ही हानि होती है, अपनी कोई हानि नहीं होती। जबकि अपने घर की भूल से अपनी हानि नियम से होती है। अतएव हमें दूसरों की भूल बताने के पहले अपनी भूल को दूर कर देना चाहिये, तभी हमारा कल्याण होगा।

दूसरों की भूल कहने का प्रयोजन ही यह होना चाहिये कि यह भूल हममें तो नहीं है और यदि है तो न रहनी चाहिये।

पांच प्रकार के अवर्णवाद दर्शन मोहनीय के आश्रव के कारण हैं और जो दर्शनमोह है सो अनंत संसार का कारण है।

शुभ विकल्प से धर्म होता है, ऐसी मान्यता रूप अग्रहीत मिथ्यात्व तो जीव के अनादि से चला आया है। मनुष्यगति में जीव जिस कुल में जन्म लेता है उस कुल में अधिकतर किसी न किसी प्रकार से धर्म की मान्यता होती है। और उस कुल--धर्म में किसी को देवरूप से, किसी को गुरू रूप से, और किसी ग्रंथ--पुस्तक को शास्त्र रूप से तथा किसी क्रिया को धर्म रूप से माना जाता है। जीव को बचपन में इस मान्यता का पोषण मिलता है। ऐसी परिस्थिति के

प्रसंग से जीव विवेक पूर्वक सत्य-असत्य का निर्णय नहीं करता और सत्य-असत्य के विवेक से रहित दशा होने से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म की मान्यता से वंचित रहता है तथा भांति-भांति की मिथ्या कल्पना एवं मान्यतायें करता रहता है। यह मान्यता इस भव में नई ग्रहण की हुई होने से और मिथ्या होने से उसे ग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ये अग्रहीत और ग्रहीत मिथ्यात्व अनंत संसार के कारण हैं। इसलिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, धर्म का और अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ कर अग्रहीत तथा ग्रहीत दोनों मिथ्यात्व का नाश करने के लिये ज्ञानियों का उपदेश है। आत्मा को न मानना, सत्य मोक्षमार्ग को दूषित-कल्पित करना, असत् मार्ग को सत्य मोक्षमार्ग मानना, परम सत्य वीतरागी विज्ञानमय उपदेश की निंदा करना--इत्यादि जो जो कार्य सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं वे सब दर्शन--मोहनीय के आश्रव के कारण हैं, अनंत संसार के कारण हैं। (कानजी स्वामी)

उपरोक्त लेख का सारांश यही है कि-कुल अथवा जाति-परम्परागत देव गुरु शास्त्र और धार्मिक क्रियाओं को इस लिए ही सत्य नहीं मान लेना चाहिए कि ये तो हमारी परम्परागत मान्यतायें हैं। यदि असत्य होतीं तो हमारे पूर्वज क्यों मानते अथवा इस लिए सत्य हैं कि हमारे धर्म-ग्रंथों में लिखी हैं और इतने बड़े बड़े विद्वान मान रहे हैं। हमें स्वयं अपनी तत्त्वदृष्टि से उन पर विचार करना चाहिए। यदि निर्णय में ठीक उतरें तो मानना चाहिए, अन्यथा विशेष विद्वानों से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। और गलत साबित हों तो छोड़ देना चाहिए तथा जो सत्य प्रतीत हों उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए।

'हमारा धर्म ही सच्चा है' इस बुद्धि ने ही संसार का नाश किया है। कर्त्तव्य तो यह होना था कि हम जिस धर्म को मान रहे हैं उसकी जाँच-पड़ताल हमें बहुत विवेकपूर्वक करना चाहिए थी, सो यह तो नहीं किया जाता और आंख मूंद कर 'अंधश्रद्धा' से मानते चले जाते हैं। यदि कदाचित कोई हमारी मान्यता में भूल बताता है तो उसे धर्म-द्रोही मान लेते हैं। तब सम्यक्-मार्ग कैसे मिले ? यह कठिन समस्या सामने है। उपरोक्त भूल किसी एक सम्प्रदाय में नहीं, जैन-अजैनादि सभी सम्प्रदायों में है। अत: सब को ही इस पर विचार करना चाहिए। और यथार्थता को ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि सर्प और सिंह से पल्ला पड़ जाय तो एक ही जन्म के जीवन-मरण का सवाल सामने खड़ा होता है। किन्तु कुदेव कुगुरु कुशास्त्र और कुधर्म का पल्ला पकड़ लेने से तो भव-भव बिगड़ जाते हैं। जबकि यदि विवेकबुद्धि से ग्रहण किये हुए सुदेव सुगुरु सतशास्त्र और सुधर्म भव-भव का सुधार कर देते हैं, इतना ही नहीं संसार पार ही करा देने का मार्ग बता देते हैं। अतएव इस सम्बन्ध में आशा भय स्नेह और लोभ सारी बातों को छोड़ कर उचित निर्णय द्वारा इन्हें ग्रहण करना चाहिए। ऐसा उपदेश श्री तारण स्वामी का

और कुन्दकुन्दादि सभी आचार्यों का है। इसका हमें पूरा-पूरा ध्यान रखना योग्य है। हम सांसारिक कामों में जितनी अपनी बुद्धि लगा कर अपने सब काम बनाते हैं उससे सौगुनी बुद्धि का चातुर्य इसमें लगा कर अपनी आत्मा का परभव सुधारना चाहिये।

कुदेव--मिथ्या कुदेव--अदेव, कुगुरु--अगुरु, कुशास्त्र- अशास्त्र और कुधर्म- अधर्म, इनकी सत्य आलोचना करने को अवर्णवाद नहीं कहते, क्योंकि इस आलोचना में जीव-हित की भावना और वस्तुरूप की यथार्थता स्थापित होती है। यदि मिथ्यामत का निराकरण न किया जाय तो सत्य असत्य का निर्णय कैसे हो ? और जीव को सुमार्ग कैसे मिले ? हां, आलोचना होनी चाहिए हितदृष्टि से।

"बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।"

अर्थ—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह का होना नरकायु के आश्रव का कारण है।

बहु आरंभ-परिग्रह का जो भाव है सो उपादान कारण है और जो बाह्य बहुत आरम्भ-परिग्रह है सो निमित्त कारण है।

"माया तैर्यग्योनस्य।"

अर्थ—माया--छल कपट तिर्यंचायु के आश्रव का कारण है।

जो आत्मा का कुटिल स्वभाव है सो माया है।

"अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।"

अर्थ---थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रहपना मनुष्य आयु के आश्रव का कारण है। और यदि सम्यक्त हो गया हो तो कल्पवासी देव की आयु का बंध करते हैं।

"स्वभावमार्दवं च।"

अर्थ—स्वभाव से ही सरल परिणाम होना सो मनुष्यायु के आश्रव का कारण है। तथा देवायु के आश्रव का भी कारण है।

"निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्।"

अर्थ---शील और व्रत का जो अभाव है वह भी सभी प्रकार की आयु के आश्रव का कारण है।

इस सूत्र की रचना भोगभूमियाँ जीवों की अपेक्षा से प्रधानतया जानना, क्यों कि वहां के मनुष्य और पशु सभी देवायु का बंध करते हैं।

यह बात ध्यान में रहे कि मिथ्यादृष्टि के सच्चे शील या व्रत नहीं होते। मिथ्यादृष्टि जीव चाहे जितने शुभ रागरूप शील-व्रत पालता हो तो भी वह सच्चे शील-व्रत से रहित ही है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद यदि जीव अणुव्रत या महाव्रत को धारण करे तो उतने मात्र से वह जीव आयु के बंध से रहित नहीं हो जाता। सम्यग्दृष्टि के अणुव्रत और महाव्रत भी देवायु के आस्रव के कारण हैं, क्योंकि वह भी राग है। मात्र वीतरागभाव ही बंध का कारण नहीं होता। किसी भी प्रकार का राग हो वह तो आश्रव--बंध का ही कारण होता है।

"सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।"

अर्थ---सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बाल तप, ये देवायु के आस्रव के कारण है।

परिणाम बिगाड़े बिना मंद कषाय (शुभ भाव) रखकर दुःख सहन करना सो अकाम-- निर्जरा है। मिथ्यादृष्टि के अकामनिर्जरा और बालतप ही होता है। जब कि सम्यग्दृष्टि जीव के पांचवें गुणस्थान में संयमासंयम और छठवें गुणस्थान में सराग संयम होता है। ऐसा भी होता है कि सम्यग्दर्शन होने पर (चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव के) अणुव्रत तो नहीं होते परन्तु सम्यक्त के जो आठ गुण निःशंकितादि तथा प्रशमादि गुण हैं इन गुणों से वह जीव हिंसादि की प्रवृत्ति से निवृत्त होने की भावना रखता हुआ शोभायमान रहता है और व्यवहार दृष्टि से अपने कुल परम्परा के (जैन कुल के) सभी व्रत--नियमों को पालता है।

दर्शन--पूजा, स्वाध्याय, अनुकम्पा इत्यादि शुभ भाव, यह तो पहले गुणस्थान से चौथे तक सभी में हो सकते हैं। पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वर्ती और चौथे गुणस्थान वर्ती जीव में यह अंतर रहता है कि चौथे गुणस्थान वर्ती सम्यग्दृष्टि जीव में दर्शन-पूजा, अनुकम्पा इत्यादि जो शुभ भाव होते हैं उनके साथ उसकी रुचि संसार, शरीर और भोगों में नहीं रहती, उदास रहती है, वह संसार (गृहस्थ दशा) से छूटने का अभिलाषी हो जाता है। जबकि मिथ्यात्व गुणस्थान वर्ती जीव दर्शन--पूजा, स्वाध्याय, अनुकम्पा इत्यादि शुभभाव करने के साथ संसार, शरीर और भोगों में आसक्त रहता है तथा अपने अच्छे कामों के करने में फल की कामना रखता है कि हमारी कीर्ति प्रतिष्ठा कुटुम्ब--वैभव की वृद्धि हो।

सराग संयम और संयमासंयम में जितना वीतरागी भावरूप संयम प्रगट होता है उतने अंश में वह आस्रव का कारण नहीं है और जितने अंश में उसमें राग रहता है उतने अंश में वह राग आस्रव का कारण है। वह आस्रव देवायु का कारण होता है।

"सम्यक्त्वं च ।"

अर्थ--सम्यग्दर्शन भी देवायु के आश्रव का कारण है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ रहा हुआ जो राग है वह राग देवायु का कारण होता है। ध्यान रहे कि सम्यग्दर्शन के साथ शुभ राग ही होता है, अशुभ राग नहीं होता।

सम्यग्दर्शन स्वभावतः रागरहित और अबंध रूप है। उसे राग प्रिय नहीं लगता, अतः वह अपना बल राग को दूर करने में लगाया ही करता है। उसकी वह सफलता अव्रती से व्रती, व्रती से महाव्रती और महाव्रती से स्वरूपाचरण चारित्र की ओर बढ़ती हुई अन्त में इस आत्मा को केवलज्ञानी बनाकर मोक्ष प्राप्त करा देती है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा तिर्यंच को जो राग होता है वह वैमानिक देवायु के ही आश्रव का कारण होता है, हलके देवों का नहीं। सम्यग्दृष्टि के जितने अंश में राग नहीं है उतने अंश में आस्रव-बंध नहीं है और जितने अंश में राग है उतने अंश में आस्रव--बंध है। मिथ्यादृष्टि को किसी भी अंश में राग का अभाव होता ही नहीं, इसलिये वह सम्पूर्ण रूप से हमेशा बंध भाव में ही रहता है। मरण समय रौद्रध्यान हो तो नरकायु का आश्रव होता है, आर्तध्यान हो तो तिर्यंच आयु का और धर्मध्यान हो तो मनुष्यायु का तथा धर्मध्यान के साथ नियम संयम के भाव हों तो देवायु का आश्रव होता है। इसी लिये मरण समय बड़ी सावधानी रखनी चाहिये।

मिथ्यादर्शन सहित हीनाचार, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, दुष्ट परिणाम, दूसरों को दुख देने की भावना, वध बंधन करने की भावना, निरन्तर घातक भाव, परवध कारक झूंठ वचन, पर धन हरण, परस्त्री सेवन, अधिक मैथुन, अति आरम्भ, काम भोगों की उत्तरोत्तर वृद्धि, शील सदाचार रहित स्वभाव, अभक्ष भक्षण करना-कराना, अधिक काल तक बैर रखना, महा क्रूर स्वभाव, बिना विचारे रोने कूटने का स्वभाव, देव--शास्त्र-गुरु में मिथ्या दोष लगाना, कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान में मरण करना, ये सब नरकायु के कारण हैं।

मायाचारी से मिथ्याधर्म का उपदेश देना, बहुत आरम्भ परिग्रह में कपटयुक्त परिणाम रखना, कपट-कुटिल कर्म में कुशल, क्रोधी स्वभाव, शील रहित शब्द से--चेष्टा से तीव्र मायाचार, पर के परिणाम में भेद उत्पन्न करना, अति अनर्थ प्रगट करना, जाति कुल-शील में दूषण लगाना, विसंवाद में प्रीति रखना, दूसरों के उत्तम गुणों को छिपाना, अपने में जो गुण नहीं उन्हें बताना, नील-कापोत लेश्या, आर्तध्यान में मरण, ये तिर्यंचायु के कारण हैं।

मिथ्यात्व सहित बुद्धि, विनयशीलता, भद्र परिणाम, कोमल परिणाम, श्रेष्ठ आचरणों में सुख मानना, अल्प क्रोध, गुणी जनों के प्रति प्रिय व्यवहार, थोड़ा आरम्भ-परिग्रह रखना, संतोषी

भाव, हिंसा से विरक्त, बुरे कार्यों से निवृत्त होना, तथा मन में जो बात है उसे सरलता से उसी के अनुसार कहना, व्यर्थ की बकवाद न करना, परिणामों में मधुरता का होना, सभी लोगों के प्रति उपकारबुद्धि रखना, परिणामों में वैराग्यवृत्ति रखना, किसी के प्रति ईर्ष्याभाव न रखना, कापोत तथा पीत लेश्या का भाव रहना, धर्मध्यान में मरण होना, ये परिणाम मनुष्यायु के कारण हैं।

तप-त्याग, वैराग्य, संयम, शील दान इत्यादि शुभ भाव तथा पद्म-शुक्ल लेश्या के भाव देव आयु के कारण हैं।

उपरोक्त चारों गतियों के कारण रूप आस्रव के जो भाव हैं उन्हें भली भांति समझकर नरकायु तथा तिर्यंचायु के जो बंधकारक भाव हैं उन्हें सर्वथा ही छोड़ना चाहिये तथा मनुष्यायु और देवायु के कारण रूप जो भाव हैं उनका अवलम्बन रखना चाहिये। इतना ही नहीं, मनुष्य जन्म की सार्थकता तो इसमें ही है कि हम अपनी आत्मा को चारों ही गतियों से छुड़ाने का प्रयत्न करें। इसके लिये आवश्यकता है तत्त्वज्ञान की, आत्मज्ञान की और अध्यात्मग्रंथों के स्वाध्याय की।

ध्यान रहे, बहुत से भाई मात्र अपनी शुभ भावनाओं के होने से अपने को सम्यक्ती मान लेते हैं, उनकी यह मान्यता भ्रमरूप है; क्योंकि भावनाओं का सम्बन्ध तो लेश्याओं से है। कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के होने पर अशुभ भाव होते हैं और पीत, पद्म, शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं के होने पर शुभ भाव होते हैं। और इन छहों लेश्याओं का सद्भाव मिथ्या-दृष्टि में भी रहता है। अशुभ भावों से अधोगति और शुभ भावों से शुभगति होती है। परन्तु संसार-भ्रमण नहीं छूटता। चारों ही गतियां संसार-भ्रमणरूप हैं। यदि हम अपनी आत्मा को चारों ही गतियों के भ्रमण से छुड़ाना चाहते हैं तो हमें सम्यक्त की प्राप्ति करना चाहिये। यही कारण है कि श्री तारणस्वामी ने अपने अध्यात्मवाणी ग्रंथ में केवल वही सब विचारधाराएँ बताई हैं जो कि इस आत्मा को पुण्य-पाप से छुड़ाकर सम्यक्त प्राप्त कराने वाली हैं। मोक्ष की प्राप्ति करने वालों को सम्यक्त प्राप्त करना ही पहली सीढ़ी है, पुण्य प्राप्त करना पहली सीढ़ी नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

मोक्ष शास्त्र अध्याय ६ पृष्ठ ५३३ में कानजी स्वामी ने कहा कि--भगवान को पर का कर्त्ता ठहराना भगवान का अवर्णवाद है। तब भगवान को धातु-पाषाण की मूर्ति में कल्पना करना, प्राणप्रतिष्ठा करना और मूर्ति के अंग-भंग होने पर भगवान के अंग-भंग हुए मानकर शोक करना तथा जिन आरंभों का उनके त्याग हो चुका था वे आरंभ उनके नाम पर करना, तथा वे तो मोक्ष-धाम में विराजमान हैं और उन्हें गर्भ में हैं, जन्म हुआ है, ऐसा कहना और भगवान बिन पूजा के रह गए, यह सब क्या अवर्णवाद नहीं है?

श्रुत का अर्थ है शास्त्र, वह जिज्ञासु जीवों के आत्मा का स्वरूप समझने में निमित्त है इसलिये मुमुक्षुओं को सच्चे शास्त्रों के स्वरूप का भी निर्णय करना चाहिये।

दर्शन-विशुद्धि भावना की परिपूर्ण निर्मलता से सर्वोच्च पद तीर्थंकर प्रकृति का बँध होता है, जबकि उसकी निर्मलता की न्यूनता में सातावेदनीय के भोग कराने वाले दूसरे-दूसरे उच्च पद इस जीव को प्राप्त होते हैं।

दर्शन-विशुद्धि भावना हो जाने पर शेष पन्द्रह भावनायें हृदय में सद्भाव रूप से हो जाती हैं। यदि दर्शनविशुद्धि भावना प्रगट न हो तो शेष भावनायें यथार्थ रूप से हो हो नहीं सकतीं, व्यवहारिक रूप से भले ही हों। बिना इकाई के आगे की संख्या नहीं बनती।

यही बात उत्तम क्षमा धर्म की जानना। बिना उत्तम क्षमा के शेष धर्म हो ही नहीं सकते।

दर्शन-विशुद्धि भावना, उत्तम क्षमा धर्म, निःशंकित गुण, संवेगादि लक्षण, अनित्यादि भावना इत्यादि यह सब तो जंजीर के समान कड़ी की तरह एक के साथ एक प्रायः सभी बंधे रहते हैं, अर्थात् प्रथम भावना या गुण प्रगट होने पर शेष के सभी नियम से हृदय में सद्भावरूप से हो ही जाते हैं, रुकते नहीं।

विशेष यह कि जिस तरह एक दीपक के प्रकाश में घर की सब चीजें दिख जाती हैं ठीक उसी तरह एक सम्यक्त होने पर उपरोक्त सभी गुणों का सद्भाव हो जाता है।

"योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।"

अर्थ-भावार्थ—योग कहिए मन, वचन, काय में कुटिलता-वक्रता-जड़ता रखना और ऐसे प्रयोजन का विसंवाद करना-कहना कि जिससे दूसरों के मन, वचन काय में कुटिलतादि दूषित भावों की जाग्रति हो जाय, किसी से बुरा वचन बोलना, चित्त की अस्थिरता, कपटरूप हीनाधिक माप-तौल, पर को निंदा, अपनी प्रशंसा, किसी से ग्लानि करना, ग्लानित संकेतों से दूसरों को दुखी करना, ऐसे स्थान में मल-मूत्रादि का क्षेपण करना जिससे दूसरों को ग्लानि उत्पन्न हो, रूप की प्रशंसार्थ शरीर-श्रंगार तथा दूसरों के शरीर को रूपरहित करने इत्यादि की क्रिया या भाव, यह सब ही अशुभनाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।

"तद्विपरीतं शुभस्य।"

अर्थ—ऊपर से विपरीत सब अच्छाइयों का प्रयोग करना ही शुभनाम कर्म के आश्रव के कारण कहे हैं।

सोलह कारण भावनायें तीर्थंकर नाम कर्म के आश्रव की कारण हैं। सोलहकारण भावनाओं में दर्शनविशुद्धि ही मुख्य है। इसके अभाव में अन्य सभी भावनायें हों तो भी तीर्थंकर नाम कर्म का आश्रव नहीं होता और दर्शनविशुद्धि के सद्भाव में अन्य भावनायें हों या न हों तो भी तीर्थंकर नाम कर्म का आस्रव होता है।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध गृहस्थ तथा मुनि दोनों को ही हो सकता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि होने पर ही होता है।

सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ अन्य किसी से नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन ही शुरूआत-इकाई है और सिद्ध दशा उसकी पूर्णता है।

सम्यग्दृष्टि के जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है वह पुण्य भाव है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते। (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १६५-२-५४)

जिसे आत्मा के स्वरूप की प्रतीति नहीं उसके शुद्ध भावरूपभक्ति अर्थात् भाव-भक्ति तो होती ही नहीं, किन्तु इस सूत्र में कही हुई सत् के प्रति शुभराग वाली व्यवहारभक्ति अर्थात् द्रव्य-भक्ति भी वास्तव में नहीं होती, लौकिक भक्ति भले हो। (मो० शा० कानजी स्वामी पृ० ५५५)

अरिहंतों के सात भेद—१ पांच कल्याणी, २—तीन कल्याणी, ३—दो कल्याण वाले, ४—अतिशय केवली, ५—सामान्य केवली, ६—अन्तकृत केवली, ७—उपसर्ग केवली।

केवलज्ञान तो सब का एक सा ही होता है, यह उपरोक्त भेद तो पुण्य की न्यूनाधिकता अथवा निमित्त को बताने वाले हैं।

महाविदेह क्षेत्र के अलावा भरत-ऐरावत क्षेत्रों में जो तीर्थंकर होते हैं वे सभी पंचकल्याणक वाले होते हैं। गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, मोक्ष, यह पंचकल्याण कहे जाते हैं, परन्तु यह तो केवल उनके पुण्य-वैभव का दिग्दर्शन करना है, इस दिग्दर्शन से और उनके आत्म-कल्याण से कोई सम्बन्ध ही नहीं, हम यह दिग्दर्शन करें या नहीं करें।

दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना तथा प्रगट गुणों को छिपाना व अप्रगट गुणों को प्रसिद्ध करना सो नीच गोत्र के आश्रव के कारण हैं।

एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत तक सभी तिर्यंच नारकी जीवों को नीचगोत्र, देवों को उच्च गोत्र तथा मनुष्यों को दोनों प्रकार के गोत्र का उदय रहता है।

पर प्रशंसा, आत्म निन्दा, नम्र वृत्ति होना, मद का अभाव, यह उच्च गोत्र कर्म के आश्रव के कारण हैं।

दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना सो अन्तराय कर्म के आश्रव के कारण

प्राणियों के प्रति और व्रतधारियों के प्रति अनुकम्पा दया, दान, सराग संयमादि के योग, क्षमा और शौच, अर्हंतभक्ति इत्यादि सातावेदनीय कर्म के आश्रव के कारण हैं।

अपने में, पर में और दोनों के विषय में स्थित— दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, बध और परिवेदन, ये असाता वेदनीय कर्म के आश्रव के कारण हैं।

ज्ञान और दर्शन के सम्बन्ध में आये हुये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय, आसादान और उपघात, ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्माश्रव के कारण हैं।

सर्व ज्ञानों में आत्मज्ञान अधिक पूज्य है, वैसे ही बाह्य पदार्थों के दर्शन करने से अंतर्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। (कानजी स्वामी)

बाह्य पदार्थ यानी--अरहंत देव, निर्ग्रन्थ मुनि और शास्त्र इस तरह देव, गुरु शास्त्र ये बाह्य पदार्थ ही हैं, इनके (साक्षात् अरहन्त देव, मुनि और शास्त्र) दर्शन से आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसी तरह सम्पूर्ण शास्त्रों अथवा उनके द्वारा हुये तीन लोक के समस्त पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा आत्मज्ञान ही पूज्य है, कल्याणकारी है।

आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मों का आस्रव प्रति समय हुआ करता है।

शंकाः—दुख में असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है तो मुनियों को केशलौंच, अनशन, तप, आतापन योग इत्यादि में भी तो दुःख होता होगा, तब उन्हें भी यही आश्रव होता होगा जैसा कि क्रोधादि कषाय के द्वारा दुःख में होता है।

समाधानः—सम्यग्दृष्टि मुनियों को दुःख नहीं होता प्रत्युत वैराग्य भावना की प्रबलता का आनन्द आता है। हाँ, जो मिथ्यादृष्टि मुनि मान पोषणार्थ उपरोक्त क्रियायें करते हैं और लोकलज्जा की दृष्टि से खेद सहन करते हैं उन्हें तो असाता वेदनीय कर्म का ही आश्रव होता है, इसलिये जैनधर्म में हठयोग नहीं ज्ञानयोग और कर्मयोग को ही मान्यता दी गई है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों एक साथ रहते हैं पृथक्-पृथक् नहीं रहते। कर्मयोगी को ज्ञानयोगी और ज्ञानयोगी को कर्मयोगी की अपनी मर्यादा के भीतर रहना अनिवार्य है।
यह दशा छठवें गुणस्थान तक की जानना। हां, सातवें गुणस्थान जहां से ध्यानावस्था होती ही है वहां से मात्र ज्ञानयोग रह सकता है, क्योंकि अन्त में ज्ञानयोग पर पहुँचने और उसकी पूर्णता होने पर ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

कर्मयोग मानी कर्तव्य योग, ज्ञानयोग मानी आत्म-योग। ध्यान अवस्था के नहीं रहने पर इन दोनों का उपयोग रहता है जबकि ध्यानावस्था में केवल ज्ञान योग रहता क्या है चित्त की स्थिरता पूर्वक रखना ही चाहिये, तभी ध्यान की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं होती।

हठयोग असाता वेदनी आदि अशुभ कर्मबंध का कर्मयोग साता वेदनी आदि शुभ कर्मबंध का और ज्ञानयोग कर्म निर्जरा का कारण होता है। अतः आत्मकल्याणकारी तो अन्त में केवल एक ज्ञानयोग ही है।

मिथ्यात्व को अनुसरण कर जो कषाय बंधती है उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। यह आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र को रोकती है। शुद्धात्मा के अनुभव को स्वरूपाचरण चारित्र इसका कहते हैं। प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है और चौदहवें गुणस्थान में इसकी पूर्णता होकर सिद्ध दशा प्रगट होती है।

अभव्य जीव को मनःपर्यय ज्ञान तथा केवलज्ञान की प्राप्ति करने की सामर्थ्य नहीं होती।

आत्मा के स्वरूप को तथा देव गुरु शास्त्र धर्म के स्वरूप को अन्यथा मानने की रुचि को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं।

उत्तम क्षमादि दशधर्मों में उत्साह न रखना, इसे सर्वज्ञ देव ने प्रमाद कहा है। जिसके मिथ्यात्व और अविरत हो उसके प्रमाद तो होता ही है।

卐

व्रत और उसके प्रकार

"निःशल्यो व्रती"—मिथ्यादर्शन आदि शल्य रहित जीव ही व्रती होता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि के कभी व्रत होते ही नहीं, सम्यग्दृष्टि जीव के ही यथार्थ व्रत हो सकते हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थों के प्रति ममत्व रूप परिणाम—इन पांच पापों से (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना सो व्रत है।

भगवान ने मिथ्यादृष्टि के शुभ राग रूप व्रत को बाल व्रत कहा है। 'बाल व्रत का अर्थ अज्ञान व्रत है'। (समयसार गा० १५२)

अणुव्रत-महाव्रत रूप जो चारित्र सो बाह्य चारित्र है व्यवहार चारित्र है। आत्मकल्याणकारी तो अंतरंग चारित्र होता है। सम्यग्दृष्टि जीव के स्थिरता की वृद्धि रूप जो निर्विकल्प दशा है सो निश्चय व्रत है उसमें जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में यथार्थचारित्र है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने के बाद पर द्रव्य के आलंबन को छोड़ने रूप जो शुभ भाव है सो अणुव्रत-महाव्रत है, उसे व्यवहार व्रत कहते हैं। यद्यपि इस व्यवहार व्रत की आवश्यकता है, किन्तु यह कल्याणकारी तभी है जबकि उपरोक्त निश्चयरूप व्रत व यथार्थचारित्र इसके साथ में हो।

अव्रत—पाप बंध का और अणुव्रत महाव्रत पुण्य बंध का तथा निश्चय-व्रत चारित्र कर्म निर्जरा का कारण है।

राग द्वेष रूप संकल्प विकल्पों की तरंगों से रहित तीन गुप्तियों से गुप्त समाधि में शुभाशुभ के त्याग से परिपूर्ण व्रत होता है।

सम्यग्दृष्टि के जो शुभाशुभ का त्याग और शुद्ध का ग्रहण है सो निश्चय व्रत है और उनके (सम्यग्दृष्टि के) अशुभ का त्याग और शुभ का जो ग्रहण है सो व्यवहार व्रत है—ऐसा समझना।

मिथ्यादृष्टि के निश्चय या व्यवहार दोनों में से किसी भी तरह के व्रत नहीं होते। तत्त्व ज्ञान के बिना महाव्रतादिक का आचरण मिथ्याचारित्र ही है। सम्यग्दर्शन भूमि के बिना व्रत रूपी वृक्ष ही नहीं होता।

निश्चय व्रत अर्थात् स्वरूप स्थिरता अथवा सम्यक् चारित्र, ये तीनों एकार्थवाची हैं और यही आत्मकल्याण करने वाले हैं।

जीवों को सबसे पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करके सम्यग्दर्शन ज्ञान प्रगट करना चाहिये, उसे प्रगट करने के बाद निज स्वरूप में स्थिर रहने का प्रयत्न करना और जब स्थिर न रह सके तब अशुभ भाव को दूर कर देशव्रत महाव्रतादि शुभभाव में लगे, किन्तु उस शुभ को धर्म (आत्म-धर्म) न माने तथा उसे धर्म का अंश या साधन न माने। पश्चात् उस शुभ भाव को दूर कर निश्चय चारित्र प्रगट करना चाहिए। यह मो० शा० अ० ७ के पहले सूत्र का सिद्धान्त है।

मिथ्यात्व सदृश महापाप को मुख्य रूप से छुड़ाने की प्रवृत्ति या उपदेश न करना और कुछ बातों में हिंसा बताकर उसे छुड़ाने की मुख्यता करना सो क्रमभंग उपदेश है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ५ पृष्ठ ५२६)

एकदेश वीतरागता और श्रावक की व्रतरूप दशा के निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है, अर्थात् एक देश वीतरागता होने पर श्रावक के अणुव्रत होते ही हैं। इसी तरह वीतरागता और महाव्रत के भी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। धर्म की परीक्षा अन्तरंग वीतराग भाव से होती है, शुभभाव और बाह्य संयोग से नहीं होती। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

सम्यग्दृष्टि अभिप्राय में निर्भय और निःशंक रहता है। चारित्र की अपेक्षा से तो आठवें गुणस्थान पर्यंत भय का सद्भाव माना गया है।

मिथ्यादृष्टि द्रव्य लिंगी मुनि पांच महाव्रत निरतिचार पालते हैं, उनके भी निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रत्याख्यान नहीं होते, क्योंकि ये भावनाएँ पांचवें और छट्टे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के ही होती हैं, मिथ्यादृष्टि के नहीं होतीं।

क्रोध, लोभ, भय, हास्य तथा अनुवीचि भाषण ये पांच भावनाएँ अर्थात् क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भय त्याग, हास्य त्याग तथा सत्य वचन बोलना सत्यव्रत की भावानायें हैं। अनुवीचि भाषण यह भावना भी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही शास्त्र के मर्म की खबर है, इसी लिये वह सत् शास्त्र के अनुसार निर्दोष वचन बोलने का भाव करता है। इस भावना का रहस्य यह है कि सच्चे सुख की खोज करने वाले को जो सत् शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता हो और अध्यात्म रस द्वारा अपने स्वरूप का अनुभव भया हो ऐसे आत्मज्ञानी की संगति पूर्वक शास्त्र का अभ्यास करके उसका मर्म समझना चाहिये।

शास्त्रों में भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रयोजन साधने के लिये अनेक प्रकार का उपदेश दिया है, उसे यदि सम्यग्ज्ञान के द्वारा यथार्थ प्रयोजन पूर्वक पहिचाने तो जीव के हित-अहित का निश्चय हो। इसलिये 'स्यात्' पद की सापेक्षता सहित जो जीव सम्यग्ज्ञान द्वारा ही प्रीति सहित जिन वचन में रमता है वह जीव थोड़े ही समय में स्वानुभूति से शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

मोक्षमार्ग का प्रथम उपाय आगम का ज्ञान कहा है, इसलिये सच्चा आगमज्ञान क्या है इसकी परीक्षा करके आगमज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगमज्ञान के बिना धर्म का यथार्थ साधन नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु जीव को यथार्थ बुद्धि के द्वारा सत्य आगम का अभ्यास करना और उसके द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसी से ही जीव का कल्याण होता है। (मो० शा० ५७४)

उपरोक्त लेख में मोक्षमार्ग का प्रथम उपाय आगमज्ञान कहा है, न कि मूर्ति का दर्शन-पूजन करना, जैसी कि सर्व साधारण लोगों की धारणा-मिथ्या धारणा है। इसी तरह सत्य आगम का अभ्यास करना ही सम्यग्दर्शन प्रगट करने का साधन बताया है, न कि पूजन-प्रक्षाल।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान से ही आत्मज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान पूजन-प्रक्षाल से नहीं, आगम अभ्यास से ही होता है। आगम भी अध्यात्मज्ञान की चर्चा वाले हों, न कि राग-रंजित करने वाले कथा पुराण या सांसारिक प्रलोभन देने वाली कल्पित एवं मिथ्यात्वपोषक कथा पुस्तकें। इनसे जिन वचन का मर्म नहीं समझा जा सकता प्रत्युत उल्टा ही असर आत्मा में होकर सांसारिक कामनायें बढ़ जाती हैं। रत्न की परख करना चतुराई नहीं, सच्ची चतुराई तो शास्त्र की परख करने में है कि जिसके द्वारा आत्मा का कल्याण होना है। यदि ठीक परख न कर सकोगे तो आत्मा का महान् अहित होगा और वह संसार में अधिक भटक जायगी।

जिसने मिथ्यात्व छोड़ा हो वही असंयत सम्यग्दृष्टि, देशव्रति और सर्वविरति-महाव्रती हो सकता है।

मात्र कुदेवादिक की मान्यता छोड़ देने भर से मिथ्यात्व छोड़ दिया नहीं समझ लेना चाहिये। हृदय में जो विपरीत श्रद्धान बैठा है कि जिसके कारण संसार से मोह और रागद्वेष की परिणति तथा क्रोधादि कषायें लगी हैं उन्हें छोड़ने पर तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र अथवा धर्म-आत्मधर्म की मान्यता हो तब मिथ्यात्व छोड़ दिया समझना चाहिये।

हम अरहंत भगवान की पूजा-वंदना-भक्ति करते हैं, जैन मुनियों को मानते हैं, जैन शास्त्र पढ़ते या सुनते हैं, तथा हमने जैन कुल में जन्म लिया है अथवा दूसरे धर्म वालों की निन्दा करते हैं इतने में ही अपने को सम्यक्ती नहीं मान लेना चाहिये। सम्यक्ती बनने के लिये तो आत्मज्ञान चाहिये और आत्मज्ञान के लिये अध्यात्म ग्रन्थों की स्वाध्याय करना चाहिये तब कहीं सम्यक्ती बन सकोगे।

प्राणीमात्र के प्रति निर्वैर बुद्धि, अधिक गुण वालों के प्रति प्रमोद-हर्ष, दुःखी रोगी जीवों के प्रति करुणा और हठग्राही मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रति माध्यस्थ भावना—ये चार भावना अहिंसादि पांच व्रतों की स्थिरता के लिये बार बार रखना, चिन्तवन करना योग्य है।

कोई क्रिया जड़ है कोई शुष्क ज्ञानी है और इन दोनों को मोक्षमार्ग मान रहे हैं, ऐसे अज्ञानियों के प्रति भी ज्ञानी पुरुष करुणा भाव ही रखते हैं, द्वेष नहीं करते। क्योंकि वे विचारे वस्तुरूप के विवेक से रहित हैं अथवा खोटी गति में ले जाने को कर्म की प्रेरणा के आधीन हैं।

अनन्त जीवों में कुछ सुखी हैं और बहु संख्या के जीव दुःखी हैं। जो जीव सुखी हैं वे सम्यग्ज्ञान से ही सुखी हैं, विना सम्यग्ज्ञान के कोई जीव सुखी नहीं हो सकता, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है। इस तरह सुख का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है और सुख की पूर्णता सिद्ध दशा में होती है। स्वरूप-आत्म स्वरूप को नहीं समझने वाले मिथ्यादृष्टि जीव दुखी हैं।

जीव में जितने अंश में राग-द्वेष का अभाव होता है उतने अंश में वीतराग-ज्ञान-आनन्द सुख का सद्भाव होता है।

श्री तारण स्वामी ने सम्यग्दृष्टि जीवों को संवेग और वैराग्य के लिये संसार-शरीर और भोगों के स्वभाव का चिंतवन करने के लिये कहा है। बारबार चिन्तवन करने को कहा है। क्योंकि यह चिंतवन धर्मानुराग तथा वैराग्य भावना का प्रेरक है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही संसार, शरीर और भोगों के स्वभाव का यथार्थ विचार कर सकता है।

जबकि मिथ्यादृष्टि जीव यथार्थ विचार नहीं करता। हां, वचनों से भले ही बड़ी बड़ी बातें वैराग्य की करता है, किन्तु इस तरह की कपट-छल की बातों से कोई कल्याण नहीं होता।

सच्चे ज्ञानपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। आत्मा के स्वभाव को जाने बिना यथार्थ वैराग्य नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना मात्र जगत और शरीर की क्षणिकता के लक्ष्य से हुआ वैराग्य अनित्य जागृति है। इस भाव में धर्म नहीं है। धर्म तो आत्मज्ञान के प्रकाश में है।

आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणाम को घातने वाला भाव ही सम्पूर्ण हिंसा है, अतः अपने व पर के शुद्धोपयोग को घात करने वाली कोई भी क्रिया मन, वचन, काय की भूलकर भी न करनी चाहिये।

राग-द्वेष मोहादि भावों की उत्पत्ति सो हिंसा है और नहीं होना सो ही अहिंसा है। यह जैनधर्म का रहस्यपूर्ण सिद्धांत है। सम्यग्दर्शन पूर्वक अभ्यास से परमार्थ सत्य कथन की पहिचान हो सकती है और उसके विशेष अभ्यास से सहज उपयोग (आत्म-उपयोग) रहा करता है। सहज उपयोग-मानी आत्म-उपयोग या सहजानन्द।

उज्वल वचन, विनय वचन और प्रिय वचन रूप भाषावर्गणा समस्त लोक में भरी हुई है, उसकी कुछ न्यूनता नहीं, कुछ कीमत देनी नहीं पड़ती, और फिर मीठे कोमल रूप बचन बोलने से जीभ नहीं दुखती, शरीर में कष्ट नहीं होता, ऐसा समझ कर असत्य वचन को दुःख का मूल जानकर असत्य का त्याग और सत्य तथा हित, मित और प्रिय वचन की प्रवृत्ति करनी चाहिए।

खाज खुजाने के सुखाभास में जिस तरह दुःख का ही भोग करना पड़ता है ठीक यही दशा इन्द्रियजनित सुखाभास की है, किन्तु फिर भी न जाने क्यों अज्ञानी-मोही-विषय लम्पटी जीव भोगों में प्रियता मानकर दोनों भवों का नाश करते हैं।

निराकुलता ही सच्चा सुख है। बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान के वह सुख नहीं हो सकता।

धन-संचय तथा कुटुम्ब-वृद्धि में कल्पना का रंचमात्र सुख और आकुलता का अपार दुःख सहन करना पड़ता है।

जो मुनि (द्रव्यलिंगी) जिनप्रणीत तत्त्वों को मानता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि है। वह शरीरादि क्रियाकांड को अपना मानता है, आस्रव बन्ध रूप शील संयमादि परिणामों को वह संवर निर्जरा रूप मानता है। और यद्यपि वह पाप से विरक्त होता है परन्तु पुण्य में उपादेय बुद्धि रखता है, इसलिये उसे तत्त्वार्थ की यथार्थ श्रद्धा नहीं; अतः वह मिथ्यादृष्टि है। 'द्रव्यलिंगी मुनि की भांति द्रव्यलिंगी श्रावक भी मिथ्यादृष्टि होता है।

भावलिंगी मुनि सम्यग्दृष्टि होता है, उसी तरह भावलिंगी श्रावक भी सम्यग्दृष्टि होता है। भावों की ही प्रधानता है।

पर द्रव्य को हितकारी या अहितकारी मानना सो मिथ्यात्व सहित राग है। पर द्रव्य चाहे शुभ रूप हों या अशुभरूप।

जो अपने को या पर को पर द्रव्य का कर्तृत्व मानता है वह चाहे लौकिक जन हो या मुनि जन, मिथ्यादृष्टि ही है।

सम्यग्दृष्टि पर द्रव्यों को बुरा नहीं जानता; वे ऐसा जानते हैं कि पर द्रव्य का ग्रहण या त्याग हो ही नहीं सकता। वह अपने रागभाव को बुरा जानता है इसीलिये सरागभाव को छोड़ता है और उसके निमित्त रूप द्रव्यों का भी सहज में त्याग हो जाता है।

पदार्थ का विचार करने पर तो कोई पदार्थ पर द्रव्य भला या बुरा है ही नहीं। मिथ्यात्व भाव ही सबसे बुरा है। सम्यग्दृष्टि ने वह मिथ्या भाव तो पहले ही छोड़ा हुआ है।

शल्य का अभाव हुये बिना कोई जीव हिंसादिक पाप भावों के दूर होने मात्र से व्रती नहीं हो सकता। शल्य का अभाव होने पर व्रत के सम्बन्ध से व्रतीत्व होता है, इसी लिये सूत्र में निःशल्य शब्द का प्रयोग किया गया है।

पंचाणुव्रत तथा सप्त शील व्रत (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) ये श्रावक के बारह व्रत हैं। जो अणुव्रतों को पुष्ट करे सो गुणव्रत तथा जिससे मुनिव्रत पालन करने का अभ्यास हो वह शिक्षाव्रत है।

ध्यान में रखने योग्य सिद्धांत

अनर्थदण्ड नामक आठवें व्रत में दुःश्रुति का त्याग कहा है। वह यह बतलाता है कि—जीवों को दुःश्रुति रूप शास्त्र कौन है और सुश्रुति रूप शास्त्र कौन है इस बात का विवेक करना चाहिए। जिस जीव के धर्म के निमित्त रूप से दुःश्रुति हो, अर्थात् कुशास्त्रों की मान्यता हो उसके सम्यग्दर्शन प्रगट हो नहीं होता और जिसके धर्म के निमित्त से सुश्रुति (सत्शास्त्र) की मान्यता हो उसको भी उनका मर्म जानना चाहिये। यदि उनका मर्म समझे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है और यदि सम्यग्दर्शन प्रगट करलें तो ही सच्चा अणुव्रत धारी श्रावक या महाव्रत धारी मुनि हो सकता है।

जो जीव सुशास्त्र का मर्म जानता है वही जीव सत्यव्रत सम्बन्धी अनुवीचि भाषण अर्थात् शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलने की भावना कर सकता है।

प्रत्येक मनुष्य सुशास्त्र और कुशास्त्र का विवेक करने के लिये योग्य है, अन्यथा नियम से हो जाना चाहिये। मुमुक्षु जीवों को तत्त्वविचार की योग्यता प्रगट करके यह विवेक अवश्य करना चाहिये। यदि जीव सत् असत् का विवेक न समझे, न करे, तो वह सच्चा व्रतधारी नहीं हो सकता।
(मो० शा० कानजी स्वामी ६०१)

सम्यग्दर्शन धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। अतः योग्य जीवों को यह उचित है कि जैसे भी बने वैसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझकर सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से अपने आत्मा को भूषित करें और सम्यग्दर्शन को निरतिचार बनावें।

धर्म रूपी कमल के मध्य में सम्यग्दर्शन रूपी नाल शोभायमान है। निश्चय व्रत, शील इत्यादि उसकी पंखुड़ियां हैं। इसलिये गृहस्थों और मुनियों को इस सम्यग्दर्शन रूपी नाल में अतीचार न लगने देना चाहिये।

व्रतधारी श्रावक मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीति पूर्वक सेवन करे। इस लोक या परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना शरीर और कषाय को सम्यक् प्रकार कृश करना सो सल्लेखना है।

शरीर-व्याधि के प्रकोप से मरण के समय परिणाम में आकुलता न करना और स्वसन्मुख आत्मशांति की आराधना से चलायमान न होना ही यथार्थ काय-सल्लेखना है, और मोह, राग द्वेषादि से मरण के समय अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान परिणाम मलिन न होने देना सो कषाय सल्लेखना है।

आत्मा का स्वरूप समझने के लिये शंका करके जो प्रश्न किया जावे वह शंका नहीं किन्तु आशंका है। अतिचारों में जो शंका दोष कहा है उसमें इसका समावेश नहीं होता।

व्रतधारी को अपने व्रत में लगे हुये दोषों के प्रति यदि खेद, पश्चाताप होता है तो वह अतिचार है, यदि दोषों में पश्चाताप न हो तो वह तो अनाचार है, व्रत का अभाव है।
सत्पात्र तीन तरह के होते हैं—

१. उत्तमपात्र—सम्यक् चारित्रवान मुनि।

२. मध्यमपात्र—व्रतधारी सम्यग्दृष्टि।

३. जघन्यपात्र—अव्रति सम्यग्दृष्टि।

ये तीनों सम्यग्दृष्टि होने से सुपात्र हैं। जो जीव बिना सम्यग्दर्शन के बाह्य व्रत सहित हो वह कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शन से रहित तथा बाह्य व्रत चारित्र से भी रहित हों वे अपात्र हैं।

अपात्र जीवों को दुःख से पीड़ित देखकर उन पर दया भाव से उनके दुःख दूर करने की भावना गृहस्थ अवश्य करे, किन्तु उनके प्रति भक्ति भाव न करे; क्योंकि ऐसों के प्रति भक्ति भावना करना सो उनके पाप की अनुमोदना है। कुपात्र को योग्य रीति से (करुणाबुद्धि द्वारा) आहारादि का दान देना चाहिये। (मो० शा० पृष्ठ ६१७)

वीतरागता तो सम्यक् चारित्र के द्वारा प्रगट होती है और व्रत तो शुभास्रव है, इसलिये व्रत सच्चा त्याग नहीं, किन्तु जितने अंश में वीतरागता हो वहां उतने अंश में सम्यक् चारित्र प्रगट हो जाता है और उसमें शुभ-अशुभ दोनों का स्वभावतः त्याग है।

मिथ्यादर्शन (पांच मिथ्यात्व) अविरति (बारह अव्रत) प्रमाद (पन्द्रह प्रमाद) कषाय (पच्चीस कषाय) इन सत्तावन के सद्भाव में योग (त्रियोग के पन्द्रह भेदों) द्वारा कर्मों का आस्रव होकर बंध होता है।

जब कि द्वादश तप, तेरहविधि चारित्र, दश धर्म तथा बाईस परिषहजय, इन ५७ से कर्मों का संवर होता है व निर्जरा होती है।

उपरोक्त आश्रव तथा संवर के भेदों को हमें भली भांति जानना चाहिये।

धर्म में प्रवेश करने की इच्छा करने वाले जीव तथा उपदेशक 'मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः' जब तक इस सूत्र का मर्म नहीं समझते तब तक एक बड़ी भूल करते हैं। वह इस प्रकार है—बंध के पांच कारणों में पहले मिथ्यादर्शन दूर होता है और फिर अविरत आदि दूर होते हैं, तथापि वे पहले मिथ्यादर्शन को दूर किये बिना अविरत को दूर करना चाहते हैं और इस हेतु से उनके माने हुये बाल व्रत आदि ग्रहण करते हैं तथा दूसरों को भी वैसा उपदेश देते हैं। पुनश्च वे ऐसा मानते हैं कि बालव्रत (अज्ञान व्रत) आदि ग्रहण करने से और उनका पालन करने से मिथ्यादर्शन दूर होगा। उन जीवों की (विद्वान् श्रावक व मुनियों की) यह मान्यता पूर्ण रूपेण मिथ्या है, इसलिये इस सूत्र में 'मिथ्यादर्शन' पहले कहा है। मिथ्यादर्शन चौथे गुणस्थान में दूर होता है, अविरत पांचवें-छट्ठे गुणस्थान में दूर होता है, प्रमाद सातवें गुणस्थान में दूर होता है, कषाय बारहवें गुणस्थान में पूर्णतया नष्ट होती हैं और योग चौदहवें गुणस्थान में नष्ट होते हैं। वस्तुस्थिति के इस नियम को न समझने से अज्ञानी पहले बाल व्रत (अज्ञान-अणुव्रत महाव्रत) अंगीकार करते हैं और उसे धर्म मानते हैं। इस प्रकार अधर्म को धर्म मानने के कारण उनके मिथ्यादर्शन और अनंतानुबंधी कषाय का पोषण होता है। इसलिये जिज्ञासुओं को वस्तुस्थिति के इस नियम को समझना खास विशेष आवश्यक है। इस नियम को समझकर असत उपाय छोड़कर पहले मिथ्यादर्शन दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पुरुषार्थ करना योग्य है।

बंध के पांच कारण कहे, उनमें अंतरंग भावों की पहचान करना चाहिये। यदि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के भेदों को बाह्य रूपसे जाने किन्तु अंतरंग में इन भावों की पहचान न करे तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता।

अन्य कुदेवादिक के सेवन रूप गृहीत मिथ्यात्व को तो मिथ्यात्व रूप से जाने किन्तु जो अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है उसे न पहचाने तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। इसलिये अंतरंग भाव की पहचान कर उस सम्बंधी अन्यथा मान्यता दूर करनी चाहिये।

अनादि से जीव के मिथ्यादर्शन रूप अवस्था है। समस्त दुःखों का मूल मिथ्यादर्शन है। जीव के जैसा श्रद्धान है वैसा पदार्थ-स्वरूप न हो और जैसा पदार्थ-स्वरूप न हो वैसा ये माने, उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं।

यह जीव जहां शरीर धारण करता है वहां किसी अन्य स्थान से आकर पुत्र, स्त्री, धनादि को स्वयं प्राप्त होता है। यह जीव उन सबको अपना जानता है, परन्तु ये सभी अपने अपने आधीन होने से कोई आते कोई जाते और कोई अनेक अवस्था रूप से परिणमते हैं। क्या यह अपने आधीन है? ये जीव के आधीन नहीं हैं तो भी यह जीव उन्हें अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है। यही इसका मिथ्यादर्शन है। और वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानना और वैसा ही यथार्थ श्रद्धान मन में रखना सो ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन ही सुख का मूल है।

यह जीव देव गुरु शास्त्र अथवा धर्म का जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है उसकी तो प्रतीति मान्यता करता है, किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है उसका ज्ञान नहीं करता, यही इस जीव का मिथ्यादर्शन है, मिथ्याज्ञान है।

जगत् की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य-संयोग अपने अपने आधीन परिणमते हैं, किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता और यों मानता है कि स्वयं उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है। यही इसका विपरीत अभिप्राय-मान्यता मिथ्यादृष्टिपना है, मिथ्यादर्शन है, मूल में भूल है।

मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादि भावों के द्वारा सर्व द्रव्यों को, समस्त संयोगों को अपनी इच्छा के अनुकूल परिणमने की भावना व प्रयत्न करता है, किन्तु ये सर्व द्रव्य संयोग जीव की इच्छा के आधीन नहीं परिणमते। इसीलिये इसे आकुलता होती है। यदि जीव की इच्छानुसार ही सब कार्य हों, अन्यथा न हों तो ही निराकुलता रहे, किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन हमारे आधीन नहीं है। इसलिये हमारे रागादि भाव दूर हों तो ही निराकुलता होती है, अन्यथा नहीं।

मिथ्यात्व के दो भेद हैं—अगृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व अनादिकालीन है।

प्रश्न—जिस कुल में जीव जन्मा हो उस कुल में माने हुये देव, गुरु, शास्त्र सच्चे हों और यदि जीव लौकिक रूढ़ि दृष्टि से सच्चा मानता हो तो उसके गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं?

उत्तर—नहीं, उसके भी गृहीत मिथ्यात्व है, क्योंकि सच्चे देव, सच्चे गुरु, और सच्चे शास्त्र का स्वरूप क्या है तथा कुदेव कुगुरु और कुशास्त्र में क्या दोष है, इसका सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके सभी पहलुओं से उसके गुण और दोषों का यथार्थ निर्णय न किया हो वहां तक जीव के गृहीत मिथ्यात्व है और वह सर्वज्ञ वीतराग देव का सच्चा अनुयायी नहीं है।

अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जैनशास्त्रों को मानने पर भी उनके स्वरूप का अपनी तत्त्व-बुद्धि से निर्णय करना चाहिये।

इस जीव ने पहले अनन्त बार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा और द्रव्यलिंगी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले, परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा, इसीलिये संसार बना रहा, और फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया।

वीतराग देव की प्रतिमा के दर्शन पूजनादि के शुभराग को धर्मानुराग कहते हैं, परन्तु वह धर्म नहीं है, धर्म तो निरावलम्बी है। जब देव शास्त्र गुरु के अवलम्बन से छूटकर शुद्धश्रद्धा द्वारा स्वभाव का (आत्मा का-आत्मस्वभाव का) आश्रय करता है तब धर्म प्रगट होता है। यदि शुभराग को धर्म माने तो उस शुभ भाव की-स्वरूप की विपरीत मान्यता होने से विपरीत मिथ्यात्व है। छट्टे अध्याय के १३ वें सूत्र की टीका में अवर्णवाद के स्वरूप का वर्णन किया है, उसका समावेश विपरीत मिथ्यात्व में होता है।

बंध का मुख्य कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय हैं और इन चार में भी सर्वोत्कृष्ट कारण मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व को दूर किये बिना अविरति आदि बंध के कारण दूर ही नहीं होते, यह अबाधित सिद्धान्त है।

जीव के सबसे बड़ा पाप एक मिथ्यात्व ही है। जहां मिथ्यात्व है वहाँ अन्य सब पापों का सद्भाव है। मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई पाप नहीं। इसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिये।

संसार का मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व का अभाव किये बिना अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष या मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये सबसे पहले यथार्थ उपायों के द्वारा सर्व प्रकार से उद्यम करके इस मिथ्यात्व का सर्वथा नाश करना योग्य है।

अपनी स्थिति पूरी होने पर कर्मों की जो निर्जरा=सविपाक है। समय के पहले आत्म-

पुरुषार्थ से की हुई निर्जरा=अविपाक है। इसी को सकाम निर्जरा भी कहते हैं तथा पाप कर्मों की निर्जरा तप के द्वारा करना और देवायु के पुण्य कर्मों का बंध करना सो अकाम निर्जरा है।

शुभ या अशुभ दोनों बंध भाव हैं। इन दोनों से घाति कर्मों का बंध निरन्तर होता है। सभी घाति कर्म पाप रूप ही हैं और वही आत्मगुण के घात में निमित्त हैं, तब फिर शुभ बंध अच्छा क्योंकर हो सकता है ?

मिथ्यादर्शन की कुछ मान्यतायें—

१—स्वपर एकत्व दर्शन, २—पर की कर्तृत्व बुद्धि, ३—पर्याय बुद्धि, ४—व्यवहार विमूढ़, ५—अतत्व श्रद्धान, ६—स्व स्वरूप की भ्रान्ति, ७—राग से-शुभ भाव से आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि, ८—बाहिर दृष्टि, ९—विपरीत रुचि, १०—जैसा वस्तुस्वरूप हो वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना, ११—अविद्या, १२—पर से लाभ हानि होती है ऐसी मान्यता, १३—अनादि अनन्त चैतन्य मात्र चिरकाली आत्मा को न मानना किन्तु विकार जितनी ही आत्मा मानना, १४—विपरीत अभिप्राय, १५—पर समय, १६—पर्याय मूढ़, १७—ऐसी मान्यता कि जीव शरीर की क्रिया कर सकता है, १८—जीव को पर द्रव्यों की व्यवस्था करने वाला तथा उसका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता मानना, १९—जीव को ही न मानना, २०—निमित्ताधीन दृष्टि, २१—ऐसी मान्यता कि पराश्रय से लाभ होता है, २२—शरीराश्रित क्रिया से लाभ होता है ऐसी मान्यता, २३—सर्वज्ञ की वाणी में जैसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप कहा है वैसे स्वरूप की अश्रद्धा, २४—वास्तव में व्यवहार नय के आदरणीय होने की मान्यता, २५—शुभाशुभ भाव का स्वामित्व, २६—शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ होता है ऐसी मान्यता, २७—ऐसी मान्यता कि व्यवहार रत्नत्रय करते करते निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है, २८—शुभ अशुभ में सदृशता न मानना अर्थात् ऐसी मान्यता कि शुभ अच्छा है और अशुभ खराब है, २९—ममत्व बुद्धि से मनुष्य और तिर्यंच के प्रति करुणा होना।

(मो० शा० पृ० ६३०)

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के यथार्थ संवर और निर्जरा तत्व कभी प्रगट नहीं हुए, इसीलिये उसके यह संसार रूप विकारी भाव बना रहा। और प्रति समय अनन्त दुःख पाता है। इसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है।

धर्म का प्रारम्भ संवर से होता है और सम्यग्दर्शन ही प्रथम संवर है, इसीलिये धर्म का मूल सम्यग्दर्शन ही है। संवर का अर्थ जीव के विकारी भाव को रोकना है। सम्यक्दर्शन प्रगट

करने पर मिथ्यात्व आदि भाव रुकता है, इसीलिये सबसे पहले मिथ्यात्व भाव का संवर होता है। यहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

आस्रव के रोकने पर आत्मा में जिस पर्याय की उत्पत्ति होती है वह शुद्धोपयोग है या यों समझो कि शुद्धोपयोग के द्वारा ही आस्रव रुकता है और संवर भाव होता है।

अंधकार जाने पर प्रकाश आता है ऐसा नहीं, प्रत्युत प्रकाश आने पर अंधकार चला जाता है, इसी तरह शुद्धोपयोग रूप संवर भाव होने पर आस्रव रुक जाता है ऐसा जानना।

उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा में उपयोग का रहना-स्थिर होना सो संवर है। उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा में जब जीव का उपयोग रहता है तब नवीन विकारी पर्याय (आस्रव) रुकती है अर्थात् पुण्य-पाप के भाव रुकते हैं। इस अपेक्षा से संवर का अर्थ जीव के नवीन पुण्य-पाप के भाव को रोकना होता है।

आत्मा में निर्मल भाव प्रगट होने से आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप में आने वाले नवीन कर्म रुकते हैं, इसीलिये कर्म की अपेक्षा से संवर का अर्थ होता है नवीन कर्म के आस्रव का रुकना।

१—आस्रव का तिरस्कार करने से जिसको सदा विजय मिली है ऐसे संवर को उत्पन्न करने वाली ज्योति, २—पर रूप से भिन्न अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चल रूप से प्रकाशमान, चिन्मय उज्वल और निज रस से भरी ज्योति का प्रगट होना सो संवर है।

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥

शुभाशुभ भाव को रोकने में समर्थ जो शुद्धोपयोग है सो भाव संवर है। भाव संवर के आधार से नवीन कर्म का निरोध द्रव्य संवर है।

सात तत्वों में संवर और निर्जरा यह दो तत्व मोक्षमार्ग रूप हैं।

शुद्धोपयोग का अर्थ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है।

संवर तथा निर्जरा दोनों एक ही समय में होते हैं, क्योंकि जिस समय शुद्ध पर्याय (शुद्ध परिणति) प्रगट हो उसी समय नवीन अशुद्ध पर्याय (शुभाशुभ परिणति) रुकती है सो संवर है और इसी समय आंशिक अशुद्धि दूर हो शुद्धता बढ़े सो निर्जरा है। तात्पर्य यह कि—अशुद्ध (शुभाशुभ) परिणति आस्रव-बंध की कारण है और शुद्ध (आत्मभावना रूप) परिणति संवर और निर्जरा की कारण है।

संवरपूर्वक जो निर्जरा है सो मोक्षमार्ग है ।

शुभाशुभास्रव के निरोध रूप संवर और शुद्धोपयोग रूप योगों से संयुक्त ऐसा जो भेद-विज्ञानी जीव, अनेक प्रकार के अंतरंग-बहिरंग तपों द्वारा उपाय करता है, सो निश्चय से अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है । यह निर्जरा अविपाक या सकाम होती है ।

सिद्धान्त यह है कि अनेक कर्मों की शक्तियों को नष्ट करने में समर्थ बहिरंग अन्तरंग तपों से बुद्धि को प्राप्त हुआ जो शुद्धोपयोग है सो भाव निर्जरा है । (पंचास्तिकाय पृष्ठ २०६)

हे भव्य प्राणी ! तू ज्ञान में नित्य रत अर्थात् प्रीति वाला हो ज्ञान में ही नित्य सन्तुष्ट हो और ज्ञान में ही तृप्त हो, ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख-मोक्षसुख होगा, आनन्द का भोग होगा ।

प्रभावना का अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना आदि । इसलिये जो निरन्तर अभ्यास से अपने ज्ञान को प्रगट करता है बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है ।

अनुक्रम से आत्मा के भाव शुद्ध होना सो निर्जरा तत्व है और सर्व कर्म का अभाव होना सो मोक्ष तत्व है ।

संवर तत्व में आत्मा की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और निर्जरा तत्व में आत्मा की शुद्ध पर्याय की वृद्धि होती है । इस शुद्ध पर्याय को एक शब्द से शुद्धोपयोग कहते हैं, दो शब्दों से कहना हो तो संवर और निर्जरा कहते हैं, और तीन शब्दों से कहना हो तो 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र' कहते हैं । संवर और निर्जरा में आंशिक शुद्ध पर्याय होती है ।

जहां जहां संवर और निर्जरा का कथन हो वहां वहां ऐसा समझना कि आत्मा की पर्याय जिस अंश में शुद्ध होती है वह संवर-निर्जरा है । जो विकल्प राग या शुभ भाव है वह संवर-निर्जरा नहीं । परन्तु इसका निरोध होना और आंशिक अशुद्धि का खिर जाना-झड़ जाना सो संवर-निर्जरा है ।

अज्ञानी जीव ने अनादि से मोक्ष का बीज रूप संवर निर्जरा भाव कभी प्रगट नहीं किया और इसका यथार्थ स्वरूप भी नहीं समझा । संवर-निर्जरा स्वयं धर्म है ।

संवर का लक्षण—"आस्रवनिरोधः संवरः ।।"

अर्थ—आस्रव का रोकना सो संवर है अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता है उन कारणों को दूर करने से कर्मों का आना रुक जाता है, उसे संवर कहते हैं ।

संवर धर्म है । जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवर का प्रारम्भ होता है । सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता । सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये जीव, अजीव,

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों का स्वरूप यथार्थ रूप से विपरीत अभिप्राय रहित जानना चाहिये।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जीव के आंशिक वीतराग भाव और आंशिक सराग भाव होता है। वहां ऐसा समझना कि वीतराग भाव के द्वारा संवर होता है और सराग भाव के द्वारा शुभ बंध होता है।

शुभास्रव से पुण्य बंध होता है। जिस भाव से बंध हो उसी भाव के द्वारा संवर नहीं होता।

आत्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है उतने अंश में संवर है और बंध नहीं, किन्तु जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है, जितने अंश में सम्यग्ज्ञान है उतने अंश में संवर है, बंध नहीं, किन्तु जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है, तथा जितने अंश में सम्यक्-चारित्र है उतने अंश में संवर है बंध नहीं; किन्तु जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है। ('पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' गाथा २१२-२१४)

तीर्थंकर नाम कर्म का बंध चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छट्ठे भाग पर्यंत होता है और तीन प्रकार की सम्यक्त की भूमिका में यह बंध होता है। वास्तव में (भूतार्थनय से-निश्चयनय से) सम्यग्दर्शन स्वयं कभी भी बंध का कारण नहीं है, किन्तु इस भूमिका में रहे हुये राग से ही बंध होता है। तीर्थंकर नाम कर्म के बंध का कारण भी सम्यग्दर्शन की भूमिका में रहा हुआ राग बंध का कारण है। जहाँ सम्यग्दर्शन को आस्रव या बंध का कारण कहा हो वहाँ मात्र उपचार (व्यवहार) से कथन है ऐसा समझना, इसे अभूतार्थ नय का कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के द्वारा नय विभाग के स्वरूप को यथार्थ जानने वाला ही इस कथन के आशय को अविरुद्ध रूप से समझता है।

सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकार के हैं—सरागी और वीतरागी। उनमें से सराग-सम्यग्दृष्टि जीव राग सहित हैं (शुभ राग सहित होते हैं) अतः राग के कारण उनके कर्म प्रकृतियों का आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवों के सराग सम्यक्त्व है, परन्तु यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यक्त्व का दोष नहीं किन्तु चारित्र का दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवों के निर्दोष (आत्म) चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वास्तव में ये दो जीवों के सम्यग्दर्शन में भेद नहीं किन्तु चारित्र की (आत्मचारित्र की) अपेक्षा से ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र के दोष सहित हैं अर्थात् जिनके आत्मचारित्र में शुभ राग का समावेश है उनके सराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीव के निर्दोष चारित्र है अर्थात् जिनके आत्मचारित्र में वीतरागता का समावेश है उनके वीतराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इस

तरह से आत्मभाव रूप चारित्र की सदोषता या निर्दोषता की अपेक्षा से भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और वह तो शुद्ध भाव ही है, इसलिये वह आस्रव या बंध का कारण नहीं है।

संवर के कारण—"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः" ॥

अर्थ—तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा और पांच चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात) तथा बाईस परीषहजय, इन छह कारणों से संवर होता है।

जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है उसके संवर के ये छह कारण होते हैं मिथ्यादृष्टि के इन छह कारणों में से एक भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के तथा साधु के ये छहों कारण यथासम्भव होते हैं। संवर के इन छह कारणों का यथार्थ स्वरूप समझे बिना संवर का स्वरूप समझने में भी जीव की भूल हुये बिना नहीं रहती। इसलिये इन छह कारणों का यथार्थ स्वरूप (मोक्षशास्त्र कानजी स्वामी द्वारा) समझना चाहिये। (पृ० ६७८)

गुप्ति—वीतराग भाव होने पर जीव जितने अंश में मन, वचन, काय की तरफ नहीं लगता उतने अंश में निश्चय गुप्ति है और यही संवर की कारण है। जो जीव नयों के राग को छोड़-कर निज स्वरूप में गुप्त होता है उस जीव के गुप्ति होती है। उसका चित्त विकल्प-जाल से रहित शांत होता है और वे साक्षात् अमृत रस का पान करते हैं। यह स्वरूप-गुप्ति की शुद्ध क्रिया है। जितने अंश में वीतराग दशा होकर स्वरूप में प्रवृत्ति होती है उतने अंश में गुप्ति है। इस दशा में लोभ मिटता है और अतीन्द्रिय सुख अनुभव में आता है। सम्यग्दर्शन और सम्य-ग्ज्ञान पूर्वक लौकिक वांछा रहित होकर त्रियोगों का यथार्थ निग्रह करना सो गुप्ति है। योगों के निमित्त से आने वाले कर्मों का रुक जाना सो संवर है। गुप्ति का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से ही हो सकता है यदि जीव पुरुषार्थ करे तो। वास्तव में आत्मा का स्वरूप (निज रूप) ही परम गुप्ति है, इसीलिये आत्मा जितने अंश में अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहे उतने अंश में गुप्ति है। कुछ लोग मन, वचन, काय की चेष्टा दूर करने, पाप का चिंतवन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करने को गुप्ति मानते हैं, किन्तु यह व्यवहार गुप्ति भले ही मान ली जाय, वास्तविक गुप्ति नहीं है, क्योंकि जीव के मन में भक्ति आदि प्रशस्त रागादिक के अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं और वचन, काय की चेष्टा रोकने का जो भाव है सो तो शुभ प्रवृत्ति है, प्रवृत्ति में गुप्तित्व नहीं बनता।

"तपसा निर्जरा च ॥" अर्थ—तप से निर्जरा होती है और संवर भी होता है। किन्तु सम्यक तप ही निर्जरा, संवर का कारण है। सम्यग्दृष्टि जीव के ही सम्यक् तप होता है। मिथ्यादृष्टि जीव के तप को बाल तप कहते हैं और वह आस्रव है। जो सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान से रहित हैं

ऐसे जीव चाहे जितना तप करें तो भी उनका समस्त तप बाल तप (अर्थात् अज्ञान तप, मूर्खता वाला तप) कहलाता है (देखो समयसार गाथा १५२) भाव कर्म का नाश करने के लिये स्व (आत्मा) की शुद्धता के प्रतपन को तप कहते हैं। यह सम्यग्दृष्टि के होता है। श्री प्रवचनसार की गाथा १४ में "स्वरूपविश्रांतनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनाच्च तपः" अर्थात्—स्वरूप में विश्रांत, तरंगों से रहित जो चैतन्य का प्रतपन है सो तप है।

बहुत से अनशनादि को तप मानते हैं और उस तप से निर्जरा मानते हैं, किन्तु बाह्य तप से निर्जरा नहीं होती, निर्जरा का कारण तो शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग के बिना मात्र अनशन (भूखे रहने) से निर्जरा होती तो तिर्यंचादिक भी भूख प्यासादि के दुःख सहन करते हैं इसलिये उनके भी निर्जरा होनी चाहिये।

धर्म की बुद्धि से बाह्य उपवासादिक तो करे किन्तु वहां शुभ, अशुभ या शुद्ध रूप जैसा उपयोग परिणमता है उसी के अनुसार बंध या निर्जरा होती है। अतः शुद्धोपयोग ही सम्यक् तप है।

ज्ञानी पुरुष के उपवासादि की इच्छा नहीं किन्तु एक शुद्धोपयोग की ही भावना है। ज्ञानी पुरुष उपवासादि के काल में शुद्धोपयोग बढ़ाता है, किन्तु जहाँ उपवासादि से शरीर की या परिणामों की शिथिलता के द्वारा शुद्धोपयोग शिथिल होता जानता है वहाँ आहारादि ग्रहण करता है। यदि उपवासादि से ही सिद्धि होती तो श्री अजितनाथ आदि तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों करते ? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, परन्तु जैसा परिणाम हुआ वैसे ही साधन के द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोग का अभ्यास किया, बढ़ाया।

सम्यग्दृष्टि जीव के वीतरागता बढ़ती है, वही सच्चा तप है। अनशनादि को मात्र निमित्त की अपेक्षा से 'तप' संज्ञा दी गई है। 'सम्यग्दृष्टि जीव के तप में राग के जितने अंश होते हैं उनके द्वारा पुण्य का बंध होता है तथा जितने अंश में शुद्धोपयोग रूप वीतरागता के भाव होते हैं उतने अंश में निर्जरा होती है।'

अनादि अज्ञानी जीवों ने कभी सम्यग्गुप्ति धारण नहीं की। अनेक वार द्रव्यलिंगी मुनि होकर जीव ने शुभोपयोग रूप गुप्ति समिति आदि निरतिचार पालन कीं किन्तु वह सम्यक् न थी। किसी भी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सम्यग्गुप्ति नहीं हो सकती और उसका भव भ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करके क्रमक्रम से आगे बढ़कर सम्यग्गुप्ति प्रगट करनी चाहिये।

'अकेले प्रशस्त राग-शुभ राग' से पुण्याश्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्र रूप भाव में भी यह सरागता है और यह वीतरागता है ऐसी यथार्थ पहिचान सम्य-

दृष्टि के ही होती है, इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभाव को हेय रूप से श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टि के सरागभाव और वीतराग भाव को यथार्थ पहिचान नहीं होती, इसीलिये वह सराग भाव को संवर रूप मानता है, और प्रशस्त राग रूप कार्यों को उपादेय रूप श्रद्धान करता है, सो भ्रम है, अज्ञान है और यह अज्ञान संसारभ्रमण का कारण है, भले ही वह देवगति को प्राप्त क्यों न हो जाय ? देवगति भी तो संसार ही है।

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहाः ॥"

अर्थ—संवर के मार्ग से च्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिये बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं।

परीषहों के बारे में यह बात विशेष रूप से ध्यान रखनी चाहिये कि—संक्लेश रहित निर्मल आनन्दवृत्ति बनाए रखकर परीषहों को जीत लेने से ही संवर होता है। यदि परिणामों में संक्लेशता हो जाय और परीषहों को जीता जाय तो संवर नहीं होता, परिणामों के अनुसार पुण्य-पाप का बंध ही होता है अथवा अकाम निर्जरा होती है, क्योंकि संक्लेश परिणामों सहित जो परीषहों को जीतना सो कुतप का रूप बन जाता है।

अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परीषह सहन करना दुःख है, किन्तु ऐसा नहीं है। परीषह सहन करने का अर्थ दुःख भोगना नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव को तो परीषह जय करते समय आनन्द की पकड़ और उस आनन्द की वृद्धि होती है और वह संवर निर्जरा का कारण होती है। पुनश्च अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान और महावीर भगवान ने परीषह के बहुत दुःख भोगे; परन्तु भगवान तो स्व के (आत्मा के) शुद्धोपयोग द्वारा आत्मानुभव में स्थिर थे और स्वात्मानुभव के शान्त रस में झूलते थे, लीन थे, मग्न थे, इसी का नाम परीषहजय है। लोगों की (संसार दृष्टि की) अपेक्षा से बाह्य संयोग चाहे प्रतिकूल हो या अनुकूल हो तथापि राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतराग भाव प्रगट करने का नाम ही परीषहजय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन किया कहा जाता है। यदि अच्छे बुरे का विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नहीं कहलाता किन्तु राग-द्वेष करना कहलाता है। राग-द्वेष से कभी संवर होता ही नहीं किन्तु बंध ही होता है। इसलिये ऐसा समझना कि जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में परीषहजय है और वह परीषहजय सुख-शान्ति रूप है। लोग परीषहजय को दुःख कहते हैं सो असत् मान्यता है। लोग जिसे प्रतिकूल मानते हैं ऐसे संयोगों में भी भगवान निज स्वरूप से च्युत नहीं हुये थे इसीलिये उन्हें दुःख नहीं हुआ किन्तु सुख हुआ और इसी से उनके संवर-निर्जरा हुई थी। यह ध्यान रहे कि वास्तव में कोई भी संयोग अनुकूल या प्रतिकूल रूप नहीं है, किन्तु जीव स्वयं जिस प्रकार के भाव करता है उसमें वैसा आरोप किया जाता है अर्थात् वैसी ही मान्यता हो जाती है और इसीलिये

लोग उसे अनुकूल या प्रतिकूल कहते हैं।

(१) क्षुधा—परीषह करना योग्य है। असातावेदनी कर्म की उदीर्णा हो तभी क्षुधा उत्पन्न होती है। मुनि के जब यह उत्पन्न होती है तथापि वे आकुलता नहीं करते और आहार नहीं लेते किन्तु धैर्यरूपी जल से उस क्षुधा को शान्त करते हैं, तब उनके परीषहजय करना कहा जाता है। छट्टे गुण स्थान में रहने वाले मुनि के भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय निर्दोष आहार का योग न बने तो आहार का विकल्प छोड़कर निर्विकल्प दशा में लीन हो जाते हैं तब उनके परीषहजय कहा जाता है। इसी तरह की परीषहजय शेष इकईस परीषहों की मुनियों को तथा यथाशक्ति और यथायोग्य परीषहजय श्रावकों की जानना चाहिये।

याचना धर्मरूप उच्चपद को नीचा करती है और याचना करने से धर्म की हीनता होती है। याचना करने का नाम याचना परीषहजय नहीं है किन्तु याचना न करने का नाम याचना परीषहजय है।

अरति-द्वेष करने का नाम अरति परीषह नहीं किन्तु अरति न करना सो अरति परीषह जय है।

प्रज्ञा-ज्ञान न होना प्रज्ञा परीषह नहीं किन्तु विशेष ज्ञान होने पर भी उसका अभिमान न होना सो ही प्रज्ञा परीषह जय है।

यदि वेदनीय कर्म का उदय हो और मोहनीय कर्म का उदय न हो तो जीव के विकार अर्थात् राग-द्वेष की संक्लेशता नहीं होती; यदि मन्द मोहनीय का उदय हो तो अल्प ही संक्लेशता होगी और यदि तीव्र मोहनीय हो तो तीव्र संक्लेशता होगी। प्रयोजन यह कि सुख का कारण मन्द मोहनी और दुःख का कारण तीव्र मोहनी है और परम सुख का कारण मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाना है।

जीव का सच्चा पुरुषार्थ—मोहनीय कर्म पर विजय पाना है, क्योंकि सब कर्मों का राजा मोहनीय कर्म है। शेष सातों कर्म तो उसकी सेना के समान हैं। ध्यान रहे, शुभराग भी मोहनीय कर्म की सेना है, चेतन इस शुभराग को अपना हितू मानता है, परन्तु यह मोह का ही गुप्तचर है जो चेतन को मोह का बन्दी बना देता है।

चेतन यदि अपना पुरुषार्थ प्रगट करे तो एक क्षण में मोह का नाश करदे। और जिन्होंने अपना पुरुषार्थ प्रगट किया उन्होंने यह करके दिखा दिया तथा जो अपना पुरुषार्थ प्रगट करने में असमर्थ हैं वे अनादिकाल से इस संसार में भटक रहे हैं और अनन्तकाल तक भटकते रहेंगे।

जीव ने पुण्य पुरुषार्थ को ही अपना पुरुषार्थ मान लिया, इसी एक भ्रम ने इसे अनादिकाल से भटकाया और अब भी भटका रहा है। 'पुण्य मीठा विष है।'

जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा जितने अंश में परीषह वेदन न करे उतने अंश में उसने परीषह जय किया और इसीलिये उतने अंश में कर्मों की निर्जरा की।

सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना सो यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र ग्यारवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

शुद्ध भाव से संवर होता है, किन्तु शुभभाव से नहीं होता, इसीलिये इन पांचों प्रकार (चारित्र) में जितना शुद्ध भाव है उतना चारित्र है ऐसा समझना।

अकषाय दृष्टि और चारित्र-आत्मचारित्र से जितने दरजे (अंश) में राग दूर होता है उतने दरजे में संवर निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है उतना बंधन (शुभबंध) है। विशेष यह कि पंचम गुणस्थान वाला उपवासादि वा प्रायश्चित करे तथा और भी तपरूप साधनायें करे उस काल में भी उसे निर्जरा अल्प और छट्टे गुणस्थान वाला (मुनि) आहार विहार आदि क्रिया करे उस काल में भी उसके निर्जरा अधिक है। इससे ऐसा समझना कि—बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार निर्जरा नहीं है। (देखो मोक्षमार्ग प्र० पृ० ३४१)

कितने ही जीव शुद्ध भावों को संभाल किये बिना मात्र हिंसादिक पाप के (पंच पापों के) त्याग को चारित्र मानते हैं और महाव्रतादि रूप शुभोपयोग को उपादेय रूप से ग्रहण करते हैं, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। क्योंकि मोक्षशास्त्र के सातवें अध्याय में आश्रव पदार्थ का निरूपण किया गया है, वहां महाव्रत और अणुव्रत को आश्रव रूप माना है, तो वह उपादेय कैसे हो सकता है? आस्रव तो बंध का कारण है और चारित्र मोक्ष का कारण है, इसलिये उन महाव्रतादि रूप आस्रव भावों के चारित्र का होना संभव नहीं होता, किन्तु जो सर्व कषाय रहित उदासीन भाव है उसी का नाम चारित्र है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव के कुछ भाव वीतराग हुये हैं और कुछ भाव सराग होते हैं। उनमें जो अंश वीतराग रूप है वही चारित्र है और वह चारित्र संवर का कारण है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३७)

प्रश्न—जो वीतराग भाव है सो चारित्र है, और वीतराग भाव तो एक ही तरह का है, तो फिर चारित्र के भेद क्यों बतलाये?

उत्तर—वीतराग भाव एक तरह का है, परन्तु वह एक साथ पूर्ण प्रगट नहीं होता, किन्तु क्रम क्रम से प्रगट होता है, इसीलिये उसमें भेद होते हैं। जितने अंश में वीतराग भाव प्रगट होता है उतने अंश में चारित्र प्रगट होता है, इसलिये चारित्र के भेद कहे हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो छट्टे गुणस्थान में जो शुभभाव है उसे भी चारित्र क्यों कहते हो?

उत्तर—वहां शुभभाव को यथार्थ में चारित्र नहीं कहा जाता, किन्तु उस शुभभाव के समय जिस अंश में वीतराग भाव है, वास्तव में उसे चारित्र कहा जाता है।

प्रश्न—कितनेक जगह शुभभाव रूप समिति, गुप्ति, महाव्रतादि को भी चारित्र कहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—वहां शुभभावरूप समिति आदि को व्यवहार चारित्र कहा है। व्यवहार का अर्थ है उपचार; छट्टे गुणस्थान में जो वीतराग चारित्र होता है, उसके साथ महाव्रतादि होते हैं, ऐसा सम्बन्ध जानकर यह उपचार किया है। अर्थात् वह निमित्त की अपेक्षा से यानी विकल्प के भेद बताने के लिये कहा है, किन्तु यथार्थरीत्या तो निष्कषाय भाव ही अर्थात् वीतराग भाव ही चारित्र है, शुभराग चारित्र नहीं।

सामायिक का स्वरूप—समस्त त्रस स्थावर प्राणियों में समताभाव रखना, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वभाव वाला परमार्थ परिणमन, नियम-संयम का और यथाशक्ति तप का साधन, राग-द्वेष मोह परिणति का अभाव, शुभाशुभ विकल्प रहित, इन्द्रिय विजयी, पापारंभ से निवृत्त, गुप्ति, समिति का पालन, माध्यस्थ भाव, तथा धर्मध्यान, शुक्लध्यान का करने वाला ही यथार्थ सामायिक करने का अधिकारी होता है।

चारित्र अर्थात् आत्मरमणता ही मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है। इसकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होती है कि जिसके होते ही यह जीव तत्काल मोक्ष गमन कर जाता है। अतः आत्मरमणता ही कल्याणकारी है।

शुभाशुभ की निवृत्ति का नाम संवर है। आत्मा के स्वरूप में जितनी अभेदता होती है उतना संवर है। शुभाशुभ भाव का त्याग निश्चय व्रत अथवा वीतराग चारित्र है। जो शुभाशुभ रूप व्रत है वह व्यवहार रूप राग है, जो पुण्याश्रव का कारण है, संवर का कारण नहीं।

जिसके संवर हो उसी के निर्जरा हो। प्रथम संवर तो सम्यग्दर्शन है, इसीलिये जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसी के ही संवर-निर्जरा हो सकती है। मिथ्यादृष्टि के संवर निर्जरा नहीं होती।

तप से निर्जरा होती है, किन्तु केवल बाह्य तप से निर्जरा नहीं होती। अनशनादि तप बाह्य तप हैं, स्वाध्यायादि अंतरंग तप हैं। अंतरंग तप में स्वानुभूति-आत्मानुभव होता है तब निर्जरा होती है। बाह्य तप अंतरंग तप के साधक हैं, इसलिये आवश्यकता इनकी भी है, परन्तु केवल उन्हीं में अटक कर न रहा जाय, इसका ध्यान रहे।

अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है। इसका कारण यह है कि यदि जीव अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादि रूप प्रवर्ते और राग को दूर करे तो वीतराग भाव रूप सत्य तप पुष्ट

किया जा सकता है, इसीलिये उन अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादि को उपचार से तप कहा है। यदि कोई जीव वीतराग भाव रूप सत्य तप को तो न जाने और उन अनशनादि को ही तप जानकर संग्रह करे तो वह संसार में ही भ्रमण करता है।

इतना खास समझ लेना कि—निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, अन्य अनेक प्रकार के जो भेद कहे जाते हैं वे भेद बाह्य निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे जाते हैं। इनके व्यवहार मात्र से धर्म संज्ञा जाननी। जो जीव इस रहस्य को नहीं जानता उसके निर्जरा तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। अतः रहस्य जानना चाहिए।

जिस जीव के सम्यग्दर्शन न हो वह बन में रहे, चातुर्मास में वृक्ष के नीचे रहे, ग्रीष्म-ऋतु में अत्यन्त धूप व शीत काल में तीव्रतम शीत की बाधा सहे, अन्य अनेक प्रकार के काय-क्लेश करे, शास्त्रों के पढ़ने में बहुत चतुर हो, मौन व्रत धारण करे, इत्यादि सब कुछ करे, किन्तु उसका यह सब कुछ वृथा है, संसार का कारण है। इनसे पुण्यबंध के सिवाय धर्म का अंश भी नहीं होता। कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिये हे जीव! आकुलता रहित समता देवी का कुल मंदिर जो कि स्व का आत्मतत्त्व है, उसका ही भजन कर।

बारह तपों में 'सम्यक्' शब्द का प्रयोजन यही है कि—प्रत्येक तप में वीतराग स्वरूप के (आत्मा के) लक्ष के द्वारा अंतरंग परिणामों की शुद्धता का समावेश हो तभी वे कार्यकारी हैं, संवर निर्जरा के कारण हैं और संसारभ्रमण से छुटाने में समर्थ हैं, अन्यथा नहीं।

पांच भेद स्वरूप स्वाध्याय का प्रयोजन और लाभ-प्रज्ञा (ज्ञान) की अधिकता, प्रशंसनीय अभिप्राय, उदासीनता, तप-त्याग की वृद्धि, अतिचार की विशुद्धि होनी चाहिये।

अष्टपाहुड़ के मोक्ष पाहुड़ में कहा है कि जीव आज भी तीन रत्न (रत्नत्रय) के द्वारा शुद्धात्मा को ध्याकर स्वर्गलोक में अथवा लौकान्तिक में देवत्व प्राप्त करता है और वहां से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है (गाथा ७७) इसलिये पंचमकाल के अनुत्तम संहनन वाले जीवों के भी धर्मध्यान हो सकता है, आत्मध्यान हो सकता है।

इस जगत में दो ही मार्ग हैं-मोक्षमार्ग और संसार मार्ग। आर्तध्यान, रौद्रध्यान ये संसार-मार्ग हैं; धर्मध्यान, शुक्लध्यान ये मोक्षमार्ग हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव पर वस्तु के संयोग-वियोग को आर्तध्यान का कारण मानता है, इसीलिये उसके यथार्थ में आर्तध्यान मंद भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीवों के आर्तध्यान क्वचित् ही होता है और इसका कारण उसके आत्मपुरुषार्थ की कमजोरी है ऐसा वह जानता है। इसीलिये वह स्व का पुरुषार्थ बढ़ाकर धीरे धीरे आर्तध्यान का अभाव करके अन्त में उसका सर्वथा नाश कर देता है।

मिथ्यदृष्टि जीव के स्वीय ज्ञान स्वभाव की अरुचि है, इसीलिये उसके सर्वत्र, निरन्तर, दुःखमय आर्तध्यान बर्तता है। सम्यग्दृष्टि जीव के स्व के ज्ञानस्वभाव की अखण्ड रुचि-श्रद्धा वर्तती है। इसीलिये उसके हमेशा धर्मध्यान रहता है, मात्र पुरुषार्थ की कमजोरी से किसी समय अशुभ भावरूप आर्तध्यान हो जाता है, किन्तु वह मंद होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के भाव से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान है। यह ध्यान पहले से पांचवें गुणस्थान पर्यन्त होता है-हो सकता है।

धर्मध्यान—(धर्म का अर्थ है और ध्यान का अर्थ है एकाग्रता) अपने शुद्ध स्वभाव में जो एकाग्रता है सो निश्चय धर्म ध्यान है; जिसमें क्रिया काण्ड के सर्व आडम्बरों का त्याग है, ऐसी अंतरंग क्रिया के आधार रूप जो आत्मा है उसे मर्यादा रहित तीनों काल के कर्मों की उपाधि रहित निज स्वरूप से जानता है। वह ज्ञान की विशेष परिणति या जिसमें आत्मा स्वाश्रय में स्थिर होता है सो निश्चय धर्म ध्यान है और यही संवर निर्जरा का कारण है। जो व्यवहार धर्मध्यान है वह शुभ भाव है, कर्म (क्रिया) के चिंतवन में मन लगा रहे, यह तो शुभ परिणाम रूप धर्म ध्यान है। जो केवल शुभ परिणाम से मोक्ष मानते हैं उन्हें समझना चाहिये कि शुभ परिणाम से अर्थात् व्यवहार धर्म से मोक्ष नहीं होता। हां, पुण्य बंध होता है, जो संसार ही है।

(समयसार गाथा २६१)

"शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥"

अर्थ—पहले दो प्रकार के शुक्ल ध्यान अर्थात् पृथकत्व वितर्क और एकत्व वितर्क ये दो ध्यान भी पूर्व-धारी श्रुतकेवली के होते हैं। नोट—इस सूत्र में च शब्द है वह यह बतलाता है कि श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है।

इस सूत्र में पूर्व धारी श्रुतकेवली के शुक्लध्यान होना बताया है सो उत्सर्ग कथन है, इसमें अपवाद कथन का गौण रूप से समावेश हो जाता है। अपवाद कथन यह है कि किसी जीव के निश्चय स्वरूपाश्रित मात्र का सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुषार्थ बढ़ाकर निज स्वरूप में स्थिर होकर शुक्ल ध्यान प्रगट करता है, शिवभूति मुनि इसके दृष्टांत हैं। उनके विशेष शास्त्रज्ञान न था तथापि (हेय और उपादेय का निर्मल ज्ञान था) निश्चय स्वाश्रित सम्यग्ज्ञान था, और इसी से पुरुषार्थ बढ़ाकर शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया था।

कितने ही जीव केवल व्यवहार नय का अवलंबन करते हैं, उनके पर द्रव्य रूप भिन्न साधन साध्य भाव की दृष्टि है, इसीलिये वे व्यवहार में ही खेदखिन्न रहते हैं। वे बहुत पुण्य के भार से गर्भित चित्तवृत्ति धारण करते हैं इसीलिये स्वर्ग लोकादि की क्लेश प्राप्ति करके परम्परा से दीर्घकाल तक संसार सागर में परिभ्रमण करते हैं। (देखो पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

प्रश्न—पंचाचारादि गुप्ति समिति जो जो कार्य संवर-निर्जरा रूप कहे हैं यद्यपि उन कार्यों को मात्र व्यवहारालम्बी जीव भी ग्रहण करता है तथापि उसके संवर निर्जरा क्यों नहीं होती ?

उत्तर—जो कार्य संवर-निर्जरा रूप कहे हैं वे व्यवहारालम्बी (मिथ्यादृष्टि) जीव के शुभ भावरूप नहीं हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि के शुभभाव रूप समझना क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव शुभ भाव को धर्म मानता है तथा उसे धर्म में सहायक मानता है, इसीलिये उसके शुद्धता प्रगट नहीं होती और संवर-निर्जरा की प्राप्ति नहीं होती। जिन जीवों के शुद्ध निश्चयनय का अवलंबन हो वे ही सम्यग्दृष्टि हैं, वे शुभ भाव को धर्म नहीं मानते। उनके रागद्वेष दूर करने, पुरुषार्थ करने पर अशुभ राग दूर होकर जो शुभ राग रह जाता है उसे वे सहायक भी नहीं मानते; इसीलिये वे अनुक्रम से वीतराग भाव बढ़ाकर उस शुभ राग भाव को भी दूर करते हैं। ऐसे जीवों को उनके इस व्यवहार को उपचार से संवर-निर्जरा का कारण कहा है। यह उपचार भी ज्ञानी के शुभ भाव रूप व्यवहार के लागू होता है क्योंकि उनके उस व्यवहार की हेयबुद्धि है, अतः वे उसे दूर करते हैं। अज्ञानी तो शुभ व्यवहार को ही धर्म मान कर-भला मानकर ग्रहण करता है, इसीलिये उसका शुभ राग उपचार से भी संवर-निर्जरा का कारण नहीं कहलाता। वास्तव में तो शुद्ध भाव ही संवर-निर्जरा रूप है। यदि शुभ भाव यथार्थ में संवर-निर्जरा का कारण हो तो केवल व्यवहारावलम्बी के समस्त प्रकार का निरतिचार व्यवहार है इसलिये उसके शुद्धता प्रगट होनी चाहिये। परन्तु राग संवर-निर्जरा का कारण ही नहीं है। अज्ञानी शुभ भाव को धर्म मानता है इस वजह से तथा शुभ करते करते धर्म होगा ऐसा मानने से और शुभ-अशुभ दोनों दूर करने पर धर्म होगा ऐसा नहीं मानने से उसका समस्त व्यवहार निरर्थक है, इसीलिये उसे व्यवहाराभासी (मिथ्यादृष्टि) कहा है। भव्य तथा अभव्य जीवों ने ऐसा व्यवहार (जो वास्तव में व्यवहाराभास है।) अनंतबार किया है और इसके फल से अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक स्वर्ग तक गया है, किन्तु इससे धर्म नहीं हुआ। धर्म तो शुद्ध निश्चय स्वभाव के आश्रय से होने वाले रत्नत्रय से ही होता है।

यद्यपि अभव्य जीव भी शील और तप से परिपूर्ण तीन गुप्ति और पांच समितियों के प्रति सावधानी से वर्तता हुआ अहिंसादि पांच महाव्रत रूप सावधानी से व्यवहार चारित्र करता है तथापि वह चारित्र रहित (निश्चारित्र) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि निश्चय चारित्र के कारण रूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है, रहित है। निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धा के बिना वह सम्यक्चारित्र नाम नहीं पाता, इस अपेक्षा निश्चारित्र (चारित्र रहित) कहा है। नोट—यहां अभव्य जीव का उदाहरण दिया है किंतु यह सिद्धांत व्यवहार का आश्रय लेने वाले समस्त जीवों के एक सरीखा लागू होता है।

जो शुद्धात्मा का अनुभव है सो यथार्थ मोक्षमार्ग है। इसीलिये उसको निश्चय कहा है। व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नहीं, किन्तु निमित्तादिक की अपेक्षा से उपचार से उसे मोक्ष-

मार्ग कहा है, इसीलिये इसे व्यवहार कहते हैं। इस प्रकार यह जानना कि—भूतार्थ मोक्षमार्ग के द्वारा निश्चय नय और अभूतार्थ मोक्षमार्ग के द्वारा व्यवहार नय कहा है। किन्तु इन दोनों को ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्या बुद्धि ही है।

किसी भी जीव के निश्चय-व्यवहार का स्वरूप समझे बिना धर्म या संवर-निर्जरा नहीं होती। शुद्ध आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप समझ में नहीं आता; इसलिये पहले आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने की आवश्यकता है।

जिन धर्म का अर्थ है वस्तुस्वभाव। जितने अंश में आत्मा की स्वभाव दशा (शुद्ध दशा) प्रगट होती है उतने अंश में जीव के 'जिन धर्म' प्रगट हुआ कहलाता है। जिन धर्म कोई संप्रदाय बाड़ा या संघ नहीं किन्तु आत्मा की शुद्ध दशा है; और आत्मा की शुद्धता में तारतम्यता होने पर शुद्ध रूप तो एक ही तरह का है अतः जिन धर्म में प्रभेद नहीं हो सकते। जैन धर्म के नाम से जो बाड़ा-बंदी देखी जाती है उसे यथार्थ में जिनधर्म नहीं कह सकते।

भरत क्षेत्र में जिन धर्म पांचवें काल के अंत तक रहने वाला है, अर्थात् वहां तक अपनी शुद्धता प्रगट करने वाले मनुष्य इस क्षेत्र में ही होते हैं और उनके शुद्धता के उपादान कारण की तैयारी होने से आत्मज्ञानी गुरु और सत् शास्त्रों का निमित्त भी होता ही है। जैन धर्म के नाम से कहे जाने वाले शास्त्रों में से कौन से शास्त्र परम सत्य के उपदेशक हैं, इसका निर्णय धर्म करने के इच्छुक जीवों को अवश्य करना चाहिये। जब तक जीव स्वयं यथार्थ परीक्षा करके कौन सत् शास्त्र हैं, इसका निर्णय नहीं करता, तब तब गृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। गृहीत मिथ्यात्व दूर हुए बिना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है? इसीलिये जीवों को स्व में जिन धर्म प्रगट करने के लिये अर्थात् यथार्थ संवर-निर्जरा प्रगट करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये।

समस्त पराश्रित व्यवहार यदि वे शुभ होते हैं तो शुभ-बंध के और अशुभ होते हैं तो अशुभ-बंध के कर्ता जानकर उन्हें छोड़ना तथा स्वाश्रित, आत्माश्रित जो जो भी प्रवृत्तियां हैं वे सब कर्मनिर्जरा का कारण जानकर उन्हें ग्रहण करना, बस यही एक मात्र उपदेश श्री तारण स्वामी का पाया जाता है।

निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना चाहिये, और व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये। (श्री कानजी स्वामी)

श्री समयसार कलश १७३ में भी यही कहा है कि—जिससे सभी हिंसादि तथा अहिंसादि में अध्यवसाय हैं वे सब छोड़ना—ऐसा श्री जिनदेव ने कहा है। उससे मैं (अमृतचन्द्राचार्य) ऐसा

मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सारा छुड़वाया है। तो सत्पुरुष एक निश्चय को ही भली भांति निश्चय रूपसे अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनरूप अपनी आत्म-महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते?

भावार्थ—यहाँ व्यवहार का त्याग कराया है, इसलिये निश्चय को अंगीकार करके निज महिमा रूप प्रवर्तन युक्त है। अष्टपाहुड़ में मोक्षपाहुड की ३१ वीं गाथा में कहा है कि—

जो व्यवहार में सोते हैं वे योगी अपने कार्य में जागते हैं; तथा जो व्यवहार में जागते हैं वे अपने कार्य में सोते हैं, इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़ कर निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उसके भावों को तथा कारण-कार्यादि को किसी के किसी में मिलाकर निरूपण करता है इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसी को यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से 'सम्यक्त्व' होता है, इसलिये उसी का (निश्चयनय का) श्रद्धान करना चाहिये। (मोक्षशास्त्र कानजी स्वामी)

प्रश्न—अगर ऐसा है तो क्या कारण है कि जिनमार्ग में दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है?

उत्तर—जिनमार्ग में किसी स्थान पर तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है; उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है" ऐसा जानना; तथा किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है" ऐसा जानना चाहिये; और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है" ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ निश्चयव्यवहार नयाभाषावलम्बी मिथ्यादृष्टियों के निरूपण में उपरोक्त कथन भलीभांति से स्पष्ट किया है।)

इन्हीं सब विचारों से श्री तारण स्वामी ने अपने द्वारा रचित 'अध्यात्म वाणी' ग्रन्थ में निश्चयनय की मुख्यता बताकर समस्त व्यवहार करने का कथन इस उत्तम ढंग से किया है कि जो भी व्यवहार करो उसमें आत्मज्ञान का आधार होना चाहिये; बिना आत्म-ज्ञान के किया हुआ समस्त व्यवहार मिथ्या व्यवहार है, क्रियायें मिथ्या क्रियायें हैं। जबकि आत्म-ज्ञानपूर्वक किये गये समस्त व्यवहार सम्यक् व्यवहार हैं, क्रियायें सम्यक् क्रियायें हैं। ऐसा नहीं कहा कि सब व्यवहार छोड़ दो और निश्चयाभाषी (मिथ्यादृष्टि) बन जाओ। क्योंकि व्यवहार तो केवलज्ञानी होने के पहले तक मुनियों के साथ भी रहता है और उसका रहना भी अनिवार्य है। तब व्यवहार छोड़ देने की बात श्री तारण स्वामी या कोई भी आचार्य कैसे कह सकते हैं?

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने जो व्यवहार में सोने और निश्चय में जागने को कहा है इसका यह अर्थ नहीं जानना कि व्यवहार छोड़ देने को कहा है। हां, व्यवहार में मध्यस्थता और निश्चय में सतर्कता की वृत्ति और बुद्धि रखनी चाहिये। यही आशय श्री कुन्दकुन्द, तारणस्वामी और सभी आचार्यों का जानकर तदनुसार प्रवृत्ति करना ही सम्यक् मार्ग है।

मोक्षशास्त्र (तत्वार्थ सूत्र) के सातवें अध्याय में शुभास्रव का वर्णन किया है। उसमें बारह व्रतों का वर्णन करके उसका आस्रव के कारण में समावेश किया है। इस अध्याय में श्रावकाचार के वर्णन का समावेश हो जाता है। (कानजी स्वामी)

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने इस शास्त्र का प्रारम्भ करते हुये पहले ही सूत्र में यह कहा कि 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग है।' उसमें गर्भित रूप से यह भी आ गया कि इससे विरुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु संसार-मार्ग है। इस प्रकार इस सूत्र में जो विषय गर्भित रखा था वह विषय आचार्य देव ने इन छट्टे सातवें अध्यायों में स्पष्ट किया है। छट्टे अध्याय में कहा है कि शुभाशुभ दोनों भाव आस्रव है और इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये इस सातवें अध्याय में मुख्यरूप से शुभास्रव का अलग वर्णन किया है।

पहले अध्याय के चौथे सूत्र में जो सात तत्व कहे हैं उनमें से जगत के जीव आस्रव तत्व की अजानकारी के कारण ऐसा मानते हैं कि 'पुण्य से धर्म होता है'। कितने ही लोग शुभयोग को संवर मानते हैं तथा कितने ही ऐसा मानते हैं कि अणुव्रत महाव्रत मैत्री इत्यादि भावना, तथा करुणा-बुद्धि इत्यादि से धर्म होता है अथवा वह धर्म का (संवर का) कारण होता है, किन्तु यह मान्यता अज्ञान से भरी हुई है। ये अज्ञान दूर करने के लिये खास रूप से यह एक अध्याय अलग बनाया है और उसमें इस विषय को स्पष्ट किया है।

इस अध्याय में बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीव के होने वाले व्रत, दया, दान, करुणा, मैत्री इत्यादि भाव भी शुभास्रव हैं और इसलिये वे बंध के कारण हैं तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव के (जिसके यथार्थ व्रत हो ही नहीं सकते) उसके शुभ धर्म संवर या उसका कारण किस तरह हो सकता है? कभी हो ही नहीं सकता। अज्ञानी का शुभभाव तो अशुभ भाव का (पाप का) परम्परा कारण कहा जाता है। इतनी भूमिका लक्ष में रखकर इस अध्याय के सूत्रों में रहे हुये भाव बराबर समझने से वस्तुस्वरूप की भूल दूर हो जाती है। (मोक्षशास्त्र कानजी स्वामी)

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि—पुण्य और धर्म ये दोनों एक ही नहीं हैं। पुण्य संसार-सुख का कारण है। पुण्य से मोक्ष नहीं होता जब कि धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। नहीं जानने वाले पुण्य से ही धीरे-धीरे मोक्ष हो जायगा ऐसा ही मानते हैं। उनके इस अज्ञान को दूर करने के लिये आचार्य श्री ने सातवें अध्याय का वर्णन विशद रूप से किया है।

अणुव्रत, महाव्रत, दान, मैत्री, करुणा भाव इन सबसे पुण्य का बंध होता है। पुण्य से स्वर्गादि सम्पदा मिलती है, संसार की चारों गतियों में पुण्य सहायक होता है कि जिसकी सहायता से दुखों का निवारण और सुख-साता की प्राप्ति होती है। अत: जब तक हमारी आत्मा को संसार में रहना है हमें पुण्य की परम आवश्यकता है। इसलिये हमें देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये श्रावक के षट् कर्म नियम से पालने ही चाहिए। ऐसा नहीं कि पुण्य से भी जब बंध कहा है तो पुण्य-कार्य छोड़ ही देने चाहिए। यदि ऐसी भूल की गई तो (जैसा कि कानजी स्वामी का प्रवचन सुनकर या उनका साहित्य पढ़कर कई भाई पुण्य कार्य छोड़कर उच्छृ-खल हो गये हैं) इधर के रहेंगे न उधर के। 'माया मिली न राम' यही दशा होगी। हाँ समझना यह है कि पुण्य से ही संसार भ्रमण नहीं छूटेगा जब तक कि हम 'धर्म' की प्राप्ति करने का पुरुषार्थ नहीं करेंगे। "धर्म की परिभाषा है आत्मा का अपना स्वभाव।" यह तब ही प्राप्त होगा जब कि हम आत्मा की आराधना करेंगे। यदि हम आत्म-आराधना छोड़कर भगवान की आराधना जो कि—पुण्य-बंध को करने वाली है उसे ही मोक्षप्राप्ति का कारण जानकर करते रहेंगे तो धोखे में पड़े रहेंगे और मोक्ष नहीं पायेंगे। अतएव प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह षट् कर्म करता हुआ भी आत्म आराधना करता रहे; किन्तु षट् कर्मों को न छोड़ बैठे। हाँ 'षट् कर्म' शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार के होते हैं उन्हें भली भांति समझले, इसका वर्णन श्री तारण स्वामी ने श्री श्रावकाचार जी ग्रन्थ (अध्यात्मवाणी) में गाथा नं० ३२० से ३७६ तक विस्तार रूप से किया है। यदि हमने शुद्ध षट् कर्म को नहीं समझा और अशुद्ध षट् कर्म ही करते रहे तो पुण्य बंध की बजाय पाप बंध ही होता रहेगा।

देव का स्वरूप क्या है। उसे तो नहीं समझा और कुदेव मिथ्याकुदेव तथा अदेव (मूर्ति) को देव मानकर इनकी पूजा को देवपूजा, निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप क्या है। उसे तो नहीं समझा और रागी-द्वेषी, परिग्रहधारी (भले ही उन्होंने अपना भेष मुनि का ही क्यों न बना लिया हो) गुरु की उपासना को गुरूपास्ति। स्वाध्याय का वास्तविक अर्थ है स्वात्मानुभव और ऐसे ही ग्रन्थों की स्वाध्याय करना, इसे न किया और विकथा एवं कुकथाओं को वर्णन करने वाले कथा पुराणों के पढ़ लेने को मान लिया स्वाध्याय, तथा इसी तरह असंयम को संयम, कुतप को तप, और कुदान को दान मानकर करते रहे तो केवल पाप का ही बंध करने वाला षट् कर्म होगा; और यदि शुद्ध षट् कर्म किया जायगा तो पुण्य बंध होता रहेगा। फिर भी यह ध्यान रखना जैसाकि श्री कुन्द-कुन्द स्वामी ने कहा है कि पुण्य-बंध से मोक्ष नहीं होती मोक्ष तो केवल अपनी आत्म-आराधना से ही होती है। अतएव श्रावक हो चाहे मुनि, सबको ही आत्म आराधना करनी ही चाहिये। इस तरह पुण्य-बंध आत्म आराधना की दोहरी लाइन आपकी या हमारी सबकी चलती रहने पर सम्यक्त

की प्राप्ति हो जायगी। और जब सम्यक्त प्राप्त हो जायगा तब स्वतः स्वभाव पुण्य-फल से अरुचि हो जायगी, पुण्य से नहीं। साथ ही साथ आत्म आराधना बढ़ती चली जायगी और वह आत्म-आराधना हमें मोक्ष प्राप्त करा देगी।

तात्पर्य यह है कि हमें पुण्य-कर्म नहीं छोड़ना है, पुण्य-फल की आकांक्षा को छोड़ना है और भगवान की पूजा नहीं छोड़नी है भगवान का यथार्थ स्वरूप समझना है और समझना है पूजा का सच्चा विधिविधान कि सच्ची पूजा किसे कहते हैं और वह किस तरह किसकी की जानी चाहिये। यही भाव श्री कानजी स्वामी का है कि जो वे अपने प्रवचन में बारबार कहते हैं। हम उसे तो ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न नहीं करते हैं और मनमाना अर्थ समझकर उच्छृंखल बन जाते हैं।

इस जगत में जीव और अजीव केवल दो ही द्रव्य हैं और उनके परिणमन से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह मिलकर सात तत्व कहे गये हैं। और इन्हीं में पुण्य-पाप ये दो मिलकर नौ तत्व या पदार्थ कहे जाते हैं।

जैसे स्फटिक मणि यद्यपि स्वभाव से निर्मल है तथापि रंगीन डांकपत्र के सामीप्य से अपनी योग्यता के कारण से पर्यायांतर परिणति ग्रहण करती है। यद्यपि स्फटिकमणि पर्याय में उपाधि का ग्रहण करती है तो भी निश्चय से अपना जो निर्मल स्वभाव है उसे वह नहीं छोड़ती। ठीक ऐसा ही स्वभाव जीव का है कि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से तो सहज शुद्ध चिदानन्द एक रूप है, परंतु स्वयं अनादिकर्म बंधरूप पर्याय के वशीभूत होने से वह रागादि परद्रव्य उपाधि पर्याय को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्याय में पर पर्याय रूप से परिणमता है तथापि निश्चयनय से अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता।

चिदानन्द मानी आत्मा आनन्दरूप है। इस आनन्द रूप का अनुभव करते रहना, आनन्द रूप में रहना ही आत्म आराधना करना है, आत्मानुभव करना है। और उस आत्मानन्द को परमानन्द परिणति की ओर अग्रसर करते रहना ही आत्म-पूजा करना है, भगवान की पूजा है। इसी तरह दूसरे मनुष्य और प्राणीमात्र आत्मानन्द को प्राप्त हों ऐसी हमारी प्रत्येक क्रियाएं दूसरों की आत्म-पूजा करना है, भगवान की पूजा करना है। इस पूजा में ही अहिंसा परमो धर्मः समाया है। इस तत्व को समझे बिना भगवान की पूजा, पूजा नहीं और मूर्तिपूजा से तो भगवान की पूजा का कोई सम्बन्ध ही नहीं।

सात तत्वों में जीव तत्व की निर्मलता एवं सिद्धि के लिये अजीव, आश्रव, बंध ये तीन तत्व तो हेय हैं और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन तत्व उपादेय हैं।

ज्ञेय=आत्मपदार्थ, हेय उपरोक्त तीन तत्व त्यागने योग्य और तीन तत्व उपादेय अर्थात् ग्रहण

करने योग्य हैं। इनका भली भांति अनुभव ज्ञान हो जाना नितान्त आवश्यक है। इसी को हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान कहते हैं।

वास्तव में सुख और दुःख नाम की कोई चीज है ही नहीं, अपने सम्यक्तभाव में सुख और मिथ्यात्व भाव में ही दुख है क्योंकि सम्यक्त स्वयं सुखरूप है और मिथ्यात्व भाव स्वयं दुःखरूप है।

मिथ्यात्व और शुभाशुभ रागादि भाव प्रगट रूप से दुःख के देने वाले हैं, किन्तु अज्ञानी मनुष्य न जाने क्यों इनमें ही मिठास मानकर आत्म-सुख से वंचित हो रहा है!

जड़ से कटे हुये वृक्ष के हरे पत्ते सूखने वाले ही हैं, इसी तरह मिथ्यात्व रूपी वृक्ष कट जाने पर कर्मरूपी पत्ते नियम से सूखकर झड़ ही जाते हैं।

योग में शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं, किन्तु अंतरंग चारित्र गुण की पर्याय में उपयोग तदनुरूप परिणमन कर लेता है। आत्म-भावना शुद्ध परिणति रूप हो तो शुद्धोपयोग, शुभ परिणति रूप हो तो शुभोपयोग और अशुभ परिणति रूप हो तो अशुभोपयोग कहा जाने लगता है।

शुद्धोपयोग, निर्विकल्प आनन्द रूप है और परमानन्द की ओर अग्रसर करने वाला है, कर्म निर्जरा को करने वाला यही है। शुभोपयोग सविकल्प है और केवल सुखाभास ही कराता है। जबकि अशुभोपयोग केवल खेद और आकुलता जनक ही है।

कहा गया है कि शुद्धोपयोग अपूर्वकरण नामक आठवें गुण में प्रगट होता है यह ठीक है फिर भी इसकी झलक चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टि को होने लग जाती है। यही झलक तो उसे 'सानन्द वीतराग निर्विकल्प समाधि' की ओर अग्रसर करती है।

शुद्धोपयोग आत्माश्रित होता है, क्योंकि यह आत्मा का निज स्वभाव रूप है। शुभ और अशुभोपयोग पर पदार्थों के आश्रय से होता है, क्योंकि यह दोनों विकारी भाव हैं, इसीलिये कर्मबंध के कारण हैं, जबकि शुद्धोपयोग कर्म निर्जरा करने वाला है।

शुभोपयोग और अशुभोपयोग करते हुये तो इस आत्मा को अनादिकाल बीत गया किन्तु एक शुद्धोपयोग के नहीं कर सकने के कारण से संसारभ्रमण ही करती रही। और फिर भी इस मनुष्य जन्म, श्रावक कुल को पाकर शुद्धोपयोग न कर सके तो आगे भी अनन्तकाल भटकती ही रहेगी।

प्रश्न—आत्मा के पराधीन करने में पुण्य और पाप दोनों ही समान कारण हैं—सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी की तरह पुण्य और पाप दोनों ही आत्मा की स्वतंत्रता का अभाव करने में समान हैं, तो फिर उसमें शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद क्यों?

उत्तर—उनके कारण से मिलने वाली इष्ट-अनिष्ट गति, जाति इत्यादि की रचना के भेद का ज्ञान कराने के लिये उसमें भेद कहे हैं—अर्थात् संसार की अपेक्षा से भेद है, धर्म की अपेक्षा

से भेद नहीं, अर्थात् दोनों प्रकार के भाव 'अधर्म' हैं। अधर्म के मानी आत्मधर्म नहीं ऐसा जानना।

तीव्र कषाय से शुभ प्रकृति का रस तो घट जाता है और असाता वेदनीयादिक अशुभ प्रकृति का रस अधिक हो जाता है, मंद कषाय से (शुभ भाव से) पुण्य प्रकृति में रस बढ़ता है और पाप प्रकृति में रस घटता है। इसलिये स्थिति तथा रस (अनुभाग) की अपेक्षा से शुभ परिणाम को पुण्यास्रव और अशुभ परिणाम को पापास्रव कहा है।

शुभ योग के निमित्त से ज्ञानावरणी आदि अशुभ कर्म भी बँधते हैं। इसका स्पष्टीकरण शुभ योग से शुभ और अशुभ योग से अशुभ कर्मों का बँध तो होता ही है किन्तु कभी कभी शुभ योग में अशुभ कर्म का भी बँध हमारी अज्ञानता से बँध जाता है। जैसे—धार्मिक (रूढ़ि) भावना से किसी को मंदिर आने से रोकना, शास्त्र नहीं पढ़ने देना, धर्म काम के लिये किसी को सताकर उसका द्रव्य ले लेना अथवा दबाकर दान करा देना या अपनी धार्मिक साधनाओं के निमित्त दूसरों को क्लेशित कर देना व अपने भावों को बिगाड़ लेना, धर्म प्रचार की भावना से मतपुष्टि कारक असत् ग्रन्थों का प्रकाशन करना अथवा असत् उपदेश करना, दान, पूजादि करके मान-प्रतिष्ठा और स्वर्गादि सुख-भोगों की इच्छा करना, धर्मकार्य करने हेतु अन्याय से द्रव्योपार्जन करना और अपनी कुत्सित भावनापूर्ति के लिये धर्म कार्य करना व पुण्य-कार्य से पापों का क्षय हो जाता है इस विचार से पाप कार्य करते रहना और उनके क्षय होने की भावना से धर्म कार्य करते रहना, इत्यादि इत्यादि, शुभ योग से अशुभ कर्म बँध जाते हैं।

पुण्य करने से बँधे हुए पाप कर्मों की निर्जरा नहीं होती। हाँ, पाप कर्मों का रस मंद पड़ जाता है और पुण्य का बंध तो होता ही है। ध्यान रहे, रस मंद पड़ जाना भी बहुत बड़ी बात है। और इसी तरह पाप करने से पुण्य कर्मों की निर्जरा नहीं होती, परन्तु उसका रस मंद पड़ जाता है और पाप कर्म का बंध तो होता ही है। जो यह साधारण नहीं बहुत बड़ी हानि करने वाली बात है। तात्पर्य यह कि पुण्य कर्म से डबल लाभ और पाप कर्म से डबल हानि होती है। अत: हमारी संसार यात्रा सुख से बीते इसलिये पाप कार्य छोड़कर निरन्तर पुण्य-कार्य करना चाहिए। और यदि हम संसार से छूटकर मोक्षप्राप्ति करना चाहते हैं तो पुण्य करने से ही नहीं छूट जायेंगे, इसके लिये हमें पुण्य की भी आकांक्षा छोड़कर आत्म-धर्म करना होगा। बिना आत्म-धर्म की साधना किये मोक्षप्राप्ति न होगी।

वीतराग परिणति से आत्म-धर्म होता है। पुण्य परिणति से पुण्य-बँध और पाप परिणति से पाप का बँध होता है।

वीतराग परिणति, अमृत तुल्य मीठा स्वाद देती है, आत्मानन्द का भोग कराती और मोक्ष प्राप्त कराती है। जब कि पुण्य परिणति केवल स्वर्ण के समान शोभायमान है, संसारिक इन्द्रिय

जन्य (पराधीन) सुख देती है और एक प्रकार से आत्मा को परतंत्र ही करती है, इसीलिये आत्म-ज्ञान की दृष्टि से 'पुण्य पाप प्रक्षालितं' कहा है। तथा पाप परिणति तो प्रत्यक्ष ही दुःखदायक है तथा नर्क निगोदादि दीन-हीन गतियों में ले जाती है।

निर्जरा शुद्ध भाव से ही होती है अर्थात् तत्त्वदृष्टि के बिना, संवर पूर्वक निर्जरा नहीं होती। संवर पूर्वक निर्जरा होती है, उसी का नाम धर्म अथवा आत्म-धर्म है जो कि हमारी आत्मा को कर्म-बंधन से उत्तरोत्तर छुटकारा कराती है।

यथार्थ ज्ञान का नाम ही तत्त्वदृष्टि अथवा तत्त्वदृष्टि का नाम ही यथार्थ ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है। इसका हो जाना ही सच्चा भाग्योदय है। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि—

धन कन कंचन राज-सुख, सबहि सुलभकरि जान। दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥

जितने अंश में शुद्ध भाव की प्रगटता होती है उतने अंश में धर्म होता है और धर्म से ही संवर पूर्वक निर्जरा होती है। धर्म आत्मा का अपना निज भाव है। धर्म का ही दूसरा नाम सम्यक्त है और सम्यक्त का नाम ही धर्म है।

तीव्र भाव, मंद भाव, ज्ञान भाव, अज्ञान भाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष से आश्रव में विशेषता हीनाधिकता होती है। अधिकरण—जिस द्रव्य का आश्रय लिया जावे वह अधिकरण है। वीर्य—द्रव्य की शक्तिविशेष को वीर्य (बल) कहते हैं।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से 'आश्रव' ही दुःख का मूल है। वह शुभ हो या अशुभ।

प्रश्न—अशुभाश्रव से बचने के लिये हम पाप-कार्य न करें यह तो ठीक है परन्तु क्या शुभाश्रव से बचने के लिये हमें पुण्य-कार्य भी न करने चाहिए ?

उत्तर—प्रत्येक को अपने पद के अनुसार पुण्य-कार्य तो करने चाहिये। परन्तु पुण्य-कार्य करते हुये किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं करने पर शुभाश्रव न होगा और यदि होगा भी तो सातिशय पुण्य-बंध कारक होगा जो कि आत्मकल्याण में बाधक नहीं प्रत्युत साधक होगा।

"अधिकरणं जीवाऽजीवाः।" अधिकरण जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य ऐसे दो भेद रूप है; इसका स्पष्ट अर्थ है कि आत्मा में जो कर्मास्रव होता है उसमें दो प्रकार का निमित्त होता है; एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त।

जिस कषाय से जीव अपने स्वरूपाचरण चारित्र को प्रगट न कर सके उसे अनंतानुबंधी कषाय कहते हैं। जिस कषाय से जीव एक देश रूप संयम (सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रत) किंचित् मात्र भी प्राप्त न कर सके उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। जिस कषाय से सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल संयम को ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। जिस कषाय से जीव का

संयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभाव में-शुद्धोपयोग में पूर्ण रूप से लीन न हो सके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मस्वभाव की प्रतीति करके अज्ञान मोह को जीतकर राग द्वेष को त्याग देता है अर्थात् राग द्वेष का स्वामी नहीं होता; वह भरत चक्रवर्ति की भाँति वैभव-संयोग में रहता हुआ भी 'जिन' है। चौथे, पांचवें गुणस्थान में रहने वाले जीवों का ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शन का माहात्म्य कैसा है यह बताने के लिये अनन्त ज्ञानियों ने यह स्वरूप कहा है। इन सम्यग्दृष्टि जीवों के अपनी शुद्ध पर्याय के अनुसार शुद्धता के प्रमाण में संवर-निर्जरा होती है।

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हुआ कि चौथे गुणस्थान से ही यह जीव 'जिन' पद का अधिकारी हो जाता है। अन्तरात्मा मानो 'जिन', इसकी तीन श्रेणियां (१-अव्रत सम्यग्दृष्टि, २-देशव्रती, ३-महाव्रती) होती हैं। परमात्मा मानो जिनवर, जिनेन्द्र व सिद्ध।

जहां से यह जीव कषायों को जीतना प्रारम्भ करता है वहीं से जिन पद हो जाता है। चौथे गुणस्थान से ही यह जीव कषायों को जीतना प्रारम्भ कर देता है अर्थात् पुरुषार्थ करने लगता है।

सम्यग्दर्शन के माहात्म्य को नहीं समझने वाले मिथ्यादृष्टि जीवों की बाह्य संयोगों और बाह्य त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिये वे उपरोक्त कथन का आशय नहीं समझ सकते और सम्यग्दृष्टि के अन्तरंग परिणमन को वे नहीं समझ सकते। इसलिये धर्म करने (आत्मकल्याण करने) के इच्छुक जीवों को संयोग दृष्टि छोड़कर वस्तुस्वरूप को समझने की और यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उन पूर्वक सम्यक् चारित्र के बिना संवर-निर्जरा प्रगट करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

इस जगत में दो ही मार्ग हैं, मोक्ष मार्ग और संसार मार्ग। सम्यक्त्व मोक्ष मार्ग की जड़ है और मिथ्यात्व संसार की जड़ है। जो जीव संसार मार्ग से विमुख हों वे ही मोक्ष मार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

मुमुक्षु जीवों को मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिये उपरोक्त बारे में यथार्थ विचार करके संवर निर्जरा तत्त्व का स्वरूप बराबर समझना चाहिये। जो जीव अन्य पाँच तत्त्वों सहित इस संवर तथा निर्जरा-तत्त्व की श्रद्धा करता है, जानता है वह अपने चैतन्य स्वरूप की ओर झुककर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा संसार चक्र को तोड़कर अल्प काल में वीतराग चारित्र को प्रगट कर निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करता है।

यद्यपि केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय यथाख्यात चारित्र हो गया है तथापि अभी परम

यथाख्यात चारित्र नहीं हुआ। कषाय और योग अनादि से अनुसंगी (साथी) हैं तथापि प्रथम कषाय का नाश होता है, इसीलिये केवली भगवान के यद्यपि वीतरागता रूप यथाख्यात चारित्र प्रगट हुआ है तथापि योग के व्यापार का नाश नहीं हुआ। योग का परिस्पंदन रूप व्यापार परम यथाख्यात चारित्र में दूषण उत्पन्न करने वाला है। इस योग के विकार की क्रम क्रम से भाव निर्जरा होती है। इस योग के व्यापार की संपूर्ण भाव निर्जरा हो जाने तक तेरहवां गुणस्थान रहता है।

तेरहवें गुणस्थान में संसारित्व रहने का यथार्थ कारण यह है कि वहाँ जीव के गुण गुण का विकार है तथा जीव के प्रदेशों की योग्यता उस क्षेत्र में (शरीर के साथ) रहने की है, तथा जीव के अव्याबाध, निर्नामी, निर्गोत्री और अनायुषी आदि गुण अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुआ। इस प्रकार जीव अपने ही कारण से संसार में रहता है। वास्तव में जड़ अघाति कर्म के उदय के कारण या किसी पर के कारण से जीव संसार में रहता है, यह मान्यता बिल्कुल असत् है। यह तो व्यवहार कथन मात्र है कि—'तेरहवें गुणस्थान में चार अघाति कर्मों का उदय है इसीलिये जीव सिद्धत्व को प्राप्त नहीं होता' जीव के अपने विकारी भाव के कारण संसार होने से तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में भी जड़ कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बध कैसा होता है यह बताने के लिये कर्मशास्त्रों में ऊपर बताये अनुसार व्यवहार कथन किया जाता है। वास्तव में कर्म के उदय सत्ता इत्यादि के कारण कोई जीव संसार में रहता है यह मानना सो, जीव और जड़ कर्म को एकमेक मानने रूप मिथ्या मान्यता है। शास्त्रों का अर्थ करने में अज्ञानियों की मूलभूत भूल यह है कि व्यवहार नय के कथन को वह निश्चय नय का कथन मानकर व्यवहार को ही परमार्थ मान लेता है। यह भूल दूर करने के लिये आचार्य ने मोक्षशास्त्र के प्रथम अ० के छट्टे सूत्र में प्रमाण तथा नय का यथार्थ ज्ञान करने की आज्ञा की है। इसीलिये जिज्ञासुओं को शास्त्रों का कथन किस नय से है और इसका परमार्थ (भूतार्थ-सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है यह यथार्थ समझकर शास्त्र-कार के कथन के मर्म को जान लेना चाहिये, किन्तु भाषा के शब्दों को नहीं पकड़ना चाहिये। इस अज्ञान को दूर करने के लिये समयसार जी ग्रन्थ में गाथा ३२४, ३२५, ३२६ कही हैं।

जीव में योग गुण का विकार होने पर तथा अव्याबाधादि गुणों में विकार होने पर भी और परम यथाख्यात के चारित्र हुये बिना, जीव की शुद्ध दशा प्रगट हो जायगी जो कि अशक्य है; यही कारण है कि केवली भगवान को भी निरोध करना पड़ता है तभी वे सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं।

यह नियम है कि जिस समय जो जीव अपने उपादान की जाग्रति से (आत्मपुरुषार्थ से) धर्म (आत्मधर्म) प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करता है उस समय उस जीव के इतना पुण्य का

संयोग होता ही है कि जिससे उसे उपदेशादिक योग्य निमित्त (सामग्री) स्वयं मिलते ही हैं। उपादान (आत्मा) की पर्याय का और निमित्त की पर्याय का ऐसा ही सहज स्वाभाविक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो तो जगत में कोई जीव धर्म (आत्मज्ञान-आत्मशान्ति-आत्मीय आनन्द-सहजानन्द) प्राप्त कर ही न सकेंगे। और वे सुखस्वरूप कभी नहीं हो सकेंगे। इस पर से यह समझना कि जीव के उपादान के प्रत्येक समय की पर्याय की जिस प्रकार की योग्यता हो तदनुसार उस जीव के उस समय के योग्य निमित्त का संयोग स्वयं मिलता ही है।

मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्न से (पुरुषार्थ से) प्रथम मिथ्यात्व को दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थ से क्रम क्रम से विकार को दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थ के विकल्प से (अर्थात् खाली विचारने भर व कहने भर से) मोक्ष की साधना और प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष का प्रथम कारण सम्यग्दर्शन है और वह पुरुषार्थ से ही प्रगट होता है।

हे भव्य ! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या लाभ है ? इस कोलाहल से तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल होकर देख। इस प्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय-सरोवर में आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ? अर्थात् ऐसा करने से अवश्य आत्मा की प्राप्ति होती है। (समयसार)

हे भाई ! तू किसी भी तरह महाकष्ट से अथवा मरकर के भी (अर्थात् हर प्रयत्नों के द्वारा) तत्वों का कौतूहली (तमाशगीर बनकर) इस शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक महूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर कि जिससे निज आत्मा को विलासरूप सर्व परद्रव्यों से भिन्न देख कर इस शरीरादि मूर्तीक पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को तू छोड़ ही देगा।

यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गल द्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घाति कर्म नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव का ऐसा ही माहात्म्य है।

सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। बिना कारण के कार्य सिद्ध नहीं होता। इस कारण और कार्य को ठीक ठीक जानना परमावश्यक है। इस कारण और कार्य को नहीं जानने वाले अज्ञानी जन शुभराग अर्थात् पुण्य को कारण और मोक्ष को कार्य मान रहे हैं, यही मूल में भूल हो रही है।

जब जीव मोक्ष का पुरुषार्थ करता है तब परम-पुण्य का उदय तो स्वयं होता ही है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जिस साधन का फल स्वर्ग मानता है उसी जाति के साधन का फल

वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस किस्म के अल्प साधन हों तो उनसे इन्द्रादि पद मिलते हैं और जिसके वह साधन सम्पूर्ण हों तो वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रमाण से वह दोनों के साधन की एक जाति मानता है।

इन्द्र आदि का जो सुख है वह तो कषाय भावों से आकुलता रूप है, अतएव परमार्थतः वह दुःखी है। और सिद्ध के तो कषाय रहित अनाकुल सुख है। इसलिये दोनों सुखों की जाति एक नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। स्वर्ग का कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्ष का कारण वीतराग भाव है। इस प्रकार उन दोनों के कारण में अन्तर है। जिन जीवों के ऐसा भाव नहीं भासता उनके मोक्ष तत्व का यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, एक ही है, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो तरह से किया गया है। जहां सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है वह निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग है; तथा जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग में निमित्त है अथवा साथ में होता है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है, लेकिन वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

जो स्व द्रव्य (आत्मा) को ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते हैं और जिनके आत्मा की प्रवृत्ति उपेक्षा रूप ही हो जाती है ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चय रत्नत्रय युक्त हैं। और वे ही यथार्थतः मोक्षमार्गी हैं।

बुद्धिमान और संसार से उपेक्षित हुये जो जीव तत्वार्थ के सार को ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझकर निश्चलतापूर्वक मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होगा वह जीव मोह का नाश कर संसारबंधन को दूर करके निश्चल चैतन्यस्वरूपी मोक्ष तत्व को प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि संसार से उपेक्षाभाव किये बिना अर्थात् उदासीन भाव किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

पहले भेदविज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, यह निश्चय करने पर जीव के स्व की ओर ही (स्वयं आत्मपुरुषार्थ की ओर ही) झुकाव रहता है। अब स्व की तरफ झुकने में दो पहलू हैं। उनमें एक त्रिकाली चैतन्य स्वभाव भाव जो परम पारिणामिक भाव कहा जाता है-वह है। और दूसरा स्व की वर्तमान पर्याय। पर्याय पर लक्ष्य करने से विकल्प (राग) दूर नहीं होता, इसलिये त्रिकाली चैतन्य स्वभाव की तरफ झुकने के लिये सर्व वीतरागी शास्त्रों की, और वीतरागी गुरुओं की आज्ञा है। अतः उसकी तरफ झुकना और अपनी शुद्ध दशा प्रगट करना यही जीव का कर्तव्य है। इसीलिये तदनुसार ही सर्व जीवों को पुरुषार्थ करना चाहिये। इस शुद्ध दशा को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष का अर्थ निज शुद्धता की पूर्णता अथवा सर्व समाधान है। और वही अविनाशी और शाश्वत सच्चा सुख है। जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति भी

करता है, किन्तु उसे मोक्ष के सच्चे उपाय की खबर नहीं है अतः विपरीत उपाय प्रति समय किया करता है। इस विपरीत उपाय से पीछे हटकर सच्चे उपाय की तरफ पात्र जीव झुकें और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करें यही समस्त शास्त्रों का हेतु है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चय नय आदरणीय है और किसी समय व्यवहार नय आदरणीय है सो भूल है। तीनों काल अकेले निश्चय नय के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है, ऐसा समझना।

व्यवहार नय के ज्ञान का फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चय नय का आश्रय करना है। यदि व्यवहार को उपादेय माना जाय तो वह व्यवहार नय के सच्चे ज्ञान का फल नहीं है किन्तु व्यवहार नय के अज्ञान का अर्थात् मिथ्यात्व का फल है।

मिथ्यादर्शन संसार का मूल है, वह सम्यग्दर्शन के द्वारा ही दूर हो सकता है, बिना सम्यग्दर्शन के उत्कृष्ट शुभ भाव के द्वारा भी वह दूर नहीं हो सकता।

संवर-निर्जरा रूप धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद सम्यक चारित्र में क्रमशः शुद्धि प्रगट होने पर श्रावक दशा तथा मुनि दशा होती है।

यदि किसी समय भी मुनि परीषहजय न करे तो उसके बंध होता है, पारीषहजय ही सवर-निर्जरा रूप हैं, किंतु सम्यक्त्वपूर्वक।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता की पूर्णता होने पर (अर्थात् संवर निर्जरा की पूर्णता होने पर) अशुद्धता का सर्वथा नाश होकर जीव पूर्णतया जड़ कर्म और शरीर से प्रथक् होता है और पुनरागमन रहित अविचल सुख दशा को प्राप्त करता है। यही मोक्ष तत्त्व है। इसका वर्णन मोक्ष-शास्त्र के दसवें अध्याय में किया है।

प्रातःस्मरणीय श्री उमास्वामी ने अपने अद्वितीय मनन और परिशीलन के द्वारा इस मोक्ष-शास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र) ग्रन्थ में समस्त जैन धर्म के सार को 'गागर में सागर' की भांति भर दिया है। हमें इसके मम को समझना चाहिए, न कि मात्र श्रवण करके एक उपवास का लाभ मानकर संतोष कर लेना और इतने में ही इतिश्री मान लेना चाहिये। पाठकों को इसमें पद पद पर श्री तारण स्वामी के सिद्धांत का समर्थन मिलेगा।

हे श्रावक! संसार के दुःखों का क्षय करने के लिये परम शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करके और उसे मेरु पर्वत के समान निष्कंप रखकर उसी को ध्यान में ध्याते रहो।

अधिक क्या कहा जाय? भूतकाल में जो महात्मा सिद्ध हुये हैं और भविष्य काल में होंगे

वह सब इस सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है ऐसा जानो।

सिद्धिकर्ता ऐसे सम्यक्त्व को जिसने स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है उस पुरुष को धन्य है, वही सुकृतार्थ है, वही वीर है, और वही पंडित है। (मोक्षपाहुड़ ८६-८८-८६)

जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है वह मोक्षमार्ग में स्थित है, परन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गी नहीं है, इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ही श्रेष्ठ है।

(रत्नकरंड श्रावकाचार ३३)

सम्यग्दर्शन सहित जीव का नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित जीव का स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता; क्योंकि आत्मभान बिना (आत्मज्ञान बिना) स्वर्ग में भी वह दुःखी है। जहां आत्मज्ञान है वहीं सच्चा सुख है। (सारसमुच्चय ३६)

साधक जीव प्रारम्भ से अन्त तक निश्चय की मुख्यता रखकर व्यवहार को गौण ही करता जाता है; इसीलिये साधक दशा में निश्चय की मुख्यता के बल से साधक के शुद्धता की वृद्धि होती जाती है और अशुद्धता हटती जाती है इस तरह निश्चय की मुख्यता के बल से ही पूर्ण केवलज्ञानी होते हैं, फिर वहां मुख्यता गौणता नहीं होती और नय भी नहीं होता।

श्री वीतराग देव ने सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की है। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि वे इस जीव को अपने आश्रित रखने को भी नहीं कहते प्रत्युत जीव स्वयं अपना पुरुषार्थ करे तो ही कर्म बन्धन से मुक्त होगा अर्थात् भगवान की वन्दना पूजा भक्ति और नामस्मरण मोक्षप्रदायक नहीं, केवल पुण्य-बंधकारक ही जानना।

सत् शास्त्र का धर्मबुद्धि द्वारा अभ्यास करना सम्यग्दर्शन का कारण है। निश्चय सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

मूलभूत भूल के बिना दुःख नहीं होता, और उस भूल के दूर होने पर सुख हुये बिना नहीं रह सकता—यह अबाधित सिद्धांत है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझे बिना वह भूल दूर नहीं होती।

अज्ञान दशा में जीव दुःख भोग रहे हैं, इसका कारण यह है कि उन्हें अपने स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रम है; जिसे (जिस भ्रम को) 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है। 'दर्शन' का एक अर्थ मान्यता भी है। यहाँ इसलिये मिथ्यादर्शन का अर्थ मिथ्या मान्यता है। जहां अपने स्वरूप की मिथ्या मान्यता होती है वहाँ जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान मिथ्या ही होता है; उस मिथ्या या खोटे ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान' कहा जाता है। जहां स्वरूप की मिथ्या मान्यता और मिथ्याज्ञान होता है वहां चारित्र भी मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे चारित्र को 'मिथ्याचारित्र' कहा

जाता है। अनादिकाल से जीवों के 'मिथ्यादर्शन-ज्ञानचारित्र' अपनी भूल से चले आ रहे हैं, इसीलिये जीव अनादिकाल से दुःख भोग रहे हैं, अनंत दुःख भोग रहे हैं।

जीव धर्म करना चाहता है, किंतु उसे सच्चे उपाय का पता नहीं होने से वह खोटे उपाय किये बिना नहीं रहता, अतः जीवों को यह महान् भूल दूर करने के लिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसके बिना कभी किसी के धर्म का प्रारम्भ हो ही नहीं सकता।

तीनों काल और तीनों लोक में जीवों का सम्यग्दर्शन के समान दूसरा कोई कल्याण और मिथ्यात्व के समान अकल्याण नहीं है।

सम्यग्दर्शन अंधश्रद्धा के साथ एक रूप नहीं है, उसका अधिकार आत्मा के बाहर या स्वच्छंदी नहीं है; वह युक्तिपुरस्सर (विवेक की तोल पर) ज्ञान सहित होता है; उसका प्रकार वस्तु के दर्शन (देखने) के समान है। आप उसके साक्षीपना की शंका नहीं कर सकते। जहाँ तक (स्वस्वरूप की) शंका है वहां तक सच्ची मान्यता नहीं है। उस शंका को दबाना नहीं चाहिये, किन्तु उसका नाश करना चाहिये। (किसी के) भरोसे परवस्तु का ग्रहण नहीं किया जाता। प्रत्येक को स्वयं स्वतः उसकी परीक्षा करके उसके लिये यत्न करना चाहिये।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन होने पर स्वरस (आत्मरस) का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है। आत्मा का सहज आनन्दप्रगट होता है। आत्मीक आनन्द उछलने लगता है। अंतरंग में अपूर्व आत्मशांति का वेदन होता है। आत्मा का जो सुख अंतरंग में है वह अनुभव में आता है। इस अपूर्व सुख का मार्ग सम्यक्दर्शन ही है। मैं भगवान आत्मा चैतन्य स्वरूप हूँ, इस प्रकार जो निर्विकल्प शांतरस अनुभव में आता है वही शुद्धात्मा अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहां सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेद रूप से लिये गये हैं।

बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये—

सर्व प्रथम आत्मा का निर्णय करके फिर अनुभव करने को कहा है। सबसे पहिले जब तक यह निर्णय नहीं होता कि—मैं निश्चय ज्ञान स्वरूप हूँ, दूसरा कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है तब तक सच्चे श्रुतज्ञान को पहिचान कर (शास्त्र ज्ञान को पहिचान कर) उस शास्त्रज्ञान का परिचय करना चाहिये।

सत् श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करने के बाद मति-श्रुतज्ञान को उस ज्ञान स्वभाव की ओर ले जाने का प्रयत्न करना, निर्विकल्प होने का प्रयत्न करना ही प्रथम अर्थात् सम्यग्दर्शन का मार्ग है। इसमें तो बारंबार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास ही करना है,

बाह्य में कुछ करने की बात नहीं है, किन्तु ज्ञान में ही समझ और एकाग्रता का प्रयास करने की बात है। ज्ञान में अभ्यास करते करते जहाँ एकाग्र हुआ वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूप में यह आत्मा प्रगट होता है। यही जन्म-मरण को दूर करने का उपाय है।

आत्मा का एक मात्र ज्ञाता स्वभाव है, उसमें दूसरा कुछ करने का स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प होने के पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो समझना चाहिये कि उसे व्यवहार से भी आत्मा का निश्चय नहीं है। अनन्त उपवास करने पर भी आत्मज्ञान नहीं होता, बाहर की दौड़ धूप से भी आत्मज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभाव की पकड़ से ही आत्मज्ञान होता है।

सच्चे धर्म की यह परिपाटी है कि पहले जीव सम्यक्त्व प्रगट करता है, पश्चात् व्रत रूप शुभ भाव होते हैं। सम्यक्त्व स्व और पर का श्रद्धान होने पर होता है; तथा वह श्रद्धान द्रव्या-नुयोग अर्थात् अध्यात्मशास्त्रों का अभ्यास करने से होता है, इसलिये पहले जीव को द्रव्यानुयोग के (अध्यात्मशास्त्रों के) अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये, और फिर स्वयं चरणानुयोग के अनुसार सच्चे व्रतादि धारण करके व्रती होना चाहिए। इस प्रकार मुख्यता से तो निचली दशा में अर्थात् सर्व प्रथम अध्यात्म-ग्रन्थों का ही स्वाध्याय करना कार्यकारी है, उपयोगी है।

अपनी बात—इसी परिपाटी से हमें सही मार्ग मिला।

जीव अनादिकाल से असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है, इसीलिये उसे पर्यायबुद्धि व्यवहारविमूढ़, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, मोही और मूढ़ भी कहा जाता है, क्योंकि वह असत् को सत् मान रहा है।

यदि सम्यग्दर्शन न हो तो ग्यारह अंग का ज्ञाता भी मिथ्याज्ञानी है; और उसका चारित्र भी मिथ्या चारित्र है। तात्पर्य यह कि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, जप, भक्ति, प्रत्याख्यान आदि जितने आचरण हैं वे सब मिथ्या चारित्र हैं, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि—सम्यग्दर्शन क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

आत्मा का जो शुद्धोपयोग है, अनुभव है वह चारित्र गुण है।

आत्मा की शुद्ध उपलब्धि सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

अपने स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और अनुभव में वर्ते और अपने भाव में अपनी वृत्ति बहे सो परमार्थ सम्यक्त्व है।

निर्विकल्प अनुभव का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से ही होता है, किन्तु इस गुणस्थान में वह बहुत काल के अंतर से होता है, और ऊपर के गुणस्थानों में जल्दी जल्दी होता है। नीचे और

ऊपर के गुणस्थानों की निर्विकल्पता में भेद यह है कि परिणामों की मगनता ऊपर के गुणस्थानों में विशेष है।

सम्यग्दर्शन तो चौथे गुणस्थान से चौदहवें तक एक सा ही होता है किन्तु ज्ञान और चारित्र की निर्मलता अर्थात् विशेषता क्रमशः होती है, इसीलिये सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) के भेद किये गये हैं। हां, यह अवश्य है कि सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र प्रगट हो ही जाता है। गुण-स्थानों का चढ़ाव अंतरंग चारित्र पर ही निर्भर है।

अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ जिस प्रकार का भय रहता है उस प्रकार का भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता।

सम्यग्दर्शन होने पर भी ज्ञान और चारित्र की वृद्धि करनी चाहिये। ज्ञान के लिये अध्ययन और चारित्र के लिये ध्यान का अवलम्बन आवश्यक है। और ध्यान के लिये एकान्तवास करना।

दर्शन कारण और चारित्र कार्य है। यह नियम सम्यक् और मिथ्या दोनों तरफ लागू होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यक् चारित्र की और मिथ्यादर्शन मिथ्याचारित्र की वृद्धि का कारण होता है।

दर्शनमोह अपरिमित मोह है और चारित्रमोह परिमित।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति से संसार की जड़ कट जाती है, किन्तु दूसरे कर्मों का उसी क्षण सर्वनाश नहीं हो जाता। जैसे जड कट जाने पर वृक्ष गिर जाता है किन्तु तत्क्षण सूख नहीं जाता, सूखने में समय लगता ही है।

जिसने निजस्वरूप को उपादेय जानकर श्रद्धा की उसका मिथ्यात्व मिट गया, किन्तु पुरुषार्थ की हीनता से चारित्र अंगीकार करने की शक्ति न हो तो जितनी शक्ति हो उतनी ही करे। ऐसी श्रद्धा करने वाले के भगवान ने सम्यक्त्व कहा है। ध्यान रहे कि शक्ति को छिपावे भी नहीं।

सम्यग्दृष्टि जीव शुभराग को तोड़कर वीतराग चारित्र के साथ अल्पकाल में तन्मय हो जायगा इतना सम्बन्ध बताने के लिये उस निश्चय सम्यग्दर्शन को श्रद्धा और चारित्र की एकत्व अपेक्षा से व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। न कि सच्चे देव गुरु शास्त्र का नाम ले लेने मात्र से हम व्यवहार सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। यह मान्यता भ्रम है।

आत्मा की प्रभुता की महिमा भीतर परिपूर्ण है, अनादिकाल से उसकी सम्यक् प्रतीति के बिना उसका अनुभव नहीं हुआ, अनादिकाल से पर-लक्ष्य किया है किन्तु स्वभाव का लक्ष्य नहीं किया।

निर्विकल्प स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व सुख का मूल है।

एक बार निर्विकल्प होकर अखण्ड ज्ञायक स्वभाव को लक्ष में लिया कि वहां सम्यक् प्रतीति हो जाती है। अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य ही स्वरूप की शुद्धि के लिये कार्यकारी है।

विकल्प रहित होकर अभेद का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। अर्थात् निर्विकल्प होकर आत्मानन्द में मगनता होना, तन्मय होना सोई सम्यग्दर्शन का स्वरूप है।

अखण्डानन्द अभेद आत्मा का लक्ष्य नय पक्ष के द्वारा नहीं होता। नयपक्ष की विकल्प रूपी विचारधारा चाहे जितनी दौड़ाई जाय, मैं ज्ञायक हूँ, शुद्ध हूँ, अभेदरूप हूँ, ऐसे विकल्प करें फिर भी वे विकल्प आत्म-स्वरूप के आंगन तक ही ले जायेंगे, किन्तु स्वरूपानुभव के समय तो वे सब विकल्प छोड़ ही देने पड़ेंगे। विकल्प को साथ लेकर (रखते हुये) स्वरूपानुभव नहीं हो सकता।

जब स्वसन्मुख अनुभव द्वारा अभेद का लक्ष्य करता है तब भेद का लक्ष्य छूट जाता है, प्रत्यक्ष स्वरूपानुभव होने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन ही शान्ति का उपाय है—

अनादिकाल से आत्मा के अखण्ड रस को सम्यग्दर्शन के द्वारा नहीं जाना है इसलिये जीव पर में और विकल्प में रस मान रहा है। किन्तु मैं अखण्ड एकरूप स्वभाव हूँ उसी में मेरा रस है, पर में कहीं मेरा रस नहीं—इस प्रकार स्वभाव दृष्टि के बल से एक बार सबको नीरस बना दे। तुझे सहजानन्द स्वरूप के अमृत-रसकी अपूर्व शान्ति का अनुभव प्रगट होगा। उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसार का अभाव सम्यग्दर्शन से ही होता है—

अनन्तकाल से अनन्त जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्तकाल में अनन्तजीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। जीवों ने संसार पक्ष तो अनादिकाल से ग्रहण किया है किन्तु सिद्धों का (मोक्ष का) पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया। अब सिद्धों का पक्ष ग्रहण करके अपने सिद्धस्वरूप को जानकर संसार का अभाव करने का अवसर आया है, और उसका उपाय एक मात्र सम्यग्दर्शन ही है।

१—निजपद की प्राप्ति होती है। २—भ्रांति का नाश होता है। ३—आत्मा का लाभ होता है। ४—भाव कर्म बलवान नहीं होता। ५—अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है। ६—राग द्वेष मोह उत्पन्न नहीं होते। ७—पुनः कर्म का आश्रव नहीं होता। ८—पुनः कर्म नहीं बंधता। ९—पूर्वबद्ध कर्म भोगा जाने पर निर्जरित हो जाता है। १०—मोक्ष होता है। आत्मावलम्बन की ऐसी ही महिमा है।

पात्र जीव के लक्षण—जिज्ञासु जीवों को स्वरूप का निर्णय करने के लिये शास्त्रों ने पहिले ही ज्ञान क्रिया बतलाई है। स्वरूप का निर्णय करने के लिये दूसरा कोई दान-पूजा-भक्ति-व्रत, तपादि करने को नहीं कहा है, किन्तु शास्त्रज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करने को ही कहा है।

कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र की ओर का आदर और उस ओर का झुकाव तो हट ही जाना चाहिये तथा विषयादि परवस्तु में से सुखबुद्धि दूर हो जानी चाहिए। सब ओर से रुचि हटकर अपनी आत्मा की ओर रुचि ढलनी चाहिए। और देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थतया पहिचान कर उस ओर आदर करे, और यह सब यदि स्वभाव के लक्ष्य से हुआ हो तो उस जीव की पात्रता हुई कहलाती है। इतनी पात्रता तो अभी सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूल कारण चैतन्य स्वभाव का लक्ष करना है, किन्तु पहिले कुदेवादि का सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और सत्समागम का प्रेम, पात्र जीवों के होता ही है। ऐसे पात्र हुए जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिये क्या करना चाहिए, सो यहाँ स्पष्ट बताया है।

सम्यग्दर्शन के उपाय के लिये ज्ञानियों के द्वारा बताई गई क्रिया—

पहले शास्त्रज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके, फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, पर पदार्थ की प्रसिद्धि का कारण जो इन्द्रियों के द्वारा और मन के द्वारा जो प्रवर्तमान बुद्धियां हैं उन्हें मर्यादा में लाकर जिसने अपने मतिज्ञान तत्त्व को (विवेक को) आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा नाना प्रकार के पक्षों के आलंबन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता को उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मान मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर तत्काल अपने परमात्म-स्वरूप आत्मा को जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है वही, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

(देखो समयसार गाथा १४४ की टीका)

प्रथम श्रुतज्ञान (शास्त्रज्ञान) के अवलंबन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिये।

भगवान ने अपना कार्य भलीभांति किया, किन्तु वे दूसरे का कुछ नहीं कर सके; क्योंकि जिसका जो कुछ भी भला-बुरा होता है वह अपने ही उपादान से होता है।

प्रत्येक द्रव्य पृथक् पृथक् स्वतंत्र है, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार समझ लेना ही भगवान के द्वारा कहे गये शास्त्रों की पहिचान है, और वही श्रुतज्ञान है।

प्रभावना का सच्चा स्वरूप—कोई जीव पर द्रव्य की प्रभावना नहीं कर सकता, किन्तु जैन धर्म जो कि आत्मा का वीतराग स्वभाव है उसकी प्रभावना धर्मी जीव करते हैं।

आत्मा को जाने बिना आत्मस्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना कैसे की जा सकती है ?

जैन शासन तो वस्तु को स्वतंत्र, स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवान ने अथवा अनंत केवलियों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता के बल से अपना विकास किया और तुम्हें तुम्हारी स्वतंत्र सत्ता बताई।

भगवान ने तो आत्मा के स्वभाव को पहिचान कर ज्ञाता मात्र भाव की श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा कषाय भाव से अपने आत्मा को बचाने की बात कही है; और यही सच्ची दया है।

अपना आत्मा का निर्णय किये बिना जीव क्या (कल्याण) कर सकता है ? भगवान के श्रुतज्ञान में तो यह कहा है कि—तू स्वतः परिपूर्ण वस्तु है, प्रत्येक तत्त्व, स्वतः स्वतंत्र है किसी तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप को पृथक् स्वतन्त्र जानना सो अहिंसा है और वस्तु को पराधीन मानना कि एक दूसरे का कुछ कर सकता है तथा राग से धर्म मानना (शुभ राग से धर्म मानना) सो हिंसा है। पुण्य बंध भी आत्मा को स्वर्गादि उत्तम गतियों में बांधता है, किन्तु मोक्षमार्ग में बाधक होने की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से हिंसा कही।

जगत के जीवों को सुख चाहिये और सुख का दूसरा नाम धर्म है। धर्म करना है अर्थात् आत्मशांति चाहिये है अथवा अच्छा करना है। और वह अच्छा कहां करना है यह ध्यान रहना चाहिए।

आत्मा की अवस्था में दुःख का नाश करके वीतरागी आनन्द प्रगट करना है। वह आनंद ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो, जिसके लिये पर का अवलंबन न हो। ऐसा आनंद प्रगट करने की जिसकी यथार्थ भावना हो सो वह जिज्ञासु कहलाता है।

अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावना वाला जिज्ञासु पहिले यह देखता है कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ है ? अपने को अभी ऐसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ है और जिन्हें वह आनन्द प्रगट हुआ है उनके निमित्त से स्वयं उस आनन्द को प्रगट करने का सच्चा मार्ग जान ले। और ऐसा जानले सो उसमें सच्चे निमित्तों की पहिचान भी आ गई। जब तक इतना करता है तब तक वह जिज्ञासु है।

अपनी अवस्था में (आत्मा में) अधर्म—अशांति है, उसे दूर करके धर्म-शांति प्रगट करना है। वह शांति-धर्म अपने आधार से और परिपूर्ण होनी चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा होती है वह पहिले यह निश्चय करता है कि—मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूं। तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी और के प्रगट हुआ होना चाहिए। यदि परिपूर्ण सुख—आनन्द प्रगट न हो तो दुखी कहलाये। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट होता है वह सम्पूर्ण सुखी है; और ऐसे सर्वज्ञ वीतराग हैं। इस प्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसे

पर से हटकर आत्महित करने की जिज्ञासा हुई है ऐसे जिज्ञासु जीव की यह बात है। पर द्रव्य के प्रति सुख बुद्धि और रुचि को दूर की; वह पात्रता है। और स्वभाव की रुचि तथा पहिचान होना सो पात्रता का फल है।

दुख का मूल अपनी ही भूल है। जिसने अपनी भूल से दुःख उत्पन्न किया है वह अपनी भूल को दूर करे तो उसका दुःख दूर हो। अन्य किसी ने भूल नहीं कराई, इसलिये दूसका कोई अपना दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है।

कुछ लोग वीतराग धर्म का लौकिक वादों के साथ समन्वय करते हैं। जैसे वीतराग भगवान को राजा की उपमा देकर अष्ट द्रव्य या लवंगादि लेकर मंदिर में जाना और यह कहना कि जिस तरह राजा के सामने भेंट ले जाना पड़ती है वैसे ही भगवान के सामने भेंट ले जानी चाहिए। यह विपर्यय है।

श्रुतज्ञान (शास्त्रज्ञान) का अवलम्बन ही पहिली क्रिया है—

जो आत्मकल्याण करने को तैयार हुआ है ऐसे जिज्ञासु को पहिले क्या करना चाहिये, यह बतलाया जाता है। आत्मकल्याण कहीं अपने आप नहीं हो जाता, किन्तु वह अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से होता है। अपना कल्याण करने के लिये पहिले अपने ज्ञान में यह निर्णय करना होगा कि जिन्हें पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है वे कौन हैं और वे क्या कहते हैं। तथा उन्होंने पहिले क्या किया था। अर्थात् सर्वज्ञ का स्वरूप जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के (शास्त्र ज्ञान के) अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करना चाहिये, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलम्बन से धर्म प्रगट नहीं होता, फिर भी जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है तब सम्मुख निमित्त रूप से सच्चे देव गुरु ही होते हैं।

इस प्रकार प्रथम ही यह निर्णय हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुख का पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है, स्वयं उसे समझकर अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और स्वयं जब समझता है तब सच्चे देव गुरु शास्त्र ही निमित्त रूप होते हैं। जिसे धन स्त्री पुत्रादि की अर्थात् संसार की व संसार के निमित्तों की तीव्र रुचि होगी उसे धर्म के निमित्त-भूत देव शास्त्र गुरु के प्रति रुचि नहीं होगी अर्थात् उसे शास्त्रज्ञान (श्रुतज्ञान) का अवलम्बन नहीं रहेगा और श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना आत्मा का निर्णय नहीं होगा। क्योंकि आत्मा के निर्णय में सत् निमित्त ही होते हैं, कुगुरु कुदेव कुशास्त्र इत्यादि कोई भी आत्मा के निर्णय में निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादि को मानता है उसे तो आत्मनिर्णय हो ही नहीं सकता।

जिज्ञासु की यह मान्यता तो हो ही नहीं सकती कि दूसरे की सेवा करेंगे तो धर्म होगा,

किन्तु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहले पूर्ण ज्ञानी भगवान और उनके कथित शास्त्रों के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करने के लिये उद्यमी होगा।

अनंतकाल से जीव ने धर्म के नाम पर मोह किया (शुभराग किया) किन्तु धर्म की कला को समझा ही नहीं है। यदि धर्म की एक कला को ही सीख ले तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहेगा।

जिज्ञासु जीव पहिले कुदेवादिक का और सुदेवादिक का निर्णय करके कुदेवादिक को छोड़ता है और फिर उसे सच्चे देव गुरु की ऐसी लगन लग जाती है कि उसका एकमात्र यही लक्ष हो जाता है कि सत्पुरुष क्या कहते हैं उसे समझा जाय, अर्थात् वह अशुभ से तो अलग हो ही जाता है। यदि कोई सांसारिक रुचि से पीछे न हटे तो वह श्रुतावलंबन में (शास्त्रज्ञान की विचार-धारा में) टिक नहीं सकेगा।

धर्म की कला मानी आत्मज्ञान की कला। जीव ने एक बार भी आत्मज्ञान की कला को समझ लिया होता और उस कला से उसे आत्मानन्द का रस मिल गया होता तो यह जीव पुण्य के रस में लोलुप न होता और पुण्य की जो मिठास इसे आ रही है यह फिर नहीं आती। यह मिठास आत्मा के लिये तो कडुआहट का ही काम करती है। बंधन लोहे की बेड़ी का हो या सोने की बेड़ी का दोनों हैं तो बंधन ही। एक जीव पाप के उदय में उलझा हुआ आत्महित नहीं कर रहा है जब कि दूसरा एक जीव पुण्य के वैभव में उलझ कर आत्महित नहीं कर रहा है। आत्महित करने से वंचित दोनों ही हैं। फर्क क्या रहा ? पाप के उदय-भोग के समय तो संसार कुछ असार सा ही लगता रहता है, पुण्य के उदय-भोग में तो यह भी उसे ध्यान नहीं आता, इसीलिये आचार्यों ने कहा है कि—'सूरज उदय अस्त है कहाँ, विषयो विषय मगन हैं जहाँ' इस उक्ति के अनुसार विषयी जीवों का पूरा जीवन बीत जाता है और उन्हें आत्महित की कोई एक भी बात नहीं सूझती, मानों उन्हें आत्महित से प्रयोजन ही नहीं, उनकी दृष्टि तो यहाँ तक निकृष्ट हो जाती है कि वे आत्महित में लगे हुये जीवों को निठल्ला और अपने आपको बड़ा पुरुषार्थी मानते हैं। वे अज्ञानी जीव यह नहीं जानते कि यह हमारा आरंभजनित पुरुषार्थ ही हमें नर्क योनि में डाल कर सागरों की दुखी अवस्था में पहुँचाने वाला होगा।

धर्म कहां है और वह कैसे होता है ?

बहुत से जिज्ञासुओं को यही प्रश्न होता है कि धर्म के लिये पहिले क्या करना चाहिये ? क्या पर्वत पर चढ़ना चाहिये, या सेवा पूजा ध्यान करते रहना चाहिये, या गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त करना चाहिये अथवा दान देना चाहिये ? इस सबका उत्तर यह है कि इसमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है। धर्म तो अपना स्वभाव है, धर्म पराधीन नहीं है। किसी के अवलंबन

मे धर्म नहीं होता। धर्म किसी के द्वारा दिया नहीं जाता किन्तु अपने ही (आत्मा की ही) पहिचान से धर्म होता है।

जिसे पूर्णानन्द अर्थात् अपनी आत्मा का पूर्णानन्द चाहिये है उसे यह निश्चित करना चाहिये कि पूर्णानन्द का स्वरूप क्या है और वह किसे प्रगट हुआ है ? जो आनन्द मैं चाहता हूँ वह पूर्ण अबाधित आनन्द चाहता हूँ। अर्थात् कोई आत्मा वैसे पूर्णानन्द दशा को प्राप्त हुये हैं और उन्हें पूर्णानन्द दशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है, क्योंकि यदि ज्ञान पूर्ण न हो तो राग-द्वेष रहेगा, उसके रहने से दुःख रहेगा और जहां दुःख होता है वहां पूर्णानन्द नहीं हो सकता। इसलिये जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं। उनका और वे क्या कहते हैं इसका जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिये। इसीलिये कहा है कि 'पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा के पूर्णरूप का निर्णय करना चाहिये।' इसमें उपादान की व निमित्त की सन्धि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है, सत् बात कौन कहता है, यह सब निर्णय करने के लिये और निश्चय करने के लिये निवृत्ति लेनी चाहिये। यदि स्त्री कुटुम्ब लक्ष्मी का प्रेम और संसार की रुचि में कमी न आये तो वह सत् समागम के लिये निवृत्ति नहीं ले सकेगा। जहाँ श्रुत का अवलम्बन लेने को कहा है वहीं तीव्र अशुभ भाव का त्याग आ गया और सच्चे निमित्तों की पहिचान करना भी आ गया।

सुख का उपाय ज्ञान और समागम

तुझे तो सुख चाहिए ? यदि तुझे सुख चाहिये है तो पहिले यह निर्णय कर कि सुख कहां है और वह कैसे प्रगट होता है। सुख कहां है और वह कैसे प्रगट होता है, इसका ज्ञान किये बिना (बाह्याचार करके यदि) सूख जाय तब भी सुख नहीं मिलता, धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित श्रुतज्ञान के (शास्त्रज्ञान के) अवलंबन से यह निर्णय होता है और इस निर्णय का करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो वह धर्मी को पहिचानकर वे क्या कहते हैं इसका निर्णय करने के लिये सत् समागम करे। सत् समागम से जिसे श्रुतज्ञान का अवलंबन प्राप्त हुआ है कि अहो! परिपूर्ण आत्मवस्तु की उत्कृष्ट महिमावान है, मैंने ऐसा परम स्वरूप अनंतकाल में पहिले कभी नहीं सुना था—ऐसा होने पर उसे स्वरूप की रुचि जाग्रत होती है और सत्समागम का रंग लग जाता है अर्थात् उसे कुदेवादि या संसार के प्रति रुचि हो ही नहीं सकती।

यदि अपनी वस्तु को पहिचाने तो प्रेम जाग्रत हो और उस तरफ का पुरुषार्थ ढले। आत्मा अनादिकाल से स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप मय परभाव रूपी परदेश में परिभ्रमण कर रहा है, स्वरूप से बाहर संसार में परिभ्रमण करते करते परम पिता श्री सर्वज्ञ देव और परम हितकारी श्री परम गुरु से भेंट हुई और वे पूर्ण हित कैसे होता है यह सुनाते हैं तथा आत्मस्वरूप की पहिचान कराते हैं। अपने स्वरूप को सुनते हुए किस धर्मी को उल्लास नहीं होता ? होता ही है,

आत्मस्वभाव की बात सुनते ही जिज्ञासु जीवों को आत्मा की महिमा आती ही है कि—अहो ! अनंतकाल से यह अपूर्व ज्ञान नहीं हुआ; और स्वरूप के बाहर परभाव में भ्रमित होकर अनंत-काल तक दुखी हुआ। यदि यह अपूर्व ज्ञान पहिले किया होता तो यह दुःख नहीं होता। इस प्रकार स्वरूप की चाह जाग्रत होकर रस आये, महिमा जागे और इस महिमा को यथार्थतया रटते हुए स्वरूप का निर्णय करे। इस प्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो उसे पहिले श्रुतज्ञान का—शास्त्रज्ञान का अवलंबन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिये।

भगवान की श्रुतज्ञान रूपी डोरी को दृढ़तापूर्वक पकड़ कर उसके अवलंबन से अर्थात् जिनवाणी रूप शास्त्रों के अवलंबन से उनके मर्म को स्वाध्याय द्वारा समझ कर स्वरूप में पहुँचा जाता है। श्रुतज्ञान के अवलंबन का अर्थ क्या है? सच्चे शास्त्रज्ञान का ही रस है, अन्य कुश्रुतज्ञान का (खोटे शास्त्रों के ज्ञान का) रस नहीं है। संसार की बातों का तीव्र रस टल गया है और श्रुत-ज्ञान का तीव्र रस आने लगा है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निर्णय करने के लिये जो तैयार हुआ है उसे अल्पकाल में आत्मप्रतीति होगी। संसार का तीव्र मोह-रस जिसके हृदय में घुल रहा हो उसे परम शांत स्वभाव की बात समझने की पात्रता ही जाग्रत नहीं होती। यहां जो 'श्रुत का अवलम्बन' शब्द दिया है सो वह अवलम्बन स्वभाव के लक्ष से है, पीछे न हटने के लक्ष से है। जिसने ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करने के लिये शास्त्र का अवलम्बन लिया है वह आत्मस्वभाव का निर्णय करता ही है। उसके पीछे हटने की बात शास्त्र में नहीं ली गई है।

संसार की रुचि को घटाकर आत्म-निर्णय करने के लक्ष से जो यहाँ तक आया है उसे शास्त्रज्ञान के अवलम्बन से निर्णय अवश्य होगा। यह हो ही नहीं सकता कि निर्णय न हो। सच्चे साहूकार के बही-खाते में दिवालियापन की बात ही नहीं हो सकती, उसी प्रकार यहाँ (सच्चे शास्त्रों में) दीर्घ संसारी की बात ही नहीं है। यहां तो सच्चे जिज्ञासु जीवों की ही बात है। सभी बातों की हां में हां भरे और एक भी बात का अपने ज्ञान में निर्णय न करे ऐसे 'ध्वजपुच्छ' जैसे चंचल चित्त वाले जीवों की बात यहां नहीं है। यहां तो निश्चल और स्पष्ट बात है। जो अनंत कालीन संसार का अन्त करने के लिये पूर्ण स्वभाव के लक्ष से प्रारम्भ करने को निकले हैं ऐसे जीवों का प्रारम्भ किया हुआ कार्य फिर पीछे नहीं हटता, ऐसे जीवों की ही यहां बात है। यह तो अप्रतिहत (निराबाध) मार्ग है। पूर्णता की लक्ष से किया गया प्रारम्भ ही वास्तिक प्रारम्भ है। पूर्णता के लक्ष से किया गया प्रारम्भ पीछे नहीं हटता, पूर्णता के लक्ष से पूर्णता अवश्य होती है।

जिस ओर की रुचि उसी ओर की रटन

एक की बात ही पुनः पुनः (अदल बदल कर) कही जा रही है, किन्तु रुचिवान जीव को

उकताहट नहीं होती। नाटक का रुचिवान मनुष्य नाटक में 'वन्स मोर' कहकर अपनी रुचि वाली वस्तु को बारंबार देखता है। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मरुचि हुई है और जो आत्म-कल्याण करने को तत्पर हुए हैं वे बारंबार रुचिपूर्वक प्रति समय खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, विचार करते हुए निरंतर श्रुत का ही अवलंबन स्वभाव के लक्ष से करते हैं. उसमें किसी काल या क्षेत्र की मर्यादा अर्थात् बहाना नहीं करते। उन्हें श्रुतज्ञान की रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी नहीं हटती। ऐसा नहीं कहा है कि अमुक समय तक अवलम्बन करना चाहिये और फिर छोड़ देना चाहिये, किन्तु श्रुतज्ञान के (शास्त्रस्वाध्याय) के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करने को कहा है। जिसे सच्ची तत्त्व की रुचि हुई है वह दूसरे सब कार्यों की प्रीति को गौण ही कर देता है। अर्थात् उसकी स्वाभाविक रुचि सबसे हट जाती है।

आत्मा की प्रीति होते ही तत्काल खाना पीना सब छूट जाय ऐसा नियम नहीं है, किन्तु उस ओर की रुचि तो अवश्य कम हो ही जाती है। परमें से सुखबुद्धि उड़ जाय और सबमें एक आत्मा ही आगे रहे, इसका अर्थ यह है कि निरन्तर आत्मा की ही तीव्राकांक्षा और चाह होती है। ऐसा नहीं कहा है कि मात्र श्रुतज्ञान को सुना ही करे, किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना चाहिये।

श्रुतावलम्बन की धुन लगने पर वहां देव गुरु शास्त्र, धर्म, निश्चय व्यवहार इत्यादि अनेक प्रकार से बातें आती हैं, उन सब प्रकारों को जानकर एक ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिये। उसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं; इन सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, ज्ञान के अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

देव गुरु शास्त्र कैसे होते हैं और उन्हें पहिचानकर उनका अवलम्बन लेने वाला स्वयं क्या समझा है, यह इसमें बताया है। तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानना ही है, कुछ पर का करना या पुण्य पाप के भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जो बताते हों वे सच्चे देव गुरु शास्त्र हैं, और इस प्रकार जो समझता है वही देव गुरु शास्त्र के अवलम्बन से श्रुतज्ञान को (शास्त्रज्ञान को ठीक ठीक) समझा है। किन्तु जो राग से, निमित्त से धर्म मनवाते हों और जो यह मनवाते हों कि आत्मा शरीराश्रित क्रिया करता है व जड़ कर्म आत्मा को हैरान करते हैं वे देव गुरु शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

जो शरीरादि सर्व पर से भिन्न ज्ञान-स्वभाव आत्मा का स्वरूप बतलाता हो और यह बतलाता हो कि पुण्य पाप का कर्तव्य आत्मा का नहीं है वही सत् शास्त्र है, वही सच्चा देव है

और वही सच्चा गुरु है। और जो पुण्य से धर्म बताये, शरीर की क्रिया का कर्ता आत्मा को और राग से धर्म बतावे वह कुगुरु कुदेव कुशास्त्र हैं, क्योंकि वे यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञाता नहीं हैं, प्रत्युत उल्टा स्वरूप बतलाते हैं, वे कोई देव, गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

श्रुतज्ञान के अवलम्बन का फल आत्मानुभव

'मैं आत्मा ज्ञायक हूँ' पुण्य पाप की प्रवृत्तियाँ मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से पृथक् हैं, इस प्रकार पहिले विकल्प के द्वारा देव-गुरु शास्त्र के अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करना चाहिये। यह तो अभी ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं हुआ उससे पहिले की बात है। जिसने स्वभाव के लक्ष से अर्थात् अपनी आत्मा के स्वरूप जानने के विचार से शास्त्र का अवलम्बन किया है वह अल्प-काल में आत्मानुभव अवश्य करेगा। प्रथम विकल्प में जिसने यह निश्चय किया कि मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्य पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे शुद्ध स्वभाव के आश्रय से ही लाभ है, देव गुरु शास्त्र का भी अवलम्बन परमार्थ से नहीं है, मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभाव हूँ; इस प्रकार निर्णय करने वाले को अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा।

पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ—इस प्रकार जिसने निर्णय के द्वारा स्वीकार किया है उसका परिणमन पुण्य-पाप की ओर से पीछे हटकर ज्ञायक स्वभाव की ओर ढल गया है अर्थात् उसे पुण्य-पाप का आदर नहीं रहा, उसमें फलाशक्ति नहीं रही, इसलिये वह अल्पकाल में ही पुण्य-पाप रहित स्वभाव का निर्णय करके और उसको (अपने आत्मस्वभाव की) स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहाँ पूर्ण की बात है, प्रारम्भ और पूर्णता के बीच कोई भेद ही नहीं किया, क्योंकि जो प्रारंभ हुआ है सो वह पूर्णता को लक्ष में लेकर ही हुआ है। सत्य को सुनाने वाले और सुनने वाले दोनों की पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभाव की बात करते हैं वे देव-गुरु और शास्त्र, तीनों पवित्र ही हैं। उनके अवलंबन से जिसने हाँ कही है वह भी पूर्ण पवित्र हुए बिना नहीं रह सकता। जो पूर्ण की हाँ कहकर आया है, तत्पर हुआ है वह पूर्ण होगा ही, इस प्रकार उपादान-निमित्त की संधि साथ ही है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व—

आत्मानन्द प्रगट करने के लिए पात्रता का स्वरूप क्या है? तुझे तो धर्म करना है न? तो तू अपने को पहिचान। सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे, तू है कौन? क्या क्षणिक पुण्य-पाप का करने वाला तू ही है? नहीं, नहीं। तू तो ज्ञान का करने वाला ज्ञानस्वभाव है। तू पर को ग्रहण करने वाला या छोड़ने वाला नहीं है, तू तो केवल जानने वाला ही है। ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रारम्भ का (सम्यग्दर्शन का) उपाय है। प्रारम्भ में अर्थात् सम्यग्दर्शन से पूर्व

यदि ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में भी नहीं है अर्थात् वह जीव पात्र ही नहीं। मेरा सहज स्वभाव जानने का है, ऐसा शास्त्र के अवलंबन से (स्वाध्याय से) जो निर्णय करता है वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हुई उसे आंतरिक अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जिज्ञासु जीव-धर्मसंमुख हुआ जीव-सत्समागम में आया हुआ जीव-शास्त्रज्ञान के अवलंबन से, ज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभाव जानने वाला हूँ, मेरा ज्ञानस्वभाव ऐसा नहीं है कि ज्ञेय में कहीं राग-द्वेष करके अटक जाय; पर पदार्थ चाहे जैसा हो, मैं तो उसका मात्र ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञाता स्वभाव पर का कुछ करने वाला नहीं है, मैं जैसा ज्ञानस्वभाव हूँ उसी प्रकार जगत के सभी आत्मा ज्ञानस्वभाव हैं; वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय (करना) चूक गये हैं इसलिये दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो। मैं किसी को बदलने में समर्थ नहीं हूँ। मैं पर जीवों का दुःख दूर नहीं कर सकता, क्योंकि उन्होंने दुःख अपनी भूल से किया है, यदि वे अपनी भूल को दूर करें तो उनका दुःख दूर हो जाय।

पहिले शास्त्र का अवलंबन बताया है, उसमें पात्रता हुई है, अर्थात शास्त्रावलंबन से आत्मा का अव्यक्त निर्णय हुआ है, तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है यह नीचे कहा जा रहा है।

इस निर्णय को जगत के सब संज्ञी आत्मा कर सकते हैं। सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं इसलिये सब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्महित करना चाहता है उसे वह आत्महित हो सकता है, किन्तु अनादिकाल से अपनी चिंता नहीं की है। अरे भाई ! तू कौन वस्तु है, यह जाने बिना तू क्या करेगा ? पहिले इस ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए। इसके निर्णय होने पर अव्यक्त रूप से आत्मा का लक्ष हो जाता है; और फिर पर के लक्ष से तथा विकल्प से हटकर स्व का लक्ष पूर्ण स्वरूप की प्रतीति अनुभव रूप से प्रगट करना चाहिए।

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये इन्द्रिय और मन से जो पर लक्ष्य जाता है उसे बदल-कर उस मतिज्ञान को निज में एकाग्र करने पर आत्मा का लक्ष होता है अर्थात् आत्मा की प्रगट रूप से प्रसिद्धि होती है। शुद्ध आत्मा का प्रगट रूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यक दर्शन ही धर्म है।



धर्म के लिये पहिले क्या करना चाहिये ?

कई लोग कहते हैं कि यदि आत्मा के सम्बन्ध में कुछ समझ में न आये तो पुण्य के शुभ भाव करना चाहिये या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि—पहिले आत्मतत्व भाव को समझना ही

धर्म है। धर्म से ही संसार का अंत होता है। शुभभाव से धर्म नहीं होता और धर्म के बिना संसार का अन्त नहीं होता। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, इसलिये पहिले स्वभाव ही समझना चाहिये।

प्रश्न—यदि स्वभाव समझ में न आये तो क्या करना चाहिये? और यदि उसके सम्बन्ध में देर लगे तो क्या अशुभ भाव करके दुर्गति का बन्ध करना चाहिये? क्योंकि आप शुभ भावों से धर्म होना तो मानते नहीं,—उसका निषेध करते हैं।

उत्तर—पहिले तो, यह हो ही नहीं सकता कि यह बात समझ में न आये। हां, यदि समझने में देर लगे तो वहां निरन्तर समझने का लक्ष मुख्य रखकर अशुभ भावों को दूर करने का-शुभ भाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु मिथ्या श्रद्धा का निषेध है। यह समझना चाहिये कि शुभ भाव से कभी धर्म नहीं होता। जब तक जीव किसी भी जड़ वस्तु की क्रिया को व राग की क्रिया को अपनी मानता है तथा प्रथम व्यवहार करते करते बाद में निश्चय धर्म होगा ऐसा मानता है तब तक वह यथार्थ समझ के मार्ग पर नहीं है, किन्तु विरुद्ध में है।

सुख का मार्ग सच्ची समझ और विकार का फल जड़—

यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो समझ का मार्ग मिले बिना न रहे। यदि सत्य चाहिये हो, सुख चाहिये तो यही मार्ग है। समझने में भले देर लगे किन्तु सच्ची समझ का मार्ग तो ग्रहण करना ही चाहिये। यदि सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझ में आये बिना रह ही नहीं सकता। यदि इस मनुष्य देह में और सत् समागम के इस सुयोग में भी सत्य न समझे तो फिर ऐसे सत्य समझने का सुअवसर नहीं मिलता। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ और जो यहां पर भी स्वरूप को चूक कर जाता है वह अन्यत्र जहाँ जायगा वहाँ क्या करेगा? शांति कहां से लायगा? कदाचित् शुभ भाव किये हों तो उस शुभ का फल जड़ में जाता है, आत्मा में पुण्य का फल नहीं पहुँचता। जिसने आत्मा की चिन्ता नहीं की और जो यहीं से मूढ़ हो गया है इसलिये उन रजकणों के फल में रजकणों का ही संयोग मिलेगा। उन रजकणों के संयोग में आत्मा का क्या लाभ है? आत्मा की शान्ति तो आत्मा में ही है, किन्तु उसकी चिन्ता कभी भी की नहीं है।

असाध्य कौन है? और शुद्धात्मा कौन है?

अज्ञानी जीव जड़ का लक्ष करके जड़वत् हो गया है, इसलिये मरते समय अपने को भूलकर, संयोगदृष्टि को लेकर मरता है; असाध्यतया प्रवृत्ति करता है अर्थात् चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है। वह जीते जी ही असाध्य ही है। भले शरीर हिले-डुले, बोले-चाले, किन्तु यह तो जड़ की क्रिया है। उसका स्वामी हो गया है। किन्तु अंतरंग में साध्यभूत ज्ञानस्वरूप की जिसे खबर नहीं है वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है। यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान से वस्तुस्वभाव को यथार्थ-

तथा न समझे तो जीव को स्वरूप का किंचित लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानके द्वारा स्वरूप की पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ उसी को 'शुद्धात्मा' नाम मिलता है, और शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा विकल्प छूटकर मात्र आत्मानुभव रह जाय सो ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वे कहीं आत्मा से भिन्न नहीं हैं।

जिसे सत्य चाहिए हो ऐसे जिज्ञासु समझदार जीव को यदि कोई असत्य बतलाए तो वह असत्य को स्वीकार नहीं कर लेता। जिसे सत्य भाव की चाह है वह स्वभाव से ही विरुद्धभाव को स्वीकार नहीं करता। वस्तु का (आत्मा का) स्वरूप शुद्ध है इसका ठीक निर्णय किया और वृत्ति छूट गई, इसके बाद जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही धर्म है। ऐसा धर्म किस प्रकार होता है और धर्म करने के लिये पहिले क्या करना चाहिए? तत्संबंधी यह कथन चल रहा है।

धर्म की रुचि वाले जीव कैसे होते हैं?

धर्म के लिये सर्व प्रथम शास्त्रज्ञान का अवलंबन लेकर श्रवण-मनन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए कि मैं एक ज्ञानस्वभाव हूँ। ज्ञानस्वभाव में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई करने धरने का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार सत् के समझने में जो काल व्यतीत होता है वह भी अनन्तकाल में पहिले कभी नहीं किया गया, अपूर्व अभ्यास है। जीव को सत् की ओर रुचि होती है इसलिये वैराग्य जाग्रत होता है और समस्त संसार की ओर की रुचि उड़ जाती है, चौरासी के अवतार (चौरासी लक्ष योनियों में जन्म-मरण के चक्कर) के प्रति त्रास जाग्रत हो जाता है कि यह कैसी विडम्बना है? एक तो स्वरूप की प्रतीति नहीं है और उधर प्रतिक्षण पराश्रय भाव में रचे-पचे रहते हैं,—भला यह भी कोई मनुष्य का जीवन है? तिर्यंच इत्यादि के दुःखों की बात ही क्या, किन्तु इस नर-देह में भी ऐसा जीवन? और मरण समय स्वरूप के से भान रहित असाध्य होकर ऐसा दयनीय मरण? इस प्रकार संसार सम्बन्धी त्रास (अंतरंग खेद) उत्पन्न होने पर स्वरूप को समझने की रुचि उत्पन्न होती है। वस्तु को समझने के लिये जो काल व्यतीत होता है वह भी ज्ञान की क्रिया है, सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओं को पहिले ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए कि—"मैं सदा एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जानने वाला है, पुण्य-पाप के भाव, या स्वर्ग-नरक आदि कोई मेरा स्वभाव नहीं है," इस प्रकार शास्त्रज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कारण-कार्य

१—सच्चे शास्त्रज्ञान के अवलंबन के बिना और २—शास्त्रज्ञान से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय किये बिना आत्मा अनुभव में नहीं आता। इसमें आत्मा का अनुभव करना कार्य है,

आत्मा का निर्णय करना उपादान कारण है और शास्त्र का अवलंबन निमित्त कारण है। शास्त्र के अवलंबन से ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया उसका फल उस निर्णय के अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्मा का निर्णय कारण और आत्मा का अनुभव करना कार्य है। इस प्रकार यहां लिया गया है अर्थात् जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है, ऐसी बात कही है।

अंतरंग अनुभव का उपाय अर्थात् ज्ञान की क्रिया

अब यह बतलाते हैं कि आत्मा का निर्णय करने के बाद उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये। निर्णयानुसार श्रद्धा का आचरण अनुभव है। प्रगट अनुभव में शांति का वेदन लाने के लिये अर्थात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थों की प्रसिद्धि के कारणों को छोड़ देना चाहिये। पहिले 'मैं ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा हूँ' ऐसा निश्चय करने के बाद आत्मा के आनन्द का प्रगट भोग करने के लिये (वेदन या अनुभव करने के लिये), पर पदार्थ की प्रसिद्धि के कारण, जो इन्द्रिय और मनके द्वारा पर लक्ष में प्रवर्तमान ज्ञान है उसे स्व की ओर लाना (आत्मा की ओर लाना), देव गुरु शास्त्र इत्यादि पर पदार्थों की ओर का लक्ष तथा मनके अवलम्बन से प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मति (मतिज्ञान) को संकुचित करके मर्यादा में लाकर स्वात्माभिमुख करना सो आंतरिक अनुभव का पंथ है, सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभाव की छाया में प्रवेश करने की पहिली सीढ़ी है।

प्रथम, आत्मा ज्ञानस्वभाव है ऐसा भली भाँति निश्चय करके फिर प्रगट अनुभव करने के लिये पर की ओर जाने वाले भाव जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हैं उन्हें अपनी ओर एकाग्र करना चाहिये। जो ज्ञान पर में विकल्प करके रुक जाता है अथवा मैं ज्ञान हूँ, व मेरे विकल्प में रुक जाता है उसी ज्ञान को वहां से हटाकर स्वभाव की ओर लाना चाहिये। मति और श्रुतज्ञान के जो भाव हैं वे तो ज्ञान में ही रहते हैं, किन्तु वे भाव पहिले पर की ओर जाते थे, अब उन्हें आत्मोन्मुख करने पर स्वभाव का लक्ष होता है। आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होने की यह क्रमिक सीढ़ी है।

जिसने मन के अवलंबन से प्रवर्तमान ज्ञान को मन से छुड़ाकर आत्मा की ओर किया है वही परम पुरुषार्थ है।

जिसका स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ उदित हुआ है उसे भव की शंका नहीं रहती। जहाँ भव की शंका है वहां सच्चा ज्ञान नहीं है, जहां सच्चा ज्ञान है वहां भव की शंका नहीं।

मति और श्रुत ज्ञान को आत्म सम्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है।

शुद्धात्मा का स्वरूप वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो, या साक्षात्कार कहो—जो कहो सो यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ है सो यह एक

आत्मा ही है, उसी को भिन्न भिन्न नामों से कहा जाता है। केवली पद, सिद्ध पद, या साधु पद यह सब एक आत्मा में ही समाविष्ट होते हैं। समाधि मरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूप की स्थिरता ही है। इस प्रकार आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है, और यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है, सम्यग्दर्शन ही आत्मा का धर्म है तथा सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मार्ग है, पहली सीढ़ी है।

जीव के शुभाशुभ भाव—विकारी भावों के कारण जीव का अनादिकाल से परिभ्रमण हो रहा है उसका मूल कारण मिथ्यादर्शन है। इसलिये भव्य जीवों को मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। सम्यग्दर्शन का बल ऐसा है कि उससे क्रमशः सम्यक्चारित्र बढ़ाता जाता है और चारित्र की पूर्णता करके परम यथाख्यात चारित्र की पूर्णता करके, जीव सिद्ध गति को प्राप्त करता है।

देव गुरु धर्म के श्रद्धान में हीन बुद्धि मनुष्य को ऐसा भाषित होता है कि अरहंत देवादेवादि को ही मानना चाहिए और अन्य को नहीं मानना चाहिये, इतना ही सम्यक्त्व है, किन्तु वहाँ उसे जीव अजीव के बंध-मोक्ष के कारण कार्य का स्वरूप भासित नहीं होता और उससे मोक्ष मार्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है, और जीवादि का श्रद्धान हुए बिना मात्र उपरोक्त इसी श्रद्धान में सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यक्दृष्टि माने व कुदेवादि के प्रति द्वेष रखे किन्तु रागादि छोड़ने का उद्यम न करे, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है, मिथ्यादृष्टिपना है।

शंका—सभी नारकी जीव विभंग ज्ञान के द्वारा एक दो या तीन आदि भव जानते हैं, उससे सभी को जातिस्मरण होता है, इसलिये क्या सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे ?

समाधान—सामान्यतः भवस्मरण (जातिस्मरण) द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती किन्तु पूर्व भव में धर्मबुद्धि से किये हुये अनुष्ठान विपरीत (विफल) थे, ऐसी प्रतीति प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति का एक कारण कहा है।

अगले भव की स्मृति आ जाने को ही तो जातिस्मरण कहते हैं और उसे भी सम्यक्त्व प्राप्ति का एक कारण कहा है; किन्तु हे जीव ! तू यदि अनुभव से विचार करे तो एक अगले भव की स्मृति क्या, अनन्त भवों के सम्बध में भी यह विचार कर सकता है कि इस जीव ने अनेक बार सातवें महातम नरक की यातना भी भोगी और अनेकबार नवग्रैवेयक स्वर्ग के सुखों को भी भोगा, जो कि सोलह स्वर्गों के ऊपर हैं तथा पुण्य-पाप के फलस्वरूप इन दोनों के बीच की सुख-दुःख रूप प्रायः सभी अवस्थाओं को प्राप्त हुआ और उनके अनुसार बड़े से बड़े सुख तथा महान् से महान् दुःखों को भोगा, फिर भी आज तक अन्त नहीं आया; आगे चलकर भी वही पहाड़ सामने

दिखाई दे रहा है। यह सब विचार क्या जातिस्मरण से कम हैं? क्या इसमें भी तुझे शंका है कि तूने अनंत जन्मों को (भवों को) धारण नहीं किया ? और उनमें होने वाले अपार दुःखों को नहीं भोगा ? यदि तू एक बार भी विवेकपूर्वक उन भवों तथा उन सम्बन्धी होने वाले सुख-दुःखों की अन्तरवेदना का विचार करे तो आज भी वे विचार जातिस्मरण का काम कर सकते हैं, सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु जब तू विचार करे तब ही तो काम बने; और तेरी यह समझ में आये कि इस जीव का काम न तो इन्द्र जैसे भोगों से, न चक्रवर्ती जैसे अधिकार से हो चला और रुदन करते हुए नरक तथा तिर्यंच योनि के दुःखों को भोगने पर भी उनसे सर्वथा छुटकारा नहीं हुआ, फिर भी वे सामने खड़े ही हैं, काम तो एकमात्र सम्यक्त्व से ही चलने वाला है, अतः जैसे बने वैसे लाख प्रयत्नों द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर।

शंका—यदि वेदना का अनुभव सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है तो सभी नारकियों को सम्यक्त्व हो जाना चाहिए, क्योंकि सभी नारकियों के वेदना का अनुभव होता है।

समाधान—वेदना सामान्य सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि मिथ्यात्व के कारण इस वेदना की उत्पत्ति हुई है, उन जीवों के वेदना सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है, दूसरे जीवों के वेदना सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं होता।

वेदना को भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति का एक कारण कहा है और उस वेदना की बात नारकी जीवों के सम्बन्ध से ली है। क्या नरक वेदना ही सम्यक्त्व का कारण है ? मनुष्य तथा तिर्यंच गति के दुःख क्या कम हैं ? और क्या इनसे सम्यक्त्व नहीं होता ? होता है; किन्तु यदि तू इन दुःखों का जो कारण मिथ्यात्व है उस मिथ्यात्व का विचार करे तो आज भी तेरे ये दुःख सम्यक्त्व उत्पत्ति के कारण हो सकते हैं। परन्तु तू तो साता-असाता को सातावेदनी और असातावेदनी का उदय कहकर टाल देता है, यह विचार कभी नहीं करता कि साता-असाता वेदनीय का उदय आया कहाँ से ! यह भी तो हमारे मिथ्यात्व का ही फल है। यदि मैंने इस मिथ्यात्व का नाश कर दिया होता तो इस साता-असाता के चक्कर से ही छुटकारा पा जाता। मूल की भूल वाली बात को नहीं देखता, ऊपर ऊपर की बातों को देखता है और रोता पीटता रहता है। हे भव्य ! यदि इस रोने-पीटने से छुटकारा पाना हो तो इस मिथ्यात्व का समूल नाश करदे। इसके नाश करते ही साता-असाता वेदनी अपने आप क्षीण हो जायगी और तू सच्चे आत्मीय आनन्द का भोक्ता बन जायगा। तेरी पाई हुई यह मनुष्यपर्याय सार्थक हो जायगी।

अज्ञानी मनुष्य सातावेदनी को मीठा और असातावेदनी को कडुआ मानता है, किन्तु तत्त्व-

ज्ञान की दृष्टि से सातावेदनी मीठा विष है और असाता वेदनी कड़ुआ विष है। आत्मस्वभाव के घातक दोनों ही हैं। इस तत्त्व का विचार करने पर धर्म का स्वरूप समझा जा सकता है, अन्यथा साता-असाता के चक्कर में अनादिकाल से पड़ा है और पड़ा ही रहेगा।

जैसे कोई अनार्य-म्लेच्छ को म्लेच्छ-भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और इसी सूत्र की व्याख्या में यह कहा है कि—इस प्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार से उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय अंगीकार करने योग्य नहीं है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

मुमुक्षुओं का कर्तव्य

आजकल इस पंचमकाल में इस कथन को समझने वाले सम्यग्ज्ञानी गुरु का निमित्त सुलभ नहीं है. किन्तु जहाँ वे मिल सकें वहाँ उनके निकट से मुमुक्षुओं को यह स्वरूप समझना चाहिये और जहाँ वे न मिल सकें वहाँ शास्त्रों के समझने का निरन्तर उद्यम करके इसे समझना चाहिये। इसके (शास्त्रों अथवा गुरुओं के) आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, इसलिये इसे यथार्थ समझना चाहिये, सत् शास्त्रों का श्रवण, पठन, चिंतवन करना, भावना करना, धारण करना, हेतु युक्ति के द्वारा नयविवक्षा को समझना, उपादान निमित्त का स्वरूप समझना और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का निश्चय करना चाहिये। यह सब कुछ करने का मूल साधन एक शास्त्रों का स्वाध्याय करना ही है और वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का मुख्य कारण है, इसलिये मुमुक्षु जीवों को उसका अर्थात् शास्त्रों के स्वाध्याय का निरन्तर उपाय करना चाहिये।

इसी दृष्टि से श्री तारण स्वामी ने 'श्री तारण तरण अध्यात्मवाणी' ग्रन्थ को सत् शास्त्र के रूप में रचना करके व्यवहार तथा निश्चय का यथार्थ स्वरूप कथन करके यह उपदेश दिया है कि जिस व्यवहार में निश्चय का लक्ष हो वही व्यवहार कारणरूप और यथार्थ है, कार्यकारी है; और जिस व्यवहार में निश्चय का लक्षविन्दु नहीं है वह सबही व्यवहार मिथ्याव्यवहार है, कार्यकारी नहीं है, मात्र आडम्बर रूप है, अत: मुमुक्षु जीवों को व्यवहार तथा निश्चय का यथार्थ स्वरूप वर्णन करने वाले सत् शास्त्रों का स्वाध्याय-मनन-चिंतवन निरन्तर करना चाहिये, यही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, सम्यग्दर्शन प्राप्ति का मुख्य उपाय है, बलवान साधन है।

देव, गुरु, शास्त्र के अवलंबन के बिना गुण (सम्यक्दर्शन) कैसे हो सकता है ? जिसे ऐसी शंका होती है वह अपने भ्रम के द्वारा अपने स्वतन्त्र गुण (सम्यक्दर्शन) का नाश करता है।

सम्यक्ज्ञान रूपी डोरा यदि आत्मा में पिरोया हो तो चौरासी के अवतार में (जन्म-मरण के चक्कर में) खो नहीं सकता।

जीव ने अनन्त बार बाह्य में दया दान पूजा और नीति पूर्वक आचरण इत्यादि सब कुछ किया है, वह कहीं नया नहीं है और उस शुभ करने के फलस्वरूप शुभ-देवादि गतियों को पाया है। धर्म के नाम पर, आत्मप्रतीति के बिना ही व्रत तप अनन्त बार कर चुका है, किन्तु आत्मप्रतीति के बिना संसार में परिभ्रमण करना बना ही रहा।

जिस जीव ने सम्यक्‌दर्शन प्राप्त कर लिया है, वह भले ही कुछ समय तक संसार में रहे किन्तु उसकी दृष्टि में तो संसार का अभाव हो ही चुका है।

धर्म के नाम पर (अज्ञानी जीव भी) बाह्य में सब कुछ कर चुका है, नव पूर्व और ग्यारह अंगों को भी व्यवहार से अनन्तबार जाना है, किन्तु यह ज्ञान नहीं हुआ कि परमार्थ क्या है, क्योंकि उसने स्वाधीन स्वभाव को ही नहीं जाना। कुछ निमित्त चाहिये या पराश्रय चाहिये, इस प्रकार मूल श्रद्धा में ही अनादि से गड़बड़ कर रखी है।

मैं शुद्ध हूँ, पर से भिन्न हूँ, ऐसा मन संबंधी विकल्प भी पराश्रय रूप राग है, धर्म नहीं है। मन के अवलम्बन के बिना स्थिर नहीं रह सकता, मात्र स्वभाव में नहीं रह सकता, इस भ्रम के द्वारा पराश्रय की श्रद्धा को नहीं छोड़ता और पराश्रय की श्रद्धा को छोड़े बिना यथाथ श्रद्धा नहीं होती।

आत्मा की अनुभूति रूप स्वाश्रय एकाग्रता को ही शांत ज्ञान की अनुभूति कहा है। अज्ञानी जन ज्ञेयों में ही, इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं।

जिनशासन किसी बाह्य वस्तु में नहीं है, कोई सम्प्रदाय जिनशासन नहीं है, किन्तु पर-निमित्त के भेद से रहित, निरावलम्बी आत्मा में और पराश्रय रहित, श्रद्धा ज्ञान एवं स्थिरता में सच्चा जिनशासन है।

जिन शासन=जिन कहिए अन्तरात्मा, शासन कहिये अधिकार में, अन्तरात्मानुकूल प्रवर्तन होना सो ही जिनशासन जानना।

चाहे जैसा घोर अन्धकार हो, किंतु उसे दूर करने का एकमात्र उपाय प्रकाश ही है। संसार के दूसरे कोई करोड़ों उपाय भी अन्धकार को दूर नहीं कर सकते। ठीक इसी तरह अज्ञानांधकार को दूर करने में समर्थ एकमात्र आत्मज्ञान रूपी प्रकाश ही है और वह आत्मा में मौजूद ही है। जिस तरह दियासलाई की सींक में अन्धकार को दूर करने वाला प्रकाश मौजूद है, केवल घिसने की युक्ति भर लक्ष में हो। यही बात आत्मज्ञान-प्रकाश करने की जानना।

जो घोर अन्धकार हजारों कुदाली फावड़ों के चलाने पर दूर नहीं किया जा सकता वह दियासलाई की एक सींक से दूर हो जाता है; इसी तरह की श्रद्धा हमें अपने अन्तर-आत्मज्ञान में करनी चाहिए।

अनन्तकाल में दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त हुआ है और सत्य को सुनने का सुयोग मिला है। यदि सत्य को एकबार यथार्थतया स्वीकार करके सुने तो अनन्त संसार टूट जाये, संसारभ्रमण मिट जाये।

धर्मी जीव के उत्कृष्ट पवित्र स्वभाव का बहुमान होता है, इसलिये निमित्त रूप से बाहर मुख पर सौम्यता, प्रसन्नता और विशेष प्रकार की शांति सहज होती है।

ज्ञानी पुरुष बाह्य में भी अज्ञानी से अलग ही मालूम होता है। उसके वचनों में और चेष्टा में निस्पृहता और धैर्य दिखाई देता है और उसमें कर्तृत्व भाव तथा अहंभाव नहीं होता।

जैसे डिब्बी के संयोग में (रखा हुआ) हीरा अलग ही है उसी प्रकार देहादि संयोग में रहने वाला भगवान-आत्मा उससे अलग ही है; इसलिये उस पर लक्ष देने से तेरा स्वाधीन सुख प्रगट होगा।

जैसे दियासलाई में वर्तमान अवस्था में उष्णता और प्रकाश प्रगट नहीं हैं तथापि वे शक्ति रूप से वर्तमान में भी भरे हुए हैं, ऐसी श्रद्धापूर्वक उसे यदि योग-विधि से घिसा जाये तो उसमें से अग्नि प्रगट होती है, इसी प्रकार आत्मा में तीन लोक को प्रकाशित करने वाली केवलज्ञान ज्योतिरूप शक्ति भरी हुई है।

चौंसठ पुटी लेंडी पीपल में जो रसायन शक्ति प्रगट होती है वह उसी में थी, बाहर के घिसने वाले पत्थर में से नहीं आती है, इसी तरह आत्मा में केवलज्ञान शक्ति मौजूद है, कहीं बाहर देव गुरु शास्त्र में से नहीं आती है, यही स्वतन्त्रता की परख है।

लोग कुल-देवतादि को सर्व समर्थ, रक्षक मानते हैं, किन्तु यह तो विचार कर कि तुझ में कुछ दम है या नहीं ? तू नित्य है या अनित्य ? स्वाधीनता के लक्ष से अन्दर तो देख !

यदि आत्मा में पूर्ण शांति, और अपार ज्ञान-सुख न हो तो अशांति और पराश्रयता का दुःख ही बना रहे। यदि स्वभाव में सुख न हो तो चाहे जितना पुरुषार्थ करने पर भी वह प्रगट नहीं हो सकता, किन्तु ऐसा नहीं है।

व्यवहार का उपदेश तो अज्ञानी जीवों को परमार्थ समझाने के लिये किया है, किन्तु ग्रहण करने योग्य तो मात्र निश्चय ही है।

व्यवहार का उपदेश देने वाले अनेक स्थल हैं, किन्तु जिससे जन्म-मरण दूर हो जाये,

ऐसे सनातन सत्य मार्ग का उपदेश ही अत्यन्त दुर्लभ है।

असत्य को मानने वालों की संख्या इस जगत में अधिक ही रहेगी, किन्तु इससे सत्य कहीं ढँक नहीं जाता।

वर्तमान में अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव मिला है, तथापि प्राप्त अवसर के मूल्य को न जानकर पुनः स्वर्ग की या मनुष्यभव की अर्थात् पुण्य के संयोग की इच्छा करता है। कोई देवपद का इच्छुक है तो कोई राजपद का आकांक्षी है, कोई मानार्थी है तो कोई रागार्थी है; और इस तरह अपने जीवन को खो रहा है।

जब तक यह नहीं जान लेता कि स्वयं कौन है, तब तक देव गुरु शास्त्र को भली भाँति नहीं जाना जा सकता। वीतरागी देव गुरु आत्मा ही है, और जो आत्मा की स्वतन्त्र वीतरागता को बतलाते हैं वही सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्र हैं।

जो ऐसी शंका करता है कि अरे, मेरा क्या होगा ? उसे भगवानस्वरूप अपनी आत्मा की श्रद्धा नहीं है। जिसे पुरुषार्थ में सन्देह होता है, तथा भव की शंका रहती है उसे अपने स्वभाव की ही शंका रहती है, उसने वीतराग स्वभाव की शरण ही नहीं ली है।

जो सच्चा निराकुल सुख वीतराग स्वभाव की शरण में मिलता है वह सुख सम्राट की शरण में भी नहीं मिलता।

हे जगत के जीवो ! अनादिकालीन संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो।

जैसे कोई डुबकी लगाने वाला साहसी पुरुष कुएँ में डुबकी मारकर नीचे से घड़ा निकाल कर ले आता है, उसी प्रकार ज्ञान से भरे हुये चैतन्यरूपी कुएँ में पुरुषार्थ करके गहरी डुबकी लगा और ज्ञानघट को ले आ, तत्वों के प्रति विस्मयता ला, और दुनियां की चिन्ता छोड़ दे। दुनियां तुझे एक बार पागल कहेगी, किन्तु दुनियां की ऐसी अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं के आने पर भी तू उन्हें सहन करके, उनकी उपेक्षा करके, चैतन्य भगवान कैसे हैं,—उन्हें देखने का एक बार कौतूहल तो कर ! यदि तू दुनियाँ की अनुकूलता या प्रतिकूलता में लग जायगा तो तू अपने चैतन्य भगवान को नहीं देख सकेगा। इसलिये दुनियाँ के लक्ष को छोड़कर और उनसे अलग होकर एक बार कष्ट सहकर भी तत्व का (आत्मतत्व का) कौतूहली हो। कौतूहली यानी आनन्द लेने वाला हो।

यदि तीन काल और तीन लोक की प्रतिकूलताओं का समूह एक ही साथ सम्मुख आ उपस्थित

हो तो भी मात्र ज्ञातारूप रहकर उन सबको सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञानस्वभाव में विद्यमान है, क्योंकि आत्मा का अपना तो कुछ है ही नहीं, बने और बिगड़ेगा क्या ? इसके लिये एक पार्श्वनाथ भगवान का दृष्टाँत ही पर्याप्त है ।

नरक में रहने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव को वहाँ की वेदना का अनुभव नहीं होता, यह आत्म-पुरुषार्थ, आत्म-बल ही तो है ।

नरक की वेदनाओं में भी जीव आत्मानुभव कर लेता है । तू मनुष्यभव पाकर भी व्यर्थ का रोना क्यों रोया करता है ? यहाँ तो नरक के बराबर वेदना नहीं है, अत: सत्समागम का लाभ ले ।

भगवान को तारण तरण कहा जाता है, किन्तु जीव तरता तो अपने ही भाव से है, भगवान को तो मात्र बहुमान देने का ही प्रयोजन है कि हे भगवान ! आपने हमें तार दिया है । तरता तो स्वयं ही है ।

व्यवहार व्यवहार से सच है, परमार्थ से असमर्थ है । इस स्याद्वाद नय को भलीभांति समझना चाहिये ।

जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार देह के गुणों का स्तवन करने पर केवली भगवान का स्तवन नहीं होता । केवलीपना तो आत्मा में होता है, देह में नहीं ।

जीवों ने अनादिकाल से यह नहीं जान पाया कि—तत्व क्या है, पुण्य-पाप क्या है, धर्म क्या है, वस्तुस्वभाव क्या है । और न कभी इसकी जिज्ञासा ही की है; किन्तु दूसरे का ऐसा कर दूँ, वैसा करदूँ, इस प्रकार पर में विपरीत श्रद्धा जमी हुई है, ज्ञान में विपरीतता को पकड़ रखा है और उल्टा सीधा समझ रखा है । किन्तु यदि स्वभाव में कुलांट मारे तो विपरीत श्रद्धा नाश होकर सच्ची श्रद्धा प्रगट हो जाये ।

अज्ञानी मानता है कि भगवान मुझे संसार से पार उतार देंगे, इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने को बिलकुल निर्माल्य मानता है, दीन-हीन मानता है । और इस प्रकार पराधीन होकर भगवान की प्रतिमा अथवा साक्षात् भगवान के समक्ष खड़ा होकर दीनतापूर्वक भगवान से कहता है कि मुझे मुक्त कर दो ।

"दीन भयो प्रभु पद जपै मुक्ति कहाँ से होय ?" फिर भी दीन-हीन और निर्माल्य होकर कहता है कि हे प्रभु ! मुझे मुक्ति दीजिये । किन्तु भगवान के पास तेरी मुक्ति कहां है ? तेरी मुक्ति तो तुझमें ही है । भगवान तुझसे कहते हैं कि—प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, मैं भी स्वतन्त्र हूँ और तू भी स्वतन्त्र है, तेरी मुक्ति तुझमें ही है ।

आत्मा अपने पद की (स्वभाव की) ओर उन्मुख न हो और मात्र पर—प्रभु पद को भजता रहे तो कौन मुक्ति दे देगा ? यह निश्चय जान कि तेरी मुक्ति तुझ ही में है।

आत्मा को पहिचाने बिना अनन्तबार शुभ भाव किये तथापि भव का अन्त नहीं आया। भव का अन्त होना ही संसार से छूटना है।

स्तुति का अर्थ है कि जिसकी स्तुति करना है उसी जैसा अंश अपने में स्वयं प्रगट करना।

भूल को स्वीकार कर लेने मात्र से भूल दूर नहीं हो जाती और भूल के दूर हुए बिना धर्म नहीं होता।

वस्तुस्वभाव को (आत्मा के स्वभाव को) जाने बिना कहां टिका जाये ? और टिके बिना (स्थिर हुये बिना) चारित्र नहीं होता, तथा चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता, इसलिये मोक्ष के लिये चारित्र चाहिये और चारित्र को यथार्थ ज्ञान चाहिये !

मन, वचन, काय का जो योग है उस योग को कम करना अर्थात् विकल्पों को कम कर देना और आत्मस्वरूप में एकाग्र होना सो भगवान की सच्ची स्तुति है।

भगवान की स्तुति अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध रखती है, पर भगवान के साथ सम्बन्ध नहीं रखती। सन्मुख विद्यमान (साक्षात् विराजमान) भगवान की ओर जो परान्मुख भाव है सो शुभ भाव है, उससे पुण्य बंध होता है, धर्म नहीं।

स्त्री पुत्रादि की ओर जाने वाला भाव अशुभ भाव है। उस अशुभ भाव को दूर करने के लिये भगवान की ओर शुभ भाव से युक्त होता है। किन्तु आत्मा क्या है और धर्म सम्बन्ध मेरे आत्मा के साथ है, यह न जाने, न माने तो उसे भगवान की सच्ची स्तुति या भक्ति नहीं हो सकती। जो इस पचरंगी दुनियां में अच्छा शरीर, अच्छे खान-पान और अच्छे रहन-सहन में रचा पचा रहता है उसे यह धर्म कहां से समझ में आ सकता है ?

सम्यक्दर्शन के बिना सच्चे व्रत नहीं होते और सच्चा त्याग नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थान की खबर न हो और सातवें की बात करे तो व्यर्थ है।

लोग त्याग ही त्याग की बात कहते हैं किन्तु त्याग तो अन्तरंग से होता है, केवल बातों से नहीं।

यदि अनन्त अव्याबाध सुख प्रगट करना हो तो वर्तमान अवस्था के भेद की दृष्टि का त्याग कर और अविकारी स्वभाव की ओर भार दे। अनन्तकाल में भी स्वभाव के बल से एक क्षण भर को भी स्थिर नहीं हुआ है। तेरी स्वतन्त्र दृष्टि से ही अनन्त केवलज्ञान लक्ष्मी उछल उठेगी। जब

लक्ष्मी तिलक करने आ रही है तब मुँह धोने मत जा। पुनः ऐसा सुयोग अनन्तकाल में भी मिलना कठिन है। समुद्र में डूबी हुई राई के समान पुनः मिलने जैसी इस मनुष्य पर्याय को मिली हुई जानकर इसे सार्थक कर। विषय कषायों में नष्ट न कर। अधिक क्या कहूं ?

भगवान ने कहा है कि पर्यायदृष्टि का फल संसार और द्रव्यदृष्टि का फल वीतरागता और फिर मोक्ष है।

यदि कोई कहे कि मैं पुरुषार्थ तो बहुत करता हूँ किन्तु पूर्व कर्म के उदय का बहुत बल है सो इच्छित फल नहीं मिल पाता, तो यह बात मिथ्या है, क्योंकि कारण की बहुलता हो और कार्य (उसका फल) कम हो ऐसा नहीं हो सकता। अपने पुरुषार्थ की कमी को नहीं देखकर पर निमित्त के बल को देखता है, यही सबसे बड़ा गड़बड़-घोटाला है।

निमित्तदृष्टि संसार है, और स्वतंत्र उपादान-स्वभाव दृष्टि मोक्ष है।

बिना समझे जीव ने अनन्त बार अनेक शास्त्र पढ़े, पंडित हुआ, वीतराग देव के कहे गये सनातन जैन धर्म का नग्न दिगम्बर साधु हुआ, नवतत्त्वों का मन में यथार्थ निर्णय किया, किन्तु निमित्त पर लक्ष बना रहा कि मन का आलम्बन आवश्यक है, शुभराग से धीरे-धीरे ऊपर जा सकेंगे, और इस प्रकार पर से, विकार से गुण का होना माना; किन्तु निरपेक्ष, निरावलम्बी, अक्रिय, एकरूप आत्मस्वभाव की श्रद्धा नहीं की।

सम्यक्दर्शन किसी सम्प्रदायविशेष की वस्तु नहीं है। आत्मस्वभाव को सम्पूर्णतया लक्ष में लिये बिना धर्म नहीं होता।

जीव अनन्त बार साक्षात् प्रभु-भगवान के पास हो आया और धर्म के नाम पर अनेक शास्त्र रट डाले, किन्तु यथार्थ आत्म-निर्णय नहीं किया, इसलिये भवदुःख-भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

यद्यपि जीव चित्तशुद्धि के आंगन में अनन्त बार आया है, किन्तु उसे लांघकर एकरूप स्वभाव का लक्ष कभी नहीं किया। इसलिये निर्विकल्प स्वभाव को पहिचान कर, वस्तु की महिमा को जानकर पूर्ण की ओर की रुचि करना चाहिए। जब यथार्थ स्व-लक्ष के बल से निर्विकल्प शांति की अनुभव रूप अन्तरंग एकाग्रता होती है तब सम्यग्दर्शन की निर्मल अवस्था प्रगट होती है और भ्रांति का नाश होता है। जैसे रोग के मिट जाने पर कुछ अशक्ति रह जाती है जिसकी स्थिति अधिक लम्बी नहीं होती, वह पथ्यसेवन से दूर हो जाती है; इसी प्रकार स्वभाव में विरोध रूप मान्यता का नाश होने पर (नाश कर देने पर) उसके बाद वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति अधिक समय तक नहीं रहती। विकार के नाशक स्वभाव की प्रतीति के बल से अल्पकाल में पूर्ण निरोग परमात्मदशा

प्रगट होती है। शरीर में तो उदयानुसार होता है, किंतु स्वतन्त्र स्वभाव में अपना कार्य बराबर होता ही है।

स्वभाव की श्रद्धा के बिना जितना तर्क होता है सो सर्व विपरीत ही है।

तत्व की बात समझने योग्य है। जो समझना चाहे वह समझे, और जिसे रुचे वह माने। सत् किसी व्यक्ति के लिये नहीं है। सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत् सत् पर अवलंबित है। सत् को किसी की चिन्ता नहीं होती। त्रिकाल में किसी ने किसी का न तो कुछ सुना है और न कोई किसी को कुछ सुनाता है, सभी अपने भाव में अपनी रुचि के गीत गाते हैं। रुचि का खुला निमन्त्रण है, जिसे जो अनुकूल पड़ा सो मानता है।

मिठाई की दुकान पर अफीम की गोलियाँ नहीं बिकतीं, इसी तरह तत्त्वज्ञान में इधर-उधर की व्यावहारिक बातों से काम नहीं चलता। तत्त्वज्ञानी का काम तो तत्वज्ञान से ही चलता है।

जिसने अमूल्य अवसर पाकर अपूर्व सम्यक्दर्शन का निर्णय आत्मा में नहीं किया उसने कुछ नहीं किया। जीवन व्यथ खो दिया।

तीन लोक में और तीन काल में कोई किसी का हित अथवा अहित नहीं कर सकता। सब अपनी अपनी अनुकूलता को लेकर अच्छे बुरे भाव ही कर सकते हैं। वीतराग के मार्ग में प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता की स्पष्ट घोषणा है।

दूसरा सब कुछ भूलकर एक बार स्वभाव के समीपस्थ हो। यदि तू संसार के भ्रमण से थककर हमारे पास आया है तब दूसरा सब कुछ भूलकर हमारे अनुभव को समझले; और स्वतंत्र स्वभाव को स्वीकार कर।

संसार में माता बालक को विश्राम लेने के लिये सुलाती है, किन्तु आचार्य तुझे विश्राम प्राप्त कराने के लिये मुक्ति की बात कहकर अनादि कालीन निद्रा से जगाते हैं।

हे भाई ! तृष्णादि के पाप भावों को कम करके पुण्य भाव करने से कोई नहीं रोकता, किन्तु यदि उस पुण्य में ही संतोष मानकर और विकार को धर्म का साधन मानकर बैठा रहे तो कदापि मुक्ति नहीं होगी। यहाँ धर्म में और पुण्य में उदय-अस्त जैसा अन्तर है, यही समझाया जा रहा है।

संयोगाधीन दृष्टि वाला धर्म के लिये साक्षात् तीर्थंकर भगवान के निकट जाकर भी अपनी विपरीत मान्यता को चिपकाये हुये, यों ही वापिस आ जाता है।

जिसने चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ प्रतीति पूर्वक निरावलंबी पूर्ण स्वभाव को जाना है, उसने सर्व शास्त्रों के रहस्य को जान लिया है।

"दीन भयो प्रभु पद जपै, मुक्ति कहाँ से होय ?"

पराश्रय रहित स्वाधीन आत्मस्वरूप की अनुभूति ही समस्त जिनशासन की अनुभूति है।

मैं शुद्ध हूँ, असंग हूँ, अजर-अमर, अविनाशी हूँ; ऐसी श्रद्धा के बल से निर्मलता प्रगट होती है।

पराश्रित बाह्योन्मुखरूप राग को गुणकर माने तो वह व्यवहार नयाभास (मिथ्यात्व) है।

मैं पर से भिन्न निरावलम्बी वीतरागी स्वभाव रूप हूँ; पुण्य-पाप रहित श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता ही मार्ग है।

जिनशासन में 'जिन' शब्द का अर्थ जीतना है; और उसमें राग-द्वेष एवं अज्ञान को जीत-कर (नष्ट करके) पराश्रय रहित ज्ञानस्वभाव स्वतंत्र है। इस प्रकार जानना और श्रद्धा करना सो यही राग-द्वेष-मोह और पंचेन्द्रिय के विषयों की वृत्ति को जीतना है।

क्रियाकांड की बाह्य वृत्ति से आंतरिक स्वभाव की प्रतीति नहीं होती। उसमें अंतरवृत्ति हो तो ही आंतरिक स्वभाव की प्रतीति होता है। और वही कल्याणकारी है।

ज्ञानी की दृष्टि में राग का त्याग है—

किसी भी प्रकार की शुभाशुभ राग की प्रवृत्ति होना व्यवहारनय नहीं है। कोई भी विकारी भाव गुणकारी नहीं है, किन्तु वह विरोधी भाव है, और जितनी हद तक स्व-लक्ष में टिका रहे उतना निर्मल भाव है; इसे जानना सो इसका नाम व्यवहारनय है।

लोगों को यथार्थ धर्म का स्वरूप समझ में न आये इसलिये क्या कहीं अधर्म को धर्म माना या मनवाया जा सकता है ? 'इस समय समझ में नहीं आ सकता' इस निषेधात्मक शल्य को दूर कर देना चाहिए।

जिसे परमार्थ जिनदर्शन की खबर नहीं है उसे व्यवहार की भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती, इसलिये उसके द्वारा माने गये या किये गये व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि यथार्थ नहीं होते।

पाप से बचने के लिये शुभभाव करे तो पुण्यबंध होता है, इसका कौन निषेध करता है ? किन्तु यदि उस पुण्य की श्रद्धा करे, उसे आत्मा का स्वरूप माने और यह माने कि उसके अव-लम्बन के बिना पुरुषार्थ उदित नहीं होता—गुण प्रगट नहीं होता तो वह महामिथ्यादृष्टि है, वह स्वाधीन सत् स्वभाव की प्रतिसमय हत्या करने वाला है। यदि यह कठिन प्रतीत हो तो सत्यासत्य का निर्णय करे, किन्तु असत् से तो कभी भी सत् की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यक्‌दर्शन होने से पूर्व भी अशुभभावों को छोड़ने के लिये दया इत्यादि के शुभभाव करता

अवश्य है, करना ही चाहिये, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे सम्यकदर्शन होता है या गुण-लाभ होता है। अनादिकाल से शुभाशुभ भाव करता चला आ रहा है, फिर भी अभी संसार में क्यों भ्रमण कर रहा है ? लोगों को अनादिकाल से पुण्यभाव अनुकूल प्रतीत हो रहे हैं इसलिये उन्हें छोड़ने की बात नहीं रुचती। जिसे स्वभाव के अपूर्व पवित्र गुण प्रगट करना हैं उसमें शुभभाव जितनी लौकिक नीति की पात्रता तो होती ही है, सच्चे व्यवहार का ज्ञान तो होता ही है। उसके बिना सम्यक्दर्शन के आंगन में आने की तैयारी नहीं हो सकती। यहां यह नहीं कहते हैं कि—शुभभाव से गुण प्रगट होते हैं, क्योंकि धर्म के नाम पर उत्कृष्ट शुभभाव भी जीव ने अनंत बार किये हैं, किन्तु प्रतीति के बिना किंचित् मात्र भी गुण प्रगट नहीं हुए। यहां ऐसा वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है कि—जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है। और जो कुछ कहा जा रहा है उसे स्वयं अपने आप निश्चित कर सकता है, और अभी भी वह हो सकता है।

पुण्य का निषेध करने का यह अर्थ नहीं है कि पाप किया जावे या पाप भावों का सेवन किया जाये। जिसे धर्म की रुचि है वह पाप की प्रवृत्ति छोड़कर दया दान इत्यादि शुभभाव किये बिना रहता ही नहीं।

देह की अनुकूलता के लिये या स्त्री पुत्र धन प्रतिष्ठा के लिये जितनी प्रवृत्ति करता है वह सारी सांसारिक प्रवृत्ति अशुभ राग है-पाप है।

जिनशासन में, किसी शास्त्र में क्रिया की बात (निमित्त का ज्ञान कराने के लिये) आती है, वहां उपचार से वह कथन समझना चाहिए। यदि परमार्थ से वैसा ही हो तो परमार्थ मिथ्या हो जाय। आत्मा गुणरूप है; और जो गुण हैं सो दोषों के द्वारा, शुभाशुभ राग के द्वारा प्रगट नहीं होते। यदि व्रतादि के शुभभावों से गुण प्रगट हों तो अभव्य जीव मिथ्यादृष्टि भी उस व्यवहार के द्वारा शुभ भाव करके नवमें ग्रैवेयक तक अनन्तवार हो आया है, किन्तु उसे कभी गुण-लाभ अर्थात् आत्मा का जो सम्यक्दर्शन है गुण उसका लाभ नहीं हुआ; इसलिये सिद्ध हुआ कि शुभ राग या मन, वचन, काय की क्रिया से जिनशासन (आत्मस्वरूप) की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी यदि कोई उसे माने तो वह अपनी मान्यता (मिथ्यामान्यता) के लिये स्वतंत्र है।

परलक्ष के बिना कभी भी राग नहीं होता, इसलिये शास्त्र में अशुद्ध अवस्था के व्यवहार का और शुभ राग में अवलम्बन क्या होता है, इसका ज्ञान कराने के लिये असद्भूत व्यवहार की बात कही है। यदि अज्ञानी उसमें धर्म मान ले तो राग और पर की प्रवृत्ति ही धर्म हो जाये। जीव अनादिकाल से पर पदार्थ पर तथा रागादि करने पर भार देता आ रहा है, इसलिये यदि कोई वैसी बात करता है तो वह उसे झट अनुकूल पड़ जाती है। ज्ञानियों ने पराश्रय में धर्म स्थापित

नहीं किया, नहीं माना, किंतु निमित्त और अवस्था इत्यादि का ज्ञान कराने के लिये संक्षिप्त भाषा में उपचार से कथन किया है; सच्चा परमार्थ तो अलग ही है।

पुण्यभाव चाहे जैसा ऊँचा हो तथापि वह बन्धन भाव ही है। आत्मस्वभाव अबन्ध है। स्वभाव में पुण्य-पाप के बंधन भाव नहीं हैं। सच्चे देव गुरु शास्त्रों ने पुण्य-पाप के किसी भी राग भाव से रहित मोक्षमार्ग कहा है, और आत्मा को कर्मबन्ध से पृथक् एवं पराश्रय रहित बताया है। यदि पराश्रय के कथन को ही परमार्थ जानकर पकड़ ले, अर्थात् जो अभूतार्थ व्यवहार त्यागने योग्य है उसी को आदरणीय मानले और व्यवहार के कथनानुसार ही अर्थ मानले तो स्पष्ट है कि उसने व्यवहार से भी जिनशासन को नहीं जाना, किन्तु पर निमित्त के भेद से रहित अबद्ध आदि पाँच भावरूप शुद्ध आत्मा को यथार्थ स्वाश्रित प्रतीति के द्वारा जिसने जाना है उसी ने जिनशासन को जाना है, और उसी ने सर्व आगमों के रहस्य को जान लिया है। रहस्यज्ञाता ही सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है।

उपसंहार

जैनागम ने, जैनाचार्यों ने और जैनशासन के प्राचीन एवं वर्तमान तत्वज्ञों ने वस्तुस्वरूप का जो विवेचन किया है, उसका कुछ सार यहाँ दिया गया है परमपूज्य श्री तारणस्वामी के वस्तुविवेचन से इसका खूब मेल बैठता है, इसीलिये यह विचार इस 'तारण-वाणी' ग्रन्थ में साभार सम्मिलित किये हैं। अब, पाठकों से हमारा अनुरोध है कि इस महत्वपूर्ण, रहस्यमयी चर्चा को पढ़ें, गुनें और समझें, तथा इसमें जो आत्मकल्याणकारी सच्चा मार्ग दर्शाया है उसे ग्रहण करें। जब तक निश्चय और व्यवहार के रहस्य का भली भांति ज्ञान नहीं होगा तब तक आत्म-कल्याण की ओर प्रथम चरण भी नहीं रखा जा सकेगा। इसलिये बुद्धि और विवेक को जागृत करके सावधानी पूर्वक इस तत्त्व-रहस्य को समझ कर सत्यार्थ का अनुसरण करो, यही आत्मकल्याणकर्ता श्री तारण-स्वामी का सदुपदेश है।

—ब्र० गुलाबचन्द।

